पूजातत्व



पण्डित गोपीनाथ कविराज

पूजातत्त्व

महामहोपाध्याय

श्रीगोपीनाथ कविराज एम.ए., डी. लिट.

द्वारा प्रकाशित

प्राप्ति-स्थान
श्री ओंकार नाथ मुट्टू
५२/४६, लक्ष्मीकुन्ड
वाराणसी

Shri Shashi Bhushan Das-gupta,
35B, Charu Avenue,
Calcutta—33.

मूल्य ४)

मुद्रक : सरला प्रेस,
वाराणसी।

समर्पण !

जिनके आन्तरिक आग्रह और उत्साह से पूजा की पुस्तक पहले संकलित हुई थी, जो समवेत पूजा में श्लोक पाठकर और सुनकर विशेष आनन्द अनुभव करती थीं—जो हमारी मित्रमंडली में "माजी" नाम से सुपरिचित थीं--उन स्वर्गीया माजी की पुण्यस्मृति में यह ग्रन्थ समर्पित किया जाता है।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठांक
२३. भगवान्	28
२४. ऋषि-छन्द-देवता-विनियोग	29
२५. यंत्र-तंत्र-मंत्र रहस्य	31
२६. अधिकारी विचार	40
२७. गुरुवाद और दीक्षा	43
२८. षटचक्रभेद	44
२९. ग्रन्थिभेद	56
३०. कुण्डलिनी	59
३१. इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना नाड़ी	66
३२. मूर्तितत्त्व	70
३३. व्यष्टि-समष्टि तत्त्व	72
३४. सत्यप्रतिष्ठा-प्राणप्रतिष्ठा-आनन्दप्रतिष्ठा	73
३५. पूजा के अंगविभाग	77
३६. धारणा-ध्यान-समाधि	82
३७. जप	98
३८. यज्ञ	114
३९. हवन	115
४०. विसर्जन	118
४१. प्रसाद-वितरण	119
४२. सब कामों में पूजा	 122–144

प्रकाशक का निवेदन

'पूजा' शब्द से आजकल साधारणतः भिन्न भिन्न प्रतिमाओं को फल, फूल, जल, बेलपत्ती, चन्दन, धूप, दीप, अर्घ्यादि अर्पण करना समझा जाता है। इसके साथ अनेकों त्योहार, आचार-पद्धति और उत्सव-अनुष्ठान भी आकर मिल गये हैं। पूजा के बाहर के अंग की तरफ़ अब हमारी दृष्टि इतनी आकृष्ट हो गई है कि हम पूजा की प्राण-वस्तु अर्थात् उसकी प्रकृत अध्यात्म-साधना प्रायः खो बैठे हैं और पूजा के स्थलों को बाह्य आडम्बर एवं तामसिक उत्सव-अनुष्ठान में पर्यवसित कर दिया है। किन्तु वस्तुतः भारतवर्ष में वैदिक युग से लेकर वर्तमान काल तक पूजा एक जीवन्त अध्यात्म-साधना रही है। इस अध्यात्म-साधना की धारा अनेक समय फल्गु-स्रोत के समान अदृष्ट होने पर भी आज तक अविच्छिन्न भाव से चली आ रही है और हमारा विश्वास है कि इसी के द्वारा ही भारत का समग्र जातीय जीवन विधृत रहा है। आजकल के तामसिक भावावरण ने जो हमारी सत्य-दृष्टि को ढक लिया है इसको दूर करके अपने आपको साधन-जीवन में प्रतिष्ठित करने की इस समय विशेष आवश्यकता है। इस शुभ संकल्प से उद्बुद्ध होकर पूज्य श्रीस्वामीजी ने (जो अपना नाम प्रचार नहीं करना चाहते हैं, इसी से उनका नाम अप्रकाशित रखा गया है) अपने बन्धुओं में एक विशेष प्रणाली द्वारा पूजा का प्रचलन किया है। इस उद्देश्य से उन्होंने वैदिक काल से लेकर विभिन्न समयों की अध्यात्म-साधना के अनुकूल अनेक श्लोक संग्रह किये हैं और अपने भाव को प्रकट करने के लिए कुछ श्लोकों की रचना भी की है। मुख्यतः इन श्लोकों की आवृत्ति ही पूजा है। इसके साथ पूजा के विभिन्न स्तरों तथा भावों के अनुकूल कुछ संगीत भी संयोजित किये गये हैं। (संगीत बंगला भाषा में होने के कारण इस पुस्तक में नहीं दिये गये हैं)।

श्रीस्वामीजी की रचित और प्रचारित इस पूजा में कुछ बातें विशेष-रूप से लक्ष्य करने योग्य हैं। प्रथमतः श्रीस्वामीजी की धारणा है कि

यह पूजा-प्रणाली कोई नई वस्तु नहीं है। यह प्राचीन भारत की सत्यपूर्ण अध्यात्म-साधना की धारा को अनुसरण करके रची गई है; केवल प्राचीन धारा को यथासम्भव वर्तमान समय के उपयोगी बना दिया गया है। द्वितीयत: वे बाह्य पूजा के विरोधी नहीं हैं तो भी वे मानसिक पूजा को प्रकृत साधना मानते हैं और प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करते हैं। बाह्य पूजा सर्वदा मानसिक पूजा के सहायक एवं परिपोषकरूप में ग्रहण करने योग्य है।

इस पूजा में सर्वापेक्षा लक्षणीय वस्तु है इसका क्रम। जो श्लोक यहाँ एकत्रित किये गये हैं ये इतस्तत: विक्षिप्त अच्छे अच्छे श्लोकों का संग्रहमात्र नहीं है। इनके क्रम में एक अखंड साधना-रहस्य अन्तर्निहित है। साधना के भीतर एक स्तर से दूसरे स्तर में तथा एक तत्त्व से दूसरे तत्त्व में अग्रसर होने का एक विशेष क्रम है। यह क्रम श्रीस्वामीजी ने अपनी साधना द्वारा अनुभूति से लाभ किया है। इसलिए श्रीस्वामीजी के पूजा-रहस्य में प्रवेश करने के लिए इस क्रम को हृदयंगम करना होगा अर्थात् पूजा के एक अंग के बाद दूसरा अंग और एक तत्त्व के बाद दूसरा तत्त्व क्यों और कैसे आता है। जो इस पूजा को जीवनगत (सार्थक) बनाना चाहते हैं उनको इन पूजा-श्लोकों के भावार्थ के अन्तर्निहित इस क्रम को विशेषरूप से लक्ष्य करने की चेष्टा करनी होगी। पूजा में जो विभिन्न तत्त्व हैं—जैसे गुरु-इष्ट-भगवान तत्त्व, शक्तितत्त्व, पुरुषोत्तमतत्त्व, न्यास-तत्त्व, उपचार-समर्पण तत्त्व, प्रणामतत्त्व, विसर्जनतत्त्व, इत्यादि—उनके रहस्यों को अच्छी तरह समझे बिना पूजा का प्रकृत रहस्य समझ में नहीं आयेगा। उदाहरणार्थ प्रचलित विश्वासानुसार ब्रह्म, शिव, शक्ति, कृष्ण, प्रभृति अलग अलग परस्पर विरोधी तत्त्व माने जाते हैं किन्तु प्रकृत तत्त्व समझ में आजाने पर मालूम होगा कि विरोध तो कहीं है ही नहीं वरन् सब एक ही परम तत्त्व के विभिन्न प्रकाश हैं। यह तत्त्व-दृष्टि लाभ होने पर ही समझ में आयेगा कि शक्तितत्त्व के बाद पुरुषोत्तम तत्त्व क्यों आता है। श्लोकों की अन्वय-व्याख्या के बीच बीच में ये सब तत्त्व और इनका आपस में अभिन्न मेल समझाने की चेष्टा की गई है।

साधन रहस्य का पूरा विवेचन पूजा-श्लोकों की अन्वयमूलक व्याख्या तथा सम्बंधित आलोचना में लिखना सम्भवपर नहीं हुआ। इसलिए एक दीर्घ परिशिष्ट पीछे दिया गया है जिसमें ध्यान, जप, षट्चक्रभेद, कुल-कुंडलिनी-जागरण एवं साधना के अन्यान्य गूढ़ रहस्यों को यथासम्भव समझाने की चेष्टा की गई है। साधना के रहस्यों को पूर्णरूप से लिखना या समझाना कभी भी सम्भवपर नहीं तोभी प्रकृत साधक (सत्य के खोजी) की सुविधा के लिए जहाँ तक होसका आभासरूप से इन रहस्यों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है। इस विवेचन में किसी पांडित्यमूलक आलोचना अथवा कूटतर्क में प्रवेश नहीं किया गया है, केवल सर्वसाधारण के लिए ग्रहणयोग्य और यथासम्भव सहज और सरल करने का प्रयत्न किया गया है।

अन्वयमूलक व्याख्या के बीच बीच में जो संक्षिप्त आलोचना है और परिशिष्ट में जो विभिन्न तत्त्वों का विवरण है इनमें मेरे लेख और स्वामी जो के लेख मिलेजुले हैं। इन विषयों में मेरा उनसे एक मत होने के कारण ही ऐसा किया गया है। फिर भी कहीं कहीं पर केवल मेरे लेख उद्धरण चिह्न ("––") के भीतर दिये गये हैं।

जिनके लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है उनको यदि इससे अध्यात्म-जीवन की प्रेरणा और पथ-संधान लाभ हो तो हमारा उद्देश्य सफल होगा।

भक्त-बन्धुओं के विशेष अनुरोध ने (माताजी की आत्मा की तृप्ति के लिए) पं० ओंकार नाथ मुट्टू को इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करने को बाध्य किया। इस काम में व्यय का कुल भार उन्होंने लिया है। इसलिए इस पुस्तक की बिक्री से जो अर्थ-प्राप्ति होगी उसके अधिकारी वे ही होंगे। इस पुस्तक का सर्वस्वत्व उन्हीं का होगा।

२ए, सिगरा, वाराणसी।

रासपूर्णिमा, सं० २०१४ **श्रीगोपीनाथ कविराज**

मुखबंध

भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों ने ध्यानयोग में पूर्णरूप से समाहित होकर भगवान की आत्म-शक्ति साक्षात्कार की—"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैः निगूढ़ाम्"। तब शक्ति के स्वरूप और कार्यप्रणाली-निर्णय की चेष्टा आरम्भ हुई। इसके बाद उन्होंने आविष्कार किया कि शक्ति ही जीव-जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय का मूल है। यही शक्ति सबके भीतर छिपी हुई सबको चलाती है और सबके लिए जो कुछ प्रयोजनीय है उसकी व्यवस्था करती है—"याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः"। तब मालूम हुआ कि शक्ति के बिना हमारी आँखें देख नहीं सकतीं, कान सुन नहीं सकते, मन चिन्ता नहीं कर सकता, हाथ काम नहीं कर सकते, पाँव चल नहीं सकते और प्राण जीवित नहीं रह सकता। शक्ति के अभाव से हमारे माँ-बाप, भाई-बहिन, बन्धु-बान्धवों का तथा हमारा भी अस्तित्व लोप हो जाता है। फिर अनुभव में आया कि ये शक्ति सच्चिदानन्दमयी हैं और वे हमको जीवित रखने में, पूर्ण परिणति दान करने में तथा हमको ज्ञान, आनन्द, सुख, शान्ति, सौन्दर्य और माधुर्य से पूर्ण विभूषित करने में सदा व्यस्त हैं। वे हमको पूर्ण परिणति दान करना चाहती हैं और हमारी भगवत्-प्राप्ति में सहायक होना चाहती हैं परन्तु हम संस्कारवशतः और अज्ञानता के प्रभाव से उनके काम में बाधा देकर अपने लिए समस्त दुःख-कष्ट की उत्पत्ति करते हैं। इसके बाद अनुभव में आया कि हम मानो अनादि अज्ञान के प्रभाव से अपने आनन्दमय स्वरूप को भूलकर एक अप्राकृत आनन्द देश से इस दुःखमय संसार में आ पड़े हैं। तब से माँ हमारे स्वरूप को जगाकर हमको अपने

आनन्द-धाम में वापस ले जाने के लिए व्यस्त हो गई हैं। माँ क्या कभी संतान का दुःख-कष्ट सहन कर सकती है। तो भी प्रेमानुरक्त माँ हमारे ऊपर वज्र व्यवहार नहीं करना चाहतीं, हमसे ज़बरदस्ती कोई काम नहीं कराना चाहतीं। इसीलिए हमारे चारों ओर आनन्द की लीला फैलाई हुई है। उनकी समस्त प्रकृति आनन्द का वेष धारणकर हमारा मन हरण करने में व्यस्त है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध हमको प्रलुब्ध कर माँ के देश में ले जाने की चेष्टा कर रहे हैं। हमारा प्रकृत स्वरूप आनन्दमय है। हम सच्चिदानन्दमय की संतान हैं। चारों तरफ़ की आनन्द-विभूति हमारे भीतर की भूली हुई आनन्द-स्मृति को जगाने की चेष्टा कर रही है। यथाक्रम तब हम आनन्द के लिए लुब्ध हो पड़े और चारों तरफ़ आनन्द की खोज शुरू हो गई। अभ्यास के दोष से हमारी पाचन-शक्ति लोप हो गई है। अर्थात् हमारी आनन्द ग्रहण करने की शक्ति जाती रही है। इसीसे माँ अपने परम आनन्द स्वरूप को छिपाकर हमारे ग्रहणयोग्य माँ-बाप, भाई-बहिन, पति-पत्नी आदि का रूप धारणकर हमारे सामने उपस्थित हुई हैं और हमारे चारों तरफ़ सौन्दर्य माधुर्य्य विस्तृत किये हुए हैं। सभी विषयों में शिक्षक-गुरु की आवश्यकता होती है। इस हेतु माँ महात्माओं का रूप धारणकर हमारी ग्रहणयोग्यता बढ़ाने की चेष्टा करती हैं। ज्यादा खाकर अस्वस्थ न हो जाएँ इस कारण भगवद्-विधान आविष्कृत हुआ और अनुभव में आया कि माँ एकाधार में विधान भी हैं और विधाता भी। हम माँ का विधान पालन करके ही विधाता के निकट जा सकते हैं। तब वेदादि शास्त्र आविष्कृत हुए, यथाक्रम माँ की मूर्त्ति नज़र में आने लगी, जिससे हम कभी भूल न जाएँ कि माँ का विधान पालन करने में सुख और विधान लंघन करने में दुःख-कष्ट है। दुर्गा, काली, आदि मातृ-मूर्त्तियाँ इसी भाव के द्योतक हैं। जीव ने पहले भय से माँ का विधान पालन करना आरम्भ किया, फिर धीरे धीरे रुद्ररूपी भगवान का करुणामय रूप दर्शन में आने लगा।

हमारा स्वरूप आनन्दमय है—इसीसे तो चारों तरफ़ आनन्द की खोज चल रही है। जीव जो कुछ सोचता या करता है उसका मूल कारण आनन्द है। आनन्द का ठीक रास्ता ढूँढ़ नहीं पाता और प्रलोभन के वश अनेक समय ग़लत रास्ते पर चलने लगता है। किन्तु चाहे वह समझे या न समझे वह चाहता है केवल आनन्द। हमारे सब साधन-भजन और कार्यकलाप के मूल में यही आनन्द की खोज है – आनन्दमय विस्मृत स्वरूप का संधान लाभ करना (to regain the lost Paradise)। माँ चाहती हैं आनन्द देना, आनन्द के रास्ते पर चलाना। हमारी देह तथा मन का प्रत्येक परमाणु आनन्द की खोज में लगा है। इस आनन्द की ताल में बाधा न देकर माँ के चलाये हुए रास्ते पर चलना और आनन्द लाभ करना ही (माँ के) सब कार्य का लक्ष्य है। माँ का उद्देश्य जानकर माँ की इच्छा के आगे अपनी विकृत इच्छा को समर्पण करना और माँ के पथ पर चलने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होना ही प्रकृत 'दीक्षा' है। माँ की संगति में चलते-चलते माँ के संग उनके आनन्दधाम में प्रवेश लाभ करना ही साधना का लक्ष्य है। माँ के आनन्दधाम में प्रवेश लाभ करने पर उनकी लीला दर्शन करना और उनकी आनन्द-लीला में सहायक होना ही प्रकृत 'भजन' है। साधन होता है प्रवर्त्तक और साधक अवस्था में, भजन साधित होता है सिद्ध अवस्था में। साधक को चित्त को शून्य करना होगा और माँ हमारे शून्य चित्त को पूर्णत्व से भरपूर करेंगी।

वस्तुतः भगवान की चित्शक्ति स्वयं ही भगवान की पूजा करती हैं। ये शक्ति परिग्रह-शक्ति के रूप में अपनी प्रिय सन्तान को अपने धाम में ले जाने के लिए, उसको भगवद्-भाव से परिभावित करने में और उसको भगवत् प्राप्ति अर्थात् पूर्णता लाभ कराने में सर्वदा व्यस्त हैं। वे हमारे भीतर बैठी हुई हमको यह परिणति दान करने के लिए कितनी सचेष्ट हैं इसको यथासम्भव जानकर अपने

जीवन तथा कार्यकलाप को उसके अनुकूल करना ही हमारी पूजा है। जिससे हमारे कामना-वासना आदि शक्ति के कार्य में बाधा न दें, इसका नाम है शुद्धितत्त्व। ध्यान द्वारा हम माँ का उद्देश्य जानने की चेष्टा करते हैं और उपलब्धि द्वारा उससे तन्मयता लाभकर अपने स्वरूप में समाहित होते हैं। हमारी पूजा माँ की पूजा की नक़लमात्र है। यहाँ पुरुषमेध एवं नरमेध यज्ञ का तत्त्व तुलनीय है।

साधारणत: भगवान और साधन-भजन के संबन्ध में जो अविश्वास और अश्रद्धा देखी जाती है—विशेषत: शिक्षित सम्प्रदाय में—उसके लिए हम ही दायी हैं। हमारे भाव, वचन और कर्म को देखकर लोग भगवान में विश्वास करने में लुब्ध नहीं होते। आनन्दमय के उपासक को सर्वदा आनन्द में रहना और सब को आनन्द देते रहना अत्यावश्यक है। संशय और निराश भाव नास्तिक को ही शोभा देता है। जो भगवान में विश्वास करता है उसको कोई अनुचित कार्य करने की प्रवृत्ति या साहस नहीं होना चाहिए।

दुःख की बात है कि जो कहते हैं कि "मैं भगवान् को नहीं मानता, साधन-भजन में विश्वास नहीं करता" वे एक बार भी सोचकर नहीं देखते कि प्राचीन ऋषि-मुनि अथवा आधुनिक साधकगण भगवान किसको कहते हैं, उनका स्वरूप क्या है और उनको पाने का उपाय क्या है। यदि भगवान हमारे जीवनधारण में, उन्नति लाभ में एवं पूर्णता लाभ में सहायक हों और साधन-भजन का यही उद्देश्य हो तो "साधन-भजन को नहीं मानता" कहना एक बड़ी मूर्खता की बात होगी। जिसको 'जानता नहीं' उसको कहना 'मानता नहीं' यह बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। भगवान यदि सच्चिदानन्द हों तो अपनी सत्ता को सार्थक करना अर्थात् जीवित रहना, ज्ञान लाभ करना तथा आनन्द लाभ करना—एक शब्द में सत्ता, चैतन्य और आनन्द से पूर्णतया विभूषित होना—कौन नहीं चाहता।

हमारे भगवान एक ऐसी वस्तु हैं जिनके अप्रकाश से हमारे आत्मीय-स्वजन तक हमारे मुख में आग लगाकर हमको तिलांजलि देने को बाध्य होते हैं। "कुछ जानता नहीं, मानता भी नहीं" इस उक्ति में मेरा अस्तित्व होना अत्यावश्यक है। यहाँ से असल 'मैं' की खोज शुरू होती है। इस 'मैं' के अनुसंधान में, विशेष विचार के पश्चात्, ऋषियों ने एक स्थायी और उत्तम 'मैं' खोज निकाला है जिसका प्रकृत स्वरूप वाक्य और मन के अगोचर है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने उनको सच्चिदानन्द रूप निर्धारित किया है। वेद कहते हैं कि वे निर्गुण भी हैं और सगुण भी। वे अपनी शक्ति द्वारा जितना अपने आप को प्रकाशित करते हैं अर्थात् हम अपनी इन्द्रियों को शुद्ध और परिणत कर शक्ति की सहायता से जितना उनके स्वरूप को जान सकते हैं, उसी अवधि तक वे सगुण हैं। इसके परे उनका जो अज्ञात, अपरिचित अथवा अप्रकाश अंश है वह निर्गुण है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने भगवान के प्रकाशांश को अवलम्बन कर उनको सगुण, सच्चिदानन्द, पुरुषोत्तम, आदि नाम से निर्देश किया है। जो शक्ति जगत् के अनन्त वैचित्र्य की, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य और लावण्य की तथा अनन्त शक्ति, ज्ञान और आनन्द की मूल प्रस्रवण है एवं अशेष कल्याण-गुण की खान है—हम उसके अंश अथवा प्रतिबिम्ब हैं—वही अनन्त शक्ति बीजाकार में हमारे भीतर सुप्त भाव में अवस्थित है। इस शक्ति को जागरित कर—अपने आपको भगवद्-भाव से परिभावित कर, भगवत्-शक्ति युक्त होकर—भगवत्-प्रिय कार्य साधन में नियुक्त रखना ही जीवन का परम व चरम उद्देश्य है।

साधना क्या है? भगवत्-प्राप्ति अर्थात् पूर्णता लाभ करने का सहज, सुन्दर और स्वाभाविक उपाय (The easiest, best and the most natural method of attaining Perfection)। जिससे हमारी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पूर्ण परिणति लाभ हो उसी

का नाम साधना है। शरीर स्वस्थ, सबल और कार्यक्षम हो; मन ज्ञान, प्रेम और आनन्द से भरपूर रहे; सब जीवों को अपने प्रेमास्पद भगवान की जीवन्त मूर्ति जानकर सबके कल्याणसाधन में हम सचेष्ट हों—यही साधना का लक्ष्य है। साधना के संबन्ध में लोगों की विकृत धारणा दूर हो जाने पर हमारा विश्वास है कि अविश्वासी नास्तिक भी साधन-भजन करने में लुब्ध होंगे। स्वस्थ शरीर और मन की प्रसन्नता कौन नहीं चाहता। भगवद्-विधान जान कर और उसके अनुकूल चलकर जीवन में उन्नति लाभ करना अर्थात् परमानन्द में वास करना ही साधन-भजन का उद्देश्य है। जो उन्नति और शान्ति लाभ करने की चेष्टा करते हैं वे अज्ञात रूप से श्रीभगवान की साधना करते हैं। अगर वे साधन-तत्त्व से अवगत होते तो समझ सकते कि चरम उन्नति एवं परम शान्ति सहज, सुन्दर और स्वाभाविक उपाय से कैसे लाभ की जाए। शास्त्र, गुरु और विवेक की सहायता से जानना होगा कि मेरे जीवन का प्रकृत लक्ष्य क्या है, मैं क्या करने आया हूँ, मेरे जीवन की चरम सार्थकता कहाँ है और मैं किस उपाय से पूर्ण परिणति तथा परम शान्ति लाभ कर सकता हूँ। पंडितों ने विशेष रूप से विचार करके पता लगाया है कि धन-दौलत, स्वजन-बन्धु, भोगैश्वर्य, आदि से जो सुख प्राप्त होता है वह केवल सामयिक है स्थायी नहीं। इस सुख से मन की प्रकृत प्यास नहीं मिटती। ऋषियों ने जीवन में प्रत्यक्ष कर प्रमाणित किया है कि जीवन का चरम उद्देश्य भगवत्-प्राप्ति है। भगवत्-प्राप्ति का अर्थ ही है पूर्ण परिणति अथवा चरम शान्ति लाभ करना। अपने देह, मन और आत्मा के समस्त कार्य को भगवत्-प्राप्ति के, पूर्णता लाभ के, अनुकूल करना ही हमारी साधना है। ज्ञान तथा ज्ञानी की सहायता से यह परम तत्त्व और इसकी प्राप्ति के उपाय को जान लेना होगा और कर्मक्षेत्र में अपने जीवन को उसके अनुसार चलाकर परम शान्ति लाभ करना होगा अर्थात् जीवन का उद्देश्य सफल करना होगा।

साधारणत: साधन-प्रणाली दो भागों में विभक्त है—(१) साधन अवस्था के लिए और (२) सिद्ध अवस्था के लिए।

साधन अवस्था—भगवान को—भगवत्-तत्त्व को—नित्यसिद्ध, स्वयं-प्रकाश कहा गया है। साधन-भजन केवल उनकी प्राप्ति की बाधाओं को दूर करने के लिए है।

"नित्य सिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभु नय।
श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय॥" **(चैतन्य चरितामृत)**

'निमित्तम् अप्रयोजकम् प्रकृतीनाम् आवरण-भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' (पतंजलि)। आवरण हैं—मलिनता, अज्ञानता, कामना, वासना, आसक्ति, अहंकार, निज-सुख-स्पृहा, प्रतिष्ठा-मोह, आदि। सभी सम्प्रदायों ने इनको दूर करने के लिए उपदेश किया है। जीव का काम केवल आवरण दूर करना है, तदनन्तर स्वयंप्रकाश अपने आप ही प्रकाशित हो जाते हैं। इसीलिए स्नान, संयम, साधन-श्लोक पाठ, सत्संग, पुण्य अनुष्ठान, जीव-सेवादि का उल्लेख देखा जाता है। ये सब शुद्धितत्त्व के अन्तर्गत हैं। इसके पश्चात् धारणा, ध्यान और समाधि की आवश्यकता होती है।

सिद्ध अवस्था—सिद्ध अवस्था में साधन-भजन के विघ्न, बाधा और आवरणादि के दूर हो जाने के फलस्वरूप सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन लाभ होता है। जीव-जगत् भगवान की जीवन्त मूर्त्ति हो जाते हैं। तब सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन, ध्यान और सेवा स्वाभाविक हो जाने के कारण सिद्धपुरुष के सब भाव, चिन्ता और कार्य पूजा में परिणत हो जाते हैं। भगवान की लीला दर्शन करना और अपने अपने अधिकारानुसार भगवत्लीला में योग देना ही उनका एक मात्र कार्य और साधना हो जाती है। 'मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः' (गीता ११-५५) का भाव तब जीवन में प्रकृत सत्य मूर्त्ति रूप में दिखाई देता है। यही पूजा भारत के प्राचीन ऋषि करते थे और इसी पूजा में वृन्दावन की गोपियाँ विभोर रहती थीं। भगवान को

छोड़कर वे न कुछ जानते थे, न सोच सकते थे। भगवान के कार्य के अतिरिक्त और वे कुछ कर ही नहीं सकते थे।

साधना के भीतर तीन तत्त्व अनुभव में आते हैं :—(१) शुद्धि (२) ध्यान और (३) उपलब्धि। शुद्धि-तत्त्व का उल्लेख आगे किया गया है।

ध्यान की सहायता से आत्मदर्शन सुलभ होता है और भगवत्-स्वरूप तथा उसकी कार्यप्रणाली और लीला रहस्य अनुभव करने की योग्यता लाभ होती है। इसके फलस्वरूप उपलब्धि का रास्ता खुल जाता है। तब यह अनुभव में आने लगता है कि भगवान बाहर एवं भीतर बैठे कैसे लीला कर रहे हैं और इस लीला का उद्देश्य क्या है। इसके बाद साधक अपने कर्म के द्वारा ध्यान से उपलब्ध भगवत्-लीला के अनुकूल अपने जीवन को नियन्त्रित कर, स्वधर्म पालन कर, इस लीला के सहाय-भूत होता है।

जीव भगवान की विभूति अथवा संतान-संतति है। बाल-बच्चों को सुखी न करके माँ-बाप को सुखी नहीं किया जा सकता। सन्तान की सेवा ही माँ-बाप की सेवा है। इसीलिए जीव के स्नान-आहारादि के द्वारा विश्वरूप भगवान को स्नान-आहारादि अर्पण करने की व्यवस्था है। हम शुद्ध और शान्त होकर जीव के भीतर से ही शिव का दर्शन लाभ करते हैं। तब जीव-प्रेम भगवत्-प्रेम में और जीव-सेवा भगवत्-सेवा में परिणत हो जाते हैं। साधक अपने आत्मा को सर्वभूतात्मरूप में अनुभव करता है। वह सबके भीतर आत्मदर्शन करने की और आत्मा को अर्थात् भगवान को प्रस्फुटित करने की चेष्टा करता है। अपनी उन्नति एवं शान्ति के लिए जितनी चेष्टा करता है सबके सुख और शान्ति के लिए उतनी ही चेष्टा करे बिना नहीं रह सकता। साधक 'पर' किसीको नहीं समझता। उसके कोषानुसार जीवसेवा आत्मसेवा का ही नामान्तर है। सब भूतों में आत्मदर्शन, आत्मोपलब्धि, आत्मसेवा उसकी साधना

का उद्देश्य है। वह सत्य-प्रतिष्ठा द्वारा सर्वत्र आत्मदर्शन, प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा सर्वत्र भगवत्-लीला-रस आस्वादन तथा आनन्द-प्रतिष्ठा द्वारा आनन्द-रस में विभोर और समाहित रहता है और अपने आप विभोर और समाहित होकर सबको यह आनन्द-रस आस्वाद करने की योग्यता प्रदान करने की चेष्टा करता है।

प्रकृत साधक की दृष्टि में संसार भगवान का आनन्दधाम है और जीव वेष धारण किया हुआ शिव अर्थात् भगवान की जीवन्त मूर्त्ति है। मालूम पड़ता है कि जैसे भगवान हमारे ग्रहणयोग्य होने के लिए आत्मीय स्वजनों के रूप में हमारे सामने उपस्थित हुए हैं। माँ-बाप—अन्नपूर्णा-विश्वनाथ; पति—शिव, राम व कृष्ण; स्त्री—पार्वती, सीता व राधा; लड़का—बालगोपाल; लड़की—कन्या भगवती रूप में दिखाई देते हैं। सबके भीतर भगवान का ध्यान और दर्शन लाभ करने के लिए वह प्रार्थना करता है। सबकी सेवा उसकी पूजा में परिणत हो जाती है; जीवन मधुमय, कार्य साधनमय और निद्रा समाधि हो जाती है।

'पूजा'—श्रेष्ठ व्यक्ति अथवा तत्त्व के सान्निध्य से श्रेष्ठता लाभ करना। 'उपासना'—उपास्य के सान्निध्य से उपास्य के भाव से परिभावित होना, जैसे आग के सान्निध्य से देह गर्म हो जाती है और बरफ़ के सान्निध्य से देह शीतल हो जाती है। किसी आदर्श जीवन अथवा तत्त्व को सामने रखकर, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा उसमें तन्मय हो जाना पूजा का उद्देश्य है। जो किसी आदर्श चरित्र को अवलम्बन कर अपने जीवन को आदर्श-स्थानीय बनाने की चेष्टा करते हैं वे चाहे मानें या न मानें, उस आदर्श चरित्र की पूजा करते हैं।

"मुक्तिर्हित्वाऽन्यथाख्यातिं स्व-स्वरूपेणावस्थितिः"—हमारे शास्त्र ने सिद्धि को स्वरूपोपलब्धि और मुक्ति को अन्यथा-ख्यातिरहित अपने स्वरूप में अवस्थिति कहा है। हार अपने गले में है लेकिन अपने गले की तरफ़ न देखकर हम हार ढूँढ़ने में लगे हैं। कस्तूरी मृग की नाभि

में है लेकिन कस्तूरी-गन्ध से लुब्ध हरिण गन्ध की खोज में पागल के समान इधर-उधर दौड़ता-फिरता है। वास्तव में भगवान हमारे भीतर ही हैं, उन्हींकी शक्ति से सब काम हो रहा है, वे ही हमारे भीतर लीलारत हैं लेकिन हम भीतर की तरफ़ न देखकर उनको बाहर खोजते-फिरते हैं। अपने भीतर के छिपे हुए तत्त्व को बाहर की मूर्त्ति में आरोप कर, शास्त्रोक्त विधानानुसार साधना द्वारा उनकी स्वरूपोपलब्धि कर, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा उनमें तन्मयता लाभ कर हम अपने भीतर के अदृष्ट तत्त्व का दर्शन लाभ करते हैं। जो सत्य होते हुए भी असत्य अथवा असम्भव मालूम होता था उसमें सत्यारोप कर उस सत्य को प्रत्यक्ष करना ही हमारी साधना का उद्देश्य है। सुतरा 'पूजा' है वास्तव में विस्मृत स्वरूप अथवा तत्त्व की पुनरूपलब्धि (Regain of lost Paradise)।

असाधक अवस्था में जिनके अनुकूल होना तो दूर रहा जिनके अस्तित्व तक में विश्वास नहीं करता था, सद्‌गुरु ने अपना आदर्श जीवन सामने रखकर उनसे कुछ परिचय करा दिया। तत्पश्चात् उनके सान्निध्य से अर्थात् उनकी तत्त्वोपलब्धि के फलस्वरूप अपना अन्तर जितना-जितना उनके भाव से भावित होने लगा उतना ही मैं अज्ञात रूप से उनके अनुकूल होने लगा। अन्त में ऐसा समय आया जब मैं उस आदर्श तत्त्व में समाहित होने के कारण आदर्श का सारूप्य लाभकर स्वयं आदर्शमय हो गया। जो असम्भव मालूम होता था वह सत्य में परिणत हुआ। साधक साधना द्वारा इष्ट तत्त्व में समाहित होकर इष्टमय हो जाता है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" का प्रकृत अर्थ तभी समझ में आता है। कोई तत्त्व जब तक सिद्ध जीवन में दृष्ट होकर और साधना द्वारा उपलब्ध होकर अपने जीवन में प्रत्यक्षीभूत न हो तब तक उस तत्त्व का वास्तविक अर्थ समझ मे नहीं आता।

दीक्षा के मन्त्र में एक शब्द होता है। इष्ट के जीवन के भीतर उसका

अर्थ उपलब्ध होता है। साधना द्वारा प्रत्येक तत्त्व में इष्ट की लीला अनुभव करने के फलस्वरूप उसकी प्राणप्रतिष्ठा होती है। तब मंत्र की सिद्धि प्राप्त होती है।

वैदिक युग में साधना के लिए शिष्य को गुरु के घर जाना होता था। वहाँ रहकर शिष्य को गुरु के आदेशानुसार चलना होता था। इसके परिणामस्वरूप शिष्य समस्त उच्छृङ्खलता से रक्षित हुआ प्रकृत स्वाधीनता लाभ करने का सुयोग पाता था। कारण, स्वाधीन का अर्थ है स्व के, अपने आत्मा के, भगवान के, भगवद् विधान के अधीन होना। संयत शुद्ध शिष्य शास्त्र, गुरु और विवेक की सहायता से अपने जीवन का लक्ष्य निर्णय कर, उस लक्ष्य का पूर्ण विकास और स्वरूप सद्गुरु अथवा इष्ट-तत्त्व के भीतर उपलब्ध कर और उसी आदर्शानुसार अपना जीवन गठनकर, उसमें तन्मयता लाभकर, अपने भीतर बीजाकार में निहित भगवत्-शक्ति को पूर्ण विकसित करने का सुयोग पाता था। गुरु शिष्य को स्वधर्म तत्त्व अर्थात् अपने प्रति कर्तव्य रूप आश्रमतत्त्व एवं समाज अथवा जीव-जगत् के प्रति कर्तव्यरूप वर्णतत्त्व (Duty to Self and Duty to Society) और उसकी साधन-प्रणाली उत्तम रूप से समझा देते थे। अपने जीवन में भगवद्इच्छा जानकर स्वधर्म्म पालन द्वारा उस इच्छा को पूर्ण करने के लिए व्रती होने का नाम ही था 'दीक्षा'। शिष्य गुरु को—अपने इष्ट को – अपने भीतर की बीजरूप निहित भगवत्-शक्ति की पूर्ण विकसित अवस्था समझता था। उनके आदर्शानुसार जीवन गठनकर, उनसे तन्मयता लाभकर, ठीक उनके समान हो जाना ही उसकी साधना का उद्देश्य होता था।

साधारणत: साधकगण को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—ज्ञानी, योगी और भक्त। ज्ञानी का प्रधान लक्ष्य है ब्रह्म में तादात्म्य लाभ करना, उपाय है आत्म-अनात्म-तत्त्व का विवेक। योगी का लक्ष्य है जीवात्मा और परमात्मा का मिलन साधन, उपाय है अपने को परमात्मा

से युक्तकर अनासक्त फलाकांक्षारहित होकर यज्ञार्थ कर्म करना। भक्त का लक्ष्य है भगवान से प्रेम लाभ करना, अपने जीवन में भाव, वचन और कर्म द्वारा भगवद्-इच्छा सफल करना; उपाय है भगवान को आत्मनिवेदन, सर्वत्र भगवत्-लीला की अनुभूति, जीव-जगत् को भगवत्-विभूति जानकर जीव की सेवा करना। भक्तियोग में फिर शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव के साधक दृष्ट होते हैं।

पूजा एक प्रकार का आरोप-साधन (auto-suggestion) है। अपनी अनुभूति को आदर्श चरित्र में आरोपित कर, उसके भीतर भगवद्-भाव के ध्यान द्वारा भगवत्ता उपलब्ध कर, उस भगवत्-तत्त्व—भगवद्-भाव—को अपने भीतर प्रस्फुटित कर—अनुभव कर—भगवद्-भाव से भरपूर हो जाना ही पूजा का उद्देश्य है। भगवान हमारे भीतर हैं लेकिन हम उनको देख नहीं पाते। उनके अस्तित्व में विश्वास कर, मन को बाह्य विषयों से हटा कर, कल्पना द्वारा उस भगवत्-तत्त्व का ध्यान करते करते वह छिपा हुआ तत्त्व अनुभव में आ जाता है।

जो तत्त्व स्थूल दृष्टि से दिखाई नहीं देता, चिन्ता से धारणा में नहीं आता उस तत्त्व को उपलब्ध करने का एक मात्र उपाय यही है कि जिन्होंने उस तत्त्व की उपलब्धि की है उनके उपदेशानुसार साधन-भजन द्वारा उसको उपलब्ध करने की चेष्टा करना। आप्तदर्शी की अनुभूति को सत्य मानकर ही हमारा शास्त्र बना है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि विज्ञान और दर्शन उसका खंडन न करके भविष्य में उसका मंडन करने को बाध्य होंगे। इसलिए हम विज्ञान का बहुल प्रचार पसंद करते हैं। हमारा विश्वास है कि भविष्यत् में एक समय आयेगा जब शिक्षित सम्प्रदाय हमारी साधन-पद्धति को विज्ञान-सम्मत और कल्याणप्रद समझकर साधना द्वारा सिद्धि लाभ करने का प्रयत्न करेंगे।

भगवान जगत् सृष्टि करके सब सृष्ट पदार्थों के भीतर प्रवेश कर गये। जगत् का सब कार्य उनके सान्निध्य से, उनकी इच्छा से तथा

उनकी शक्ति से हो रहा है। जीव का अहंकार उसके और भगवान के बीच में आकर भगवान को देखने नहीं देता और भगवान के सब कर्मों को अपना कहकर, सब कर्मों को विकृत कर, भगवत्-लीला आस्वाद करने में—भगवद्-इच्छा सफल होने में—भगवत्-लीला अनुभव करने में बाधा देता है। परिणाम यह होता है कि आनन्दधाम संसार रूपी बंदीशाला मालूम पड़ता है, लीला कर्म-भोग प्रतीत होती है, कर्म में बन्धन बोध आ जाता है, आत्मीय अनात्मीय हो जाते हैं, अपना पराया मालूम होता है और जीवन आनन्द का स्फुरण न होकर एक दुर्विषह्य बोझ हो जाता है। रज्जु को कल्पित सर्प के नाईं हम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-आनन्दस्वरूप को अनित्य-मलिन-त्रस्त-भीत-अशान्त-दुःखप्रपीड़ित समझ बैठते हैं।

जिससे भगवान और जीव के बीच का कल्पित आवरण दूर होकर स्वप्रकाश भगवान अबाधितरूप से प्रकाशित तथा अनुभूत हों; जिससे हमारे जीवन में उनकी इच्छा पूर्ण सफलता लाभकर हमारे देहादि को उनके हाथ के यन्त्र में परिणत करे; जिससे हम अपने जीवन को उनके लीलारस का स्फुरण—आनन्द का प्रकाश—अनुभवकर जगत् को आनन्दधाम तथा जीव को वेष धारण किया हुआ शिव समझकर हम उनका लीला-रस आस्वाद करते करते उनके आनन्द में विभोर होकर उनमें तन्मयता लाभ कर सकें, यही पूजा का—साधनभजन का उद्देश्य है।

याद रखना होगा कि यह हमारा जीव-जगत् चरम और परम तत्त्व का विकास है। पुरुषोत्तम की देह में यह तत्त्व पूर्ण रूप में जीवनगत अर्थात् सत्य में परिणत हुआ है (Principle Personified—Abstract Concretised)। हमारे पुरुषोत्तम दुर्गा, काली, आदि तात्त्विक मूर्त्तियों के जीवन्त विग्रह हैं जिनके भीतर समस्त चरम तत्त्व जीवनगत व सत्य में परिणत हुआ है। अर्थात् वाक्य मन से अतीत

तत्त्व कुछ अनुभववेद्य (ग्रहणयोग्य) होकर आदर्श गुरू व इष्ट रूप में परिकल्पित हुआ है। इन्हीं पुरुषोत्तम को अवलम्बन कर चरम तत्त्व आस्वाद किया जा सकता है।

ॐ तत् सत्

———

ॐ

मंगलाचरण—यहाँ पूजा का सार अंश संक्षेपतः निर्देश कर शुभकार्य में भगवत्कृपा लाभ के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

—*—

विष्णुस्मरण

ॐ तत् सत्

यह मंत्र भगवद्-स्वरूप का द्योतक है। गीतादि शास्त्रों में ॐ तत् सत् मंत्र उच्चारण करके सब शुभकार्य आरम्भ करने की व्यवस्था देखी जाती है। 'ॐ तत्सत्' में हमें तीन शब्द मिलते हैं। इसमें 'ॐ' शब्द महर्षि पतंजलि के मतानुसार परमेश्वर का वाचक है—'तस्य वाचकः प्रणवः'। ॐ-कार भगवान का पूर्णस्वरूप प्रतिपादन करता है। यह भगवान के सगुण एवं निर्गुण दोनों भावों के द्योतक है। अकार-उकार-मकार, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति, स्थूल-सूक्ष्म-कारण, सृष्टि-स्थिति-लयात्मक ब्रह्मा-विष्णु-शिव के द्योतक हैं। अर्धमात्रा नाद-बिन्दु-कला स्तर तक—यहाँ तक कि शुद्ध आत्मा की चित्-कला के स्तर तक विस्तृत है। अकार-उकार-मकार सगुण भाव के एवं अर्धमात्रा निर्गुण भाव की द्योतक होने के कारण अनेक लोग ॐ-कार शब्द को शिव-शक्ति की युगल मूर्ति रूप में ग्रहण करते हैं।

'ॐ-कार' मंत्र के साधन से हम चित्त को मेरुदंडस्थ मूलाधार चक्र से सहस्रार तक ले जाकर निर्गुण ब्रह्म में स्थिति लाभ करने के रहस्य से परिज्ञात होते हैं। इसमें 'अ'-कार का स्थान मूलाधार से नाभिस्थ मणिपुर तक, 'उ'-कार का स्थान नाभि से हृदयस्थ अनाहत चक्र तक और 'म'-कार का स्थान अनाहत चक्र से ललाटस्थ आज्ञाचक्र तक है। उसके ऊपर अर्धमात्रा का स्तर है। किसी किसी सम्प्रदाय में सहस्रार के ऊपर भी कुछ स्तर वर्णन किये गये हैं किन्तु हम उन सबको अर्धमात्रा के ही अन्तर्गत मानते हैं।

'तत्' शब्द भगवान स्वरूपतः जो हैं अर्थात् जो अव्यक्त रहस्य हैं उस निर्गुण, निष्कल, निरंजन ब्रह्मतत्त्व का द्योतक है।

'सत्' शब्द भगवान जिस प्रकार प्रकटित, प्रतीत अथवा अनुभूत होते हैं उस भाव का द्योतक है।

'ॐ' उच्चारण कर हम 'नेति नेति' साधन की, पंचकोश विवेक की, सहायता से भगवद्धाम (सहस्रार) में जाने का अधिकार लाभ करते हैं। 'तत्' शब्द उच्चारण से निर्गुण ब्रह्मतत्त्व हमारे निकट प्रकटित होता है। इसके बाद 'सत्' शब्द की साधना द्वारा हम उपलब्ध करते हैं कि ब्रह्म ही जीव-जगत् रूप में परिणत अथवा विवर्तित हैं अर्थात "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस उक्ति का सारतत्त्व ग्रहण करने की योग्यता लाभ करते हैं। 'तत्' जब जीव-जगत् रूप में परिणत-विवर्तित अर्थात् अनुभूत होते हैं तब उस अनुभूति में 'तत्' अविकृत सत्-स्वरूप से बिन्दु मात्र भी विच्युत नहीं होते, वे प्रकृत सत् स्वरूप में ही वर्त्तमान हैं यह तत्त्व उपलब्ध किया जा सकता है।

कोई कोई कहते हैं 'तत् अनुभूयते अत्र इति तत्त्वं' एवं 'सत् अनुभूयते अत्र इति सत्त्वं'। तत्त्व एवं सत्त्व—इन दोनों में अधिष्ठित रहते हुए भी जो इन दोनों भावों के अतीत हैं वे ही हमारे भगवान् हैं, वे ही हमारे इष्ट हैं। वे विश्वातीत और विश्वानुग दोनों भावों के द्योतक हैं।

'ॐ तत्सत्' एक वैदिक मंत्र है। तंत्रशास्त्र ने इस मंत्र को बहुत आदरपूर्वक ग्रहण किया है। सुना जाता है कि राजा राममोहन राय अपने गुरु हरिहरानन्द से इस मंत्र का रहस्य और साधन-प्रणाली जानकर मुग्ध हो गए थे।

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः
दिवीव चक्षुराततम् ॥१॥

यह मंत्र श्रीभगवान का अस्तित्व निस्सन्दिग्ध रूप से निश्चित कर प्रमाण करता है कि यह चित्त-शुद्धि में सहायक है। ऋषिगण भ्रम, प्रमाद, हताश भाव और कपटरहित थे। उनके वचन को दार्शनिक पंडितों ने सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना है। वे जब कहते हैं कि भगवान हैं और उनके मतानुसार चलने से वे भगवद्दर्शन करा सकते हैं तब इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है।

वे कहते हैं—तद्विष्णोः (उस सर्वव्यापी भगवान का) परमं पदं (श्रेष्ठ स्वरूप एवं तत् प्राप्ति के उपाय) सूरयः (संयत तत्त्वदर्शी ऋषि-गण) दिवि (स्वर्ग में, कूटस्थ में स्थित हुए) सदा आततं चक्षुः इव पश्यन्ति (विस्तृत चक्षु के भाँति अवस्थित, विश्वतश्चक्षु रूप में अवस्थित, निरंतर दर्शन करते हैं)। यहाँ 'चक्षु' शब्द चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक एवं मन, बुद्धि, आदि समस्त इन्द्रियों का द्योतक है। अर्थात् वे मानो सब देख रहे हैं, सुन रहे हैं, जान रहे हैं। यह विश्वास पक्का हो जाने से कोई विपरीत कार्य करने का साहस नहीं हो सकता—इसलिए यह मंत्र चित्त-शुद्धि में सहायक है।

अथवा, दिवि (आकाश में) चक्षुः यथा आततं (नेत्र जिस प्रकार अबाधित रूप से) पश्यन्ति (देखते हैं) [तथेति—ठीक उसी प्रकार देखते हैं]। ऋषियों का अपरोक्ष दर्शन खुल जाने के कारण वे सर्वत्र भगवान को देखते थे। वे जब कहते हैं कि हम भगवान को देखते हैं तो यही भगवान के अस्तिव का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।

"विष्णु अथवा परब्रह्म के चार पाद कल्पना किये गये हैं—'चतुष्पात् सकलं ब्रह्म'। निर्गुण ब्रह्म के पाद कल्पना नहीं किये जा सकते क्योंकि वह निरंश है। इन चार पादों में से तीन पाद दिव्य अथवा अमृत हैं और कालचक्र के आवर्त्तन के अतीत हैं। केवल एक पाद से ही समग्र परि-वर्त्तनशील विश्व आविर्भूत हुआ है और उसी के आश्रय अवस्थान करता है। अन्य प्रकार से परब्रह्म अथवा परमात्मा के दो पद अथवा अवस्थाएँ बताई गई हैं। इसमें एक 'परम पद' कहा गया है और दूसरा 'अपर पद'। यह दोनों ही विष्णुपाद नाम से अभिहित हैं। 'अपर पद' तीन भागों में विभक्त है। इसलिए निम्नस्तर में तीन विष्णुपद शास्त्र में वर्णित हैं। 'त्रिविक्रम' नाम का भी यही तात्पर्य है। ऋग्वेद के "इदं विष्णुर्वि-चक्रमे त्रेधा निदधे पदं" मंत्र में विष्णु के तीन पद का उल्लेख है किन्तु इसमें कोई भी 'परम पद' नहीं। विष्णु का अथवा परब्रह्म का जो 'परम पद' है उसी को स्मरणकर समस्त शुभकर्म आरम्भ किये जाते हैं। इसी का नाम विष्णु-स्मरण है। इस पद में किसी ने कभी प्रवेश किया है या नहीं अथवा कर सकना है या नहीं यह कहना कठिन है। क्योंकि दिव्य तत्त्वज्ञानी अथवा नित्यमुक्त पुरुष इसका निरंतर दूर से दर्शन करते रहते हैं—सदा पश्यन्ति। उनका दर्शन अविच्छिन्न एवं आवरणशून्य है। यही वस्तुतः दिव्यचक्षु हैं अर्थात् द्युलोक-व्याप्त और प्रकाशमान चक्षु के समान है। इस दिव्यचक्षुवत् परम पद को मन ही मन स्मरण करते हुए शुभकार्य आरम्भ करना चाहिए। यह विश्वातीत एवं निर्विकल्प शान्त मंगलमय अद्वैत पद है।"

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।
ॐ आविरावीर्म एधि, ॐ आविरावीर्म एधि,
ॐ आविरावीर्म एधि ॥२॥

मे (मेरी) वाक् (वाणी) मनसि प्रतिष्ठिता (मन में प्रतिष्ठित हो जाय) मे मनः (मेरा मन) वाचि प्रतिष्ठितम् (वाणी में प्रतिष्ठित हो

जाय)। आविः (हे निर्गुण, निष्क्रिय, निरंजन ब्रह्म) आवीः (हे शक्ति-युक्त सगुण ब्रह्म) मे (मेरे भीतर, मेरे प्रत्येक तत्त्व में) एधि (आवि-र्भूत हो अर्थात् मेरे प्रत्येक तत्त्व में प्रवेशकर, प्रत्येक तत्त्व को अपने भाव से परिभावितकर, अपनी शक्ति से युक्तकर, अपने प्रिय कार्य साधन में नियुक्त करो)।

मेरे वाक्य और मन में कोई अन्तर न रहे। वाक्य अनुभूति को प्रकाश करने के लिए है। शब्द की परावस्था में जो भाव था वही पश्यन्ती और मध्यमावस्था भेदकर वैखरी रूप में बाहर प्रकाशित होता है। इस प्रकाश में मेरे मन के स्वार्थ-संस्कारादि किसी प्रकार की बाधा न दें। मैं भगवान के हाथ में एक यंत्र के समान हो जाऊँ—उनकी संगति में मेरा चलना परम सार्थकता लाभ करे। मेरा मनन किया हुआ निर्णीत तत्त्व ही मेरे वाक्य द्वारा यथायथ प्रकाशित हो। मेरी वाणी मेरे मन के अनुभूत ज्ञान के अतिरिक्त और किसी विषय पर न बोले। याद रखना होगा कि वाक्-मन का मिलन साधित होने पर ही स्वयंप्रकाश आत्मप्रकाश करने का सुयोग पाते हैं।

यहाँ वाक् सब कर्मेन्द्रियों का और मन सब ज्ञानेन्द्रियों का द्योतक है। मन भाव का और वाक् भव का प्रतिनिधि है। जो भाव में, तत्त्व-रूप में, निर्धारित होता है वही कार्य द्वारा मूर्त्ति लाभ करता है और जो वाक् द्वारा (भव में) प्रकट होता है वह अनुभूत तत्त्व में (भाव में) प्रतिष्ठित रहता है। मेरे भव और भाव म कोई भेद न रहे।

हे स्वप्रकाश, जब तक मेरी दृष्टिशक्ति तुम्हारा प्रकाश अनुभव न कर सकेगी तब तक तुम्हारा स्वप्रकाशत्व मेरे अनुभव में नहीं आयगा। जगत् में ज्योति, ज्ञान, प्रेम का अभाव नहीं किन्तु अन्ध, अज्ञानी, अप्रेमिक इसको उपलब्ध नहीं कर सकता। हे स्वप्रकाश, तुम मुझे अपना उपयुक्त आधार बनाकर मेरे भीतर पूर्णरूप से प्रकाशित हो।

हे निर्गुण निष्क्रिय निरंजन ब्रह्म, तुम जबतक अपनी शक्ति से अपने

गुण से आत्मप्रकाश न करो एवं जब तक मेरा आत्मा अपनी शक्ति और गुण द्वारा तुमको ग्रहण अथवा उपलब्ध न कर सके तब तक तुम्हारा होना न होना मेरे लिए बराबर है। इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम प्रकाशित हो, मेरे सब तत्त्वों में तुम्हारी ज्योति अथवा तुम्हारी शक्ति आत्मप्रकाश करे; मेरे सब तत्त्वों को अपने भाव से परिभावितकर, अपनी शक्ति से युक्तकर, अपनी इच्छा पूरण में, अपने कार्य साधन में नियुक्त करो।

"वाक् मन में प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। तद्रूप मन भी वाक् में प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। ऐसा होने से मन और वाक् एक दूसरे के सहायक होते हैं। वाक् जब मन में प्रतिष्ठित होता है तब वाक् सत्य को प्राप्त होता है। तद्रूप मन जब वाक् में प्रतिष्ठित होता है तब मन भी सत्य लाभ करता है। वाक्य भिन्न मन और मन का संकल्प असम्भव है क्योंकि ऐसी अवस्था में कोई कार्य करने का सामर्थ्य नहीं रहता। मन अथवा भावहीन वाक्य को भी तद्रूप समझना चाहिए। वाक्य और मन अथवा भाव का सामंजस्य ही आदर्श है। यह आदर्श प्राप्त हो जाने पर स्वयं-प्रकाश तत्त्व स्वतः ही प्रकाशित होता है। चैतन्यस्वरूप परमात्मा आविः हैं अर्थात् स्वतः प्रकाशमान हैं। किन्तु हमारे निकट वे स्वतः अथवा परतः किसी प्रकार भी प्रकाशमान नहीं। इसलिए मेरी प्रार्थना है—'मे आवीः एधि'—मेरे निकट स्वप्रकाशतत्त्व प्रकाशित हो जाय। इसके लिए हमारा दृष्टि-संस्कार आवश्यक है क्योंकि यदि हमारी देखने की शक्ति न हो तो स्वयंप्रकाश तत्त्व हमारे लिए अप्रकाशित ही रहेगा।"

प्रार्थना—प्रातःकाल

❀ हे विश्वनाथ करुणामय रात्रिकाले
स्थित्वा त्वया सह सुखं विगतश्रमोऽहम्।
ग्लानिश्च देहमनसोऽपि विनिर्गता मे
प्रातः प्रयामि बहिरीश तवैव गेहे ॥३॥

हे करुणामय विश्वनाथ (हे करुणामय जगदीश्वर) रात्रिकाले (रात्रि में) त्वया सह (तुम्हारे साथ) सुखं स्थित्वा (सुख से रहकर) अहं विगतश्रमः (मेरी क्लान्ति दूर हो गई) । च (और) मे (मेरे) देह-मनसः (शरीर और मन की) ग्लानिः अपि (शिथिलता भी) विनिर्गता (दूर हो गई है) । हे ईश (हे जगत्पति) प्रातः (अब प्रातःकाल) तव एव गेहे (तुम्हारे संसाररूपी गृह में) बहिः प्रयामि (बहिर्गत होता हूँ) ।

यह श्लोक भगवान की कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए निर्दिष्ट है । रात को विश्राम करके भगवान के सान्निध्य से देह एवं मन की सब क्लान्ति दूर हो गई और अब उनके आदेशानुसार उनके प्रिय कार्य साधन के लिए संसार में जाता हूँ – यह भाव सर्वदा स्मरणकर उनकी कृपादृष्टि और सहायता के लिए प्रार्थना करनी चाहिए ।

गत रात्रि जब श्रान्त क्लान्त होकर मैंने तुम्हारी गोद का आश्रय लिया था तो तुमने मेरी देह की क्लान्ति और मन का अवसाद दूर कर दिया । अब मुझे अपनी शक्ति से शक्तिमानकर, अपने सौन्दर्य से भूषितकर, अपने भाव से परिभावितकर, अपनी सन्तान की सेवा के लिए शक्ति संचारकर, अपने संसार में जाने का आदेश दो । माँ यशोदा जिस प्रकार अपने हृदय-गोपाल को तैयारकर गोचारण के लिए भेज देती थीं तुम भी मुझको यथासम्भव उसी प्रकार अपनी उपयुक्त सन्तानरूप में तैयार-करके संसार के कर्त्तव्य-साधन के लिए भेज दो । वैष्णव साधक इस प्रसंग में पूर्वगोष्ठलीला आस्वाद करने की चेष्टा करते हैं ।

❀ सेवाव्रतं जनहितं चरितुंच तत्र
शक्नोमि येन भगवंस्तव किंकरोऽहम् ।
मां पश्य चालय विभो सततंच रक्ष
पूर्णा भवत्वनुदिनं मयि ते शुभेच्छा ॥४॥ (३ बार)

भगवन् (हे भगवन्) अहं तव किंकरः (मैं तुम्हारा दास हूँ); येन

(इस हेतु) जनहितं (जीव का कल्याणप्रद) सेवाव्रतं (सेवारूप व्रत) चरितुं च (पालन करने में) तत्र (तुम्हारे संसार में) शक्नोमि (मैं समर्थ होऊँ) मां पश्य (मुझे देखते रहना) चालय (चलाना) सततं च रक्ष (सर्वदा रक्षा करना)। मयि (मेरे द्वारा) ते (तुम्हारी) शुभेच्छा (जीवहित साधन की मंगल इच्छा) अनुदिनं (प्रतिदिन) पूर्णा भवतु (पूर्ण सफलता लाभ करे)।

अर्थात् मेरे जीवन में तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे। हे भगवन्, जीव ही तुम्हारा यथासर्वस्व है, जीव की सेवा के अतिरिक्त तुमको देखने का, सन्तुष्ट करने का, प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं यह मैंने अच्छी तरह समझ लिया है। अब मैं जीवसेवा को अपने जीवन का प्रधान व्रत मानकर ग्रहण कर सकता हूँ।

याद रखना होगा कि मेरी माँ सब की माँ है; माँ के एक बच्चे को भी तुच्छ करके माँ की कृपा लाभ नहीं की जा सकती, न माँ का दर्शन सम्भवपर हो सकता है। सन्तान की सेवा ही गुप्त माँ की कृपा लाभ का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

❀ लोकेश चैतन्यमयाधिदेव श्रीकान्त विष्णो भवदाज्ञयैव।
प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्त्तयिष्ये ॥५॥

हे लोकेश (हे त्रिलोकीनाथ) हे चैतन्यमय (हे सर्वभूत में चैतन्य-स्वरूप) अधिदेव (हे देवादिदेव) हे श्रीकान्त (हे सर्वैश्वर्याधिपति) हे विष्णो (हे सर्वव्यापिन् परमेश्वर) भवदाज्ञया एव (तुम्हारी ही आज्ञानुसार) प्रातः समुत्थाय (प्रातः उठकर) तव प्रियार्थं (तुम्हारा प्रिय कार्य करने के लिए) संसारयात्राम् अनुवर्त्तयिष्ये (संसार-यात्रा का अनुपालन करूँगा)।

भगवान जिस प्रकार अपने जगज्जीव के पालन द्वारा अपनी इच्छा सफल करने में व्यस्त हैं, उनके अंश अथवा प्रतिबिम्ब होने के कारण

हमें भी उचित है कि हम अपने क्षुद्र संसार के सब कर्त्तव्य पालनकर, जीव के उन्नति-विधान में, भगवदिच्छा पूरण करने में सहायक हों।

* जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
त्वया हृषीकेश हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥६॥

अहं (मैं) धर्मं जानामि (धर्म को जानता हूँ - मुझे क्या करना उचित है यह जानता हूँ) न च मे प्रवृत्तिः (लेकिन उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती) अधर्मं जानामि (अधर्म को भी जानता हूँ—मुझे क्या करना उचित नहीं है यह भी जानता हूँ) न च मे निवृत्तिः (लेकिन उससे निवृत्त नहीं होता)। हृषीकेश (हे इन्द्रिय-नियामक—इन्द्रियाँ जिसका आदेश पालन करने को बाध्य हैं) हृदि स्थितेन त्वया (मेरे हृदय में स्थित तुम्हारे द्वारा) यथा नियुक्तः अस्मि (जिस भाव में, जिस कार्य में नियुक्त होता हूँ) तथा करोमि (वही करता हूँ—यह मैं समझ सकूँ)।

हे भगवन्, तुम अन्तर्यामीरूप में हमारे हृदय में स्थित हुए हमको चलाते हो। हम अहंकारवश तुमको चालकरूप में अनुभव नहीं कर पाते। तुम हमारी आँख में उँगली करके (स्पष्टतः) हमको दिखा दो कि हमारा अहंकार जो करना चाहता है वह नहीं कर सकता और जो नहीं करना चाहता है वह अनेक समय कर बैठता है, इसलिए वह हमारे कर्म का कर्त्ता नहीं है। तुम्हीं कर्म के प्रकृत कर्त्ता, हमारे प्रकृत चालक हो, कर्म केवल हमारे द्वारा कारित हो रहा है, हम केवल कर्म के निमित्तमात्र हैं—यह तत्त्व हमें समझाकर आत्मनिवेदन के पथ पर चालित करो। यह संसार भगवान का संसार है। भगवान जगजीव द्वारा आत्मप्रकाश करने में व्यस्त हैं। वे ही प्रकृत कर्त्ता हैं। जीव जिससे वृथा कर्तृत्वाभिमान के वश होकर भगवत्प्रिय कार्य साधन में बाधा न दे इस हेतु यहाँ प्रार्थना की गई है।

"धर्माधर्म ज्ञान जीव को निश्चय ही है तथापि वह धर्म में प्रवृत्त एवं अधर्म से निवृत्त नहीं हो पाता क्योंकि वह दुर्बल एवं पराधीन है। अन्तर्यामी उसके हृदय में उसको जिस प्रकार नियोग करते हैं वह करने के लिए बाध्य है।

रात्रि में विश्रामकर भगवान के सहित अभिन्नभाव से आनन्दास्वादन एवं क्लान्ति अपसारणकर, उन्हीं के आदेशानुसार, उन्हीं के प्रियकार्य साधन के लिए उनके विशाल गृह में जाता हूँ—यह भाव सर्वदा मन में रखना होगा। इस यात्रा के मूल में भगवान का आदेश है, यह धारणा दृढ़ हो जाने से संसारयात्रा से भगवत्प्रीति सिद्ध हो जाती है। जीव को यात्रारम्भ के पूर्व याद रखने की चेष्टा करनी होगी कि वह भगवान का दास-स्वरूप है एवं उन्हीं के निर्देशानुसार जीव-सेवा और जगत् का हितसाधन करने में उद्यत हुआ है। भगवान की कृपादृष्टि और शुभेच्छा उसको इस महत् कार्य में सहायता करेंगी क्योंकि वे जीव के चालक एवं विपत्ति के समय संरक्षक हैं"।

प्रार्थना—सायंकाल

❁ आज्ञापितस्य च पुरा जनसेवनाय
जातं प्रभो भववने भ्रमतः प्रमादात्।
देहे मनस्यपि च मे मलिनत्वमीश
येनावसीदति महेश ममान्तरात्मा ॥३ (क)॥

प्रभो (हे अनुग्रह-निग्रह कर्त्ता) ईश (हे शक्तिमान चालक) महेश (हे ईश्वरों के ईश्वर) पुरा (पहिले) भववने (संसाररूपी वन में) जनसेवनाय (जीव की सेवा कार्य में) भ्रमतः (भ्रमण करते करते) आज्ञापितस्य मे (तुम्हारी अनुमतिप्राप्त मुझमें) प्रमादात् (प्रमाद के कारण) देहे मनसि अपि च (देह और मन में) मलिनत्वं जातं (मलिनता उत्पन्न हो गई है) येन (जिसके द्वारा) मम अन्तरात्मा (मेरा अन्तरात्मा)

अवसीदति (अवसादग्रस्त हो गया है अर्थात् ठीक तरह से मुझको चलाने में, मेरे भीतर से प्रकाशित होने में, असमर्थ हो गया है।

मैं जगजीव की यथाशक्ति सेवा का आदेश प्राप्तकर घर से बाहर गया था। इस आदेश पालन करने में प्रमादवश अनेक त्रुटि-विच्युति हो गईं और देह व मन में मलिनता आ गई—इसके अपनोदन के लिए मैं मन ही मन प्रार्थना करता हूँ। 'सन्ध्या समय कर्मस्थल से समागत सन्तान को फिर निर्मल कर गोद में स्थान दो। हे प्रभु मुझे अपने चरणों में स्थान दो'।

❀ सन्ध्या समागममहो मम जीवितस्य
ज्ञात्वा च मे जिगमिषां तव सन्निधाने।
प्रक्षाल्य धूलिमलिनं तनयं स्वकीयं
क्रोड़े नयाशु जगदीश कृपानिधान ॥४ (क) ॥

अहो (हाय) मम जीवितस्य (मेरे जीवन की) सन्ध्या समागमम् (सन्ध्या हो गई है)। [यह] तव सन्निधाने जिगमिषां च (और तुम्हारे पास जाने की इच्छा) ज्ञात्वा (जानकर) जगदीश (हे जगदीश) कृपानिधान (हे कृपानिधान) धूलिमलिनं (धूलि से मलिन) स्वकीयं तनयं (अपनी सन्तान को) प्रक्षाल्य (धोकर अर्थात् निर्मलकरके) आशु (शीघ्र) क्रोड़े नय (अपनी अभय गोद में स्थान दो)।

तुम्हारी इच्छानुसार संसार में खेलने गया था लेकिन तुम्हारा आदेश लंघन करके, भ्रम-प्रमादवशतः, बुद्धि के दोष से, संस्कारवश देह और मन को मैंने अपवित्र कर डाला। इसके फलस्वरूप मेरा आत्मा तक अवसादग्रस्त हो गया है। अब संध्या हो गई है और मैं अब तुम्हारे पास जाय बिना नहीं रह सकता। मैं तुम्हारी ही सन्तान हूँ, तुम सर्वशक्ति-सम्पन्न एवं कृपानिधान हो, संतान का दुख सहन करने में असमर्थ हो। दया करके मेरी सब मलिनता दूरकर मुझे अपनी अभय गोद में स्थान दो।

प्रातःकाल अकार्य से कार्य की तरफ़, माँ की गोद से संसार की तरफ़, गया था। सायंकाल कार्य से अकार्य की तरफ़, विश्राम की तरफ़, माँ की गोद में जाना होगा। संध्या समय साधक शब्द-स्पर्शादि द्वारा माँ का आवाहन अनुभवकर उनके निकट जाने को व्यस्त होता है। इस प्रसंग में वैष्णवों की उत्तरगोष्ठलीला आस्वादनीय है। हमारी इन्द्रियों को गो-रूप में निर्देश किया गया है—"गावः इन्द्रियाणि"। इन्द्रियों द्वारा विषय-ग्रहण को भी किस प्रकार भगवत्सान्निध्य और उनकी कृपा से पूजा में परिणत किया जा सकता है यही तत्त्व गोचारणलीला के भीतर प्रकाशित किया गया है। प्राचीन ऋषियों का लक्ष्य था सब आत्मीय-स्वजनों को—यहाँ तक कि सर्वजीव को भगवत्विग्रह में, सब कार्य को पूजा में और सब चिन्ता को ध्यान में परिणत करना तथा "वासुदेवः सर्वमिति" तत्त्व हृदयंगम करने के लिए सर्वभूत में भगवद्दर्शन एवं भगवान में सर्वभूत दर्शन करने की योग्यता लाभ करना। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सर्वं इदं अर्थात् समस्त दृश्य पदार्थ हमारी भाव-शुद्धि के फलस्वरूप क्रमशः सुन्दर और मधुर होकर भगवान में पर्यवसित होते हैं। जगत् में भगव-द्दर्शन अर्थात् जगत् में एकमात्र भगवत्सत्ता पूर्णरूप में विराजमान रहते हुए भी उनका दर्शन न कर पाने से उनके बदले द्रष्टा के संस्कार, आसक्ति और अज्ञान के फलस्वरूप जगद्दर्शन साधित हो जाता है। भगवान में वस्तुतः ये सब मलिनता नहीं रह सकती। हमारी चित्त-शुद्धि के फलस्वरूप सब दृश्य पदार्थ क्रमशः अधिकाधिक सुन्दर और मधुर रूप धारण करते हैं और अन्त में भगवान में पर्यवसित होकर "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" महावाक्य को सार्थक करते हैं। व्रजगोपियों के वस्त्रहरण अर्थात् अज्ञाना-वरण दूर होने के परिणामस्वरूप उनके लिए स्वरूपतः कृष्णदर्शन और तत्पश्चात् सर्वभूत में कृष्णदर्शन सहज, सुन्दर और स्वभाविक हो गया था।

कृतज्ञता प्रकाश—स्वस्तिवाचन (सबको सन्तुष्ट करके शुभकार्य में सबसे आशीर्वाद प्रार्थना करना) :—

"मनुष्य जन्म को प्राप्त होकर नाना प्रकार की शक्ति एवं सहायता नाना स्थान से संचारकर जीवन के पथ पर अग्रसर होना होता है। कोई भी दूसरे की अपेक्षा किये बिना केवल अपने बल पर नहीं चल सकता। इसलिए सब से प्राप्त उपकार को स्मरणकर यथाशक्ति सबके ऋण को शोध करना होता है। उपकार को स्मरण करने से ही उपकारी के ऋण से मुक्ति लाभ होती है और साथ साथ अपना अहंभाव भी दमन होता है एवं चरित्र में नम्रता आती है। गुरुवर्ग से ज्ञान, माता-पिता से देहलाभ, आत्मीय-स्वजनां और बन्धुबान्धवों से पार्थिव उपकार, जगज्जीव से सूक्ष्म और अदृश्य सहायता, देवगण से शक्ति व समृद्धि, संक्षेपतः विश्वरूप परमात्मा से प्रयोजनानुसार सब कुछ प्राप्ति होती है। इसलिए व्यष्टिभाव में सबको पृथक् पृथक् और समष्टिभाव में परमात्मा को अभिन्न-रूप में कृतज्ञता निवेदन करनी होती है।"

उपकारी का प्रत्युपकार करने की चेष्टा करना अन्ततः उसके उपकार का स्मरण करना आर्य-धर्म का एक प्रधान अंग था। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब तक पृथिवी पर एक भी जीव उनसे असन्तुष्ट रहेगा तब तक उनका भगवद्धाम में प्रवेश करना असम्भव है। सब का ऋण शोध करने के लिए, सबको सुखी करने के लिए, उनको बार बार भूलोक में आना पड़ेगा। स्वस्तिवाचन, पंचमहायज्ञ, इत्यादि ऋण शोध करने की ही व्यवस्था हैं। प्रत्येक शुभकार्य के पूर्व सब देवताओं को, सब जीवों को, आवाहन करने की प्रथा थी। इसके बाद तर्पण, श्रद्धांजलि, इत्यादि द्वारा भगवान से सब जीवों के लिए—यहाँ तक की पापी-तापी के लिए भी—कल्याण प्रार्थनाकर सब जीवों को सुखीकर, सबके मुख से 'स्वस्ति' अर्थात् 'तुम्हारा मंगल हो, तुम्हारा शुभकार्य निर्विघ्न सम्पन्न हो,' यह बचन कहलाने की व्यवस्था थी। स्वस्तिवाचन—'सु' अर्थात् 'मंगल,' 'अस्ति' अर्थात् 'हो या होवे'—यह क्रिया आर्यसभ्यता की सर्वश्रेष्ठता का का प्रमाण है। जिन्होंने ज्ञान प्रचार किया है वे सब हमारे गुरुवर्ग में हैं।

आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बान्धव तथा सब जीवों के निकट हम चिरकृतज्ञ हैं। भगवान, भगवत्-विभूतिस्वरूप देवतागण और जो हमारे प्रियकार्य साधन में नियुक्त हैं उनको नमस्कारकर उनके निकट कृतज्ञता प्रकाशकर उनका आदेश लेकर समस्त शुभकार्य किये जाते थे।

❀ ॐ गुरुभ्यो नमः ॐ बान्धवेभ्यो नमः
ॐ जीवेभ्यो नमः ॐ देवेभ्यो मनः
ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः।
अयमारम्भः शुभाय भवतु ॥७॥

ॐ गुरुभ्यो नमः [जिनसे हमने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ज्ञान लाभ किया है] (उन सब गुरुओं को नमस्कार) ॐ बान्धवेभ्यो नमः (माता, पिता, भाई, बन्धु इत्यादि बान्धवों को नमस्कार) ॐ जीवेभ्यो नमः (समुदय जीव को नमस्कार) ॐ देवेभ्यो नमः (देवगण को नमस्कार) ॐ विश्वरूपाय परमात्मने नमः (विश्वरूप परमात्मा को नमस्कार)। अयम् (यह) आरम्भः (अनुष्ठान) शुभाय (शुभ के निमित्त) भवतु (होवे) ॥

जिससे हमारा यह शुभकार्य निर्विघ्न परिसमाप्त हो इसके लिए कृपा करके हमको आशीर्वाद दीजिए। याद रखना होगा कि परमात्मा की कृपा हमारे ऊपर सब जीवों के द्वारा त्वरित होती है। (यहाँ एक बंगला भजन है)।

इस स्थल का संगीत साधक की माँ के निकट प्रार्थना का द्योतक है। माँ, तुम मुझको अपने गुण और भाव से परिभावित कर दो। मैं तुम्हारी आदर्श सन्तान में परिगणित होकर उत्तम पुरुष की आराधना करने की योग्यता लाभ करूँ। इतने दिन तुमको—अपने स्वरूप को—भूलकर संसार में भटक रहा था। यह भूल कैसी कठिन व्याधि है यह भी नहीं समझता था। बोधशक्ति सम्पूर्णतः लोप हो जाने के कारण दुःख को दुःख करके—अभाव को अभाव करके—भी नहीं समझ पाता था।

अब भगवत्-कृपा से बोधशक्ति कुछ जागरित हुई है और समझ में आने लगा है कि स्वरूप-विस्मृति कैसी कठिन व्याधि है। इसलिए अब इस व्याधि को दूर करने के लिए माँ से विनीत प्रार्थना मन में उठती है। माँ ने मेरी प्रार्थना अंगीकारकर मेरी व्याधि इतनी तक दूर कर दी है कि मातृ-विस्मृति (आत्मविस्मृति) कैसा कठिन रोग है यह उपलब्धि में आने लगा है। इसलिए अब यह प्रार्थना करता हूँ कि माँ तुम मुझको अपनी इच्छानुसार चालित करो, मेरे जीवन में तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे। याद रखना होगा कि साधनराज्य में हमको तैयार करने का, भगवान के पास पहुँचा देने का, भगवद्भाव से परिभावित करने का समस्त भार माँ के ऊपर है। माँ ने ही निर्गुण ब्रह्म को सगुण कर, हमारे ग्रहणयोग्य कर, हमारी भगवत्प्राप्ति का समस्त भार अपने हाथ में लिया है। गोपियों ने अपने प्राणेश्वर मदनमोहन को प्राप्त करने की योग्यता माँ की कृपा से ही लाभ की थी। कर्मक्षेत्र में यात्रा करने के पहले माँ का आशीर्वाद लेकर जाना होता है। 'मैं माँ की सन्तान हूँ' यह भाव मन में धारण कर, माँ की ओर दृष्टि निबद्धकर, कर्म में प्रवेश करना होता है। इस यात्रा के जो पाथेय हैं—अर्थात् वैराग्य, नाम में रुचि, जीव पर दया, अटल विश्वास, सत्य का अनुराग — ये सब माँ से ही प्राप्त होते हैं। माँ की शक्ति से शक्तिमान हुए बिना भगवत्-प्राप्ति एवं भगवत्-प्रिय-कार्य साधन असम्भव है।

वैदिकयुग के साधकगण संध्या के पूर्व उपलब्ध करने की चेष्टा करते थे कि भगवान (माँ) अपनी संतान को अपने पास वापस लाने के लिए कितने व्यस्त हैं। वे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध द्वारा उनका आवाहन उपलब्ध कर भगवान के पास जाने के लिए व्यस्त हो जाते थे। वैष्णवों की उत्तरगोष्ठलीला में गोपीयों की और माँ यशोदा की व्याकुलता का भाव यहाँ अस्वादनीय है।

शुद्धितत्त्व

शुद्धि साधारणतः तीन भागों में विभक्त है—जलशुद्धि, आसनशुद्धि और भूतशुद्धि। प्रसिद्ध पवित्र नद-नदी में स्नान कर साधन श्लोकादि (८ से १० तक) पाठ करने के बाद भगवान से चित्त शुद्ध करने के लिए कृपा प्रार्थना करना जलशुद्धि का प्रधान उद्देश्य है। आसन-शुद्धि का तात्पर्य है पवित्र आसन पर—जैसे "चैलाजिनकुशोत्तरम्" (गी० ६-११)—जिसके भीतर विद्युत्शक्ति साधारणतः यातायात न कर सके (best possible non-conductor)—देह को "समं कायशिरोग्रीवं" (गी० ६–१३) सीधा करके बैठना। मेरुदंड को सीधा करके बैठने से शरीरस्थ विद्युत् सरलता से यातायात करती है। साधन भजन के समय बहुधा विद्युत् की क्रिया परिलक्षित होता है। ऐसी अवस्था में पृथिवी के साथ शरीर का योग होने से शरीरस्थ विद्युत् पृथिवी में जाने के कारण देह का विशेष अनिष्ट कर सकती है। 'नेति नेति' साधन द्वारा पंचकोश विवेक की सहायता से साधक अपने आप को भूत के हाथ से शुद्ध करने की चेष्टा करता है। यह भूत के हाथ से निष्कृति लाभ करना 'भूतशुद्धि' के अन्तर्गत है। फिर न कहीं भूतग्रस्त हो जाएँ इस भय से सब भूतों को भगवद्भाव द्वारा शुद्ध करने की व्यवस्था भी 'भूतशुद्धि' के अन्तर्गत है। अपने आत्मा को भूत के पंजे से मुक्त कर देहस्थ भूतों को भगवत्-शक्ति से युक्त, भगवद्भाव से परिभावित करने की चेष्टा को 'भूतशुद्धि' कहा गया है। शरीर की शुद्धि स्नानादि द्वारा, मन की शुद्धि साधन श्लोकादि चिन्तन द्वारा, आत्मा की शुद्धि स्व-स्वरूप एवं भगवत्-स्वरूप की चिन्ता द्वारा, भगवान में तन्मयता लाभ द्वारा साधित होती है।

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्या-तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

भूतशुद्धि शब्द दो प्रकार से साधित होता है—पहले अपने आप को

भूत के अधिकार से शुद्ध करना, मुक्त करना, स्वरूपप्रतिष्ठ करना; तत्पश्चात् भूतों के संग वास करना होगा इसलिए सब भूतों को भी भगवद्भाव से परिभावित करके ऊपर उठाना। भूतों का अभौतिक (चित्तस्पर्श द्वारा विकृत) अंश दूरकर उनको अपहृत भौतिक अंश से पूर्ण करने का नाम 'भूतशुद्धि' है। अर्थात् भूत को संस्कार, अज्ञानतादि विजातीय भाव से मुक्त कर उसको ठीक भूतभाव में स्थापन करने का नाम 'भूतशुद्धि' है। इसी प्रकार चित्त को भूत के संस्कार से मुक्त कर केवल चिद्भाव से पूर्ण करके उसको स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का नाम 'चित्तशुद्धि' है। चित्त को आसक्ति, ममता, वृथाकर्तृत्वाभिमान से मुक्त कर केवल चित्त-स्वरूप में प्रतिष्ठित करना ही 'चित्तशुद्धि' है। जो स्वरूपतः जैसा है उसको आगन्तुक द्रव्य अथवा भाव से मुक्त करके उसको अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का नाम ही है शुद्ध करना। अर्थात् जो तत्त्व जिस उद्देश्य से सृष्ट हुआ है उसको केवल उसी कार्य में नियुक्त रखने से ही वह शुद्ध हो जाता है।

"शिवो भूत्वा शिवमर्चयेत्।
अविष्णुः पूजयन् विष्णुं न पूजाफलभाक् भवेत्"।

शिव होकर शिव की पूजा करनी चाहिए। अविष्णु होकर विष्णु की पूजा करने से पूजा का फल नहीं प्राप्त होता।

भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि क्रिया को 'कायशुद्धि' और 'भावशुद्धि' नाम से भी उल्लेख किया जाता है। त्रिविध देह की शुद्धि को 'कायशुद्धि' कहा जाता है। कायशुद्धि के फलस्वरूप देह की मलिनता दूर होकर गुरु की कृपा से दिव्य देह प्राप्त होती है। तत्पश्चात् इस दिव्य देह में (भगवद्धाम में) बैठकर अपने अनुकूल भावों की पुष्टि साधन करने से भावशुद्धि साधित हो जाती है। इसके लिए आवश्यकता है चित्त से प्रतिकूल भावों को निकाल देने की अथवा प्रतिकूल भावों को अपने भाव के अनुकूल कर लेने की। जैसे मधुर भाव का साधक (स्त्री) पति के

माता-पिता, आत्मीय स्वजन, बन्धु-बान्धवों की सेवा को पति के प्रिय होने के कारण पति की सेवा का ही अंग समझता है। इसमें मुख्य लक्ष्य है पति की सेवा, पति का तृप्तिविधान, पति का प्रियकार्य साधन। वस्तुतः मधुर भाव के अतिरिक्त अन्य कोई भाव की चिन्ता उसके मन में नहीं आयगी। भावशुद्धि को ही मानसिक तपस्या कहा गया है। थोड़ा विचार करने से ही समझ में आजायगा कि आसक्ति, ममता, अहंकार, प्रतिष्ठामोह, कर्त्तृत्वाभिमान एवं सुखस्पृहा ही चित्त को अशुद्ध करने के मुख्य कारण हैं। इसलिए निर्मम-निरहंकार आदि श्लोक चित्तशुद्धि में सहायक माने गये हैं।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत् ॥८॥

निर्मानमोहाः (जिनका अभिमान और मोह दूर हो गया है) जितसंगदोषाः (जो आसक्तिजन्य दोष से मुक्त हैं) अध्यात्मनित्याः (जो आत्मज्ञाननिष्ठ हैं) विनिवृत्तकामाः (जिनकी समस्त कामना-वासना विशेषतः निवृत्त हो गई हैं) सुखदुःखसंगैः द्वन्द्वैः विमुक्ताः (जो सुख दुःखात्मक द्वन्द्व से विमुक्त हैं) [ते] अमूढ़ाः (ऐसे अमूढ़ जन) तत् (परब्रह्म के) अव्ययं पदं (मोक्ष पद को) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं)।

* विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥६॥

यः पुमान् (जो पुरुष) सर्वान् कामान् विहाय (सब कामनादि त्यागकर) निस्पृहः (इच्छारहित) निर्ममः (ममत्वरहित) निरहंकारः (अहंकारवर्जित होकर) चरति (संसार में विचरण करता है) सः शान्तिम् अधिगच्छति (वह शान्ति लाभ करता है)

याद रखना होगा कि निर्मम-निरहंकार की साधना के लिए अंगन्यास और करन्यास की व्यवस्था की गई है। ममत्व भाव दूर करने के लिए

सब पदार्थों को शोधन कर भगवद् विभूति में पर्यवसित करना होगा। निरहंकार भाव लाभ करने के लिए तमोगुण से अभिभूत अहंकार को क्रमशः ऊपर उठाकर राजसिक और सात्त्विक भूमि भेद कर विशुद्ध सत्त्व में लेजाना होगा। इसकी साधनप्रणाली अंगन्यास और करन्यास के प्रसंग में देखिए। साधन राज्य में अनेक तामसिक भाव आकर प्रकृत सत्त्वगुण को अभिभूत कर अपने को सत्त्वगुण के स्थान पर बैठाना चाहते हैं। इन तमोगुणी भावों से रक्षा पाने के लिए उस समय रजोमिश्रित सत्त्वगुण का साधन करना होता है।

गायत्री जप

ॐ भूः ॐ भुवः ॐ स्वः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यं
ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ॥१०॥ (आत्मानं तेजोमयं विभावयेत्)

यहाँ गायत्री जप की सहायता से 'ॐ भूः ॐ भुवः' इत्यादि उच्चारण कर चित्त को भगवद्धाम (सहस्रार) में ले जाना होगा। 'ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं' इत्यादि उच्चारण कर भर्ग-देव का स्वरूप उपलब्ध करना होगा। इस स्थल में अपने सब तत्त्वों को भगवद्भाव से परिभावित कर भगवत्कार्य साधन में नियोग करने की व्यवस्था है। इसके बाद 'धियो यो नः प्रचोदयात्' उच्चारण कर अपने सब तत्त्वों को भगवद्भाव से परिभावित कर लेना होगा। और फिर 'ॐ' उच्चारण कर चित्त को फिर भगवद्धाम में ले जाकर भगवद्धामतत्त्व आस्वाद करना होगा।

"गायत्री का अर्थ—ॐकार अथवा प्रणव परब्रह्म का वाचक है। इसमें जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अथवा स्थूल-सूक्ष्म-कारण, ये तीन अवस्थाएँ बताने के लिए अकार-उकार-मकार इन तीन वर्णों का प्रयोग किया गया है। प्रकारान्तर से यह सृष्टि-स्थिति-संहार अथवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर इन तीनों तत्त्वों का वाचक है। उसके ऊपर अर्धमात्रा है जिसके अन्तर्गत

बिन्दु-नाद-कला ये तीन स्तर विद्यमान हैं। केवल यही नहीं, कला के अतीत शुद्ध आत्मा एवं तदनन्तर चित्‌कला की व्याप्ति कही जाती है। सुतरां प्रणव निम्नतम स्तर से निष्कल परम सत्ता तक ब्रह्मसत्ता का वाचक है।

'भूः भुवः स्वः' यह तीन महाव्याहृति हैं। भूः से भूर्लोक, भुवः से भुवर्लोक अथवा अन्तरिक्षलोक (शून्य) एवं स्वः से स्वर्गलोक की धारणा करनी चाहिए। इन तीनों लोकों के समाहार को त्रिलोकी कहते हैं। महाव्याहृति के स्वः को विश्लेषण करने से एक तरफ़ प्रचलित स्वर्ग अर्थात् इन्द्रलोक और दूसरी तरफ़ ऊर्ध्वस्थित महः, जनः, तपः एवं सत्यलोक पाये जाते हैं। इस हिसाब से सप्तव्याहृति अथवा सप्तलोक का संधान मिलता है। वस्तुतः ॐकार से ही भूः आदि सप्तलोक का आविर्भाव होता है। एक शब्द में ॐकार से ही समग्र सृष्टि प्रसव हुई है। ये ज्योतिर्मय आत्मरूपी सविता हैं। प्रसव करने के कारण ही इनका नाम सवितृ हुआ है। इनके दो भर्ग अथवा शक्ति हैं। एक वरेण्य अर्थात् प्रार्थनीय अथवा श्रेष्ठ, दूसरी अवरेण्य अथवा निकृष्ट। पहली का नाम विद्या है और दूसरी का अविद्या। दोनों ही परमात्मा की शक्ति हैं किन्तु हम वरेण्य भर्ग अथवा विद्या शक्ति का ही ध्यान करते हैं। यह ध्यान स्वयं करते हुए भी जीव-जगत् के प्रतिनिधि रूप में किया जाता है यह समझना होगा। जो कर्म सबके प्रतिनिधिरूप में किया जाता है उसका फल प्राप्त होने के समय सबमें विस्तृत हो जाता है। यह ध्यान व्यक्तिगत कर्म है इसमें सन्देह नहीं किन्तु यह निष्काम अथवा सर्वकाम है, इसलिए इसका फल सब जीव-जगत के उपभोग्य है। सविता दिव्य ज्योतिर्मय एवं चिदानन्दमय लीला-शक्तिसम्पन्न हैं। ध्यान के फलस्वरूप ध्यानकर्त्ता के हृदय में ध्येय वस्तु प्रतिष्ठित हो जाती है। उस समय ये भर्ग अन्तर्यामीरूप में उपासक के हृदय में जागरित होकर उसको समस्त ज्ञान एवं समस्त कर्म की प्रेरणा द्वारा चालित करते हैं।

'धी' शब्द से ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति दोनों ही अभिप्रेत हैं। ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियों के समस्त कार्य तब अन्तर्यामी द्वारा अनुष्ठित होते हैं। अपना अभिमानमूलक कर्तृत्व बिलकुल नहीं रह जाता। उपासक स्वयं साक्षी अथवा द्रष्टा होकर उपास्य अन्तरात्मा का ज्ञान और क्रिया दर्शन करता रहता है। देह में जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही अवस्थित हैं। जीवात्मा अभिमानशील है किन्तु उपासना के प्रभाव से अभिमानवर्जित होकर द्रष्टा होने में समर्थ होता है। पक्षान्तर में परमात्मा स्वभावतः अभिमानवर्जित हैं। वे अन्तरात्मारूप में देह के समस्त कार्य निष्पादन करते हैं। सब प्रकार का ज्ञान तथा क्रिया उनके अन्तर्गत है। ज्ञानेन्द्रिय द्वारा वे प्रत्यक्ष करते हैं, कर्मेन्द्रिय द्वारा अनुष्ठान करते हैं। जीव मुक्त होने पर उनका खेल देखकर धन्य होता है। यही गायत्री का तात्पर्य है"।

प्रत्येक जप में तीन तत्त्व देखने में आते हैं। गायत्री जप में भी ये तीनों तत्त्व वर्तमान हैं। ॐकाररूप व्याहृति की सहायता से मेरुदंडस्थ स्रोत को अवलम्बनकर छः चक्र अथवा स्तर भेदकर, सहस्रार में (ब्रह्म-धाम में) जाना होगा। वहाँ जाकर परमात्मा की भर्गशक्ति (ज्योति) में निमज्जित होकर भगवान से तन्मयता लाभ करना होगा। इसके बाद 'धियो यो नः प्रचोदयात्' उच्चारणकर चिन्तन करना होगा कि भगवज्ज्योति सहस्रार से नीचे की तरफ़ उतर रही है और उतरते समय हमारे सब तत्त्वों को भगवद्भाव से परिभावितकर, भगवत्कार्य साधन की योग्यता दानकर, भगवदिच्छा पूर्ण करने में नियुक्त कर रही है। प्राचीन ऋषियों ने कहा है कि जो ब्रह्मांड में है वही भांड में है। अर्थात् जगत् में जो कुछ है उसके सब रहस्य और सब तत्त्व हमारे व्यष्टिदेह में — यहाँ तक कि प्रत्येक परमाणु में—वर्तमान हैं। सृष्टि रहस्य का चिन्तन करके भगवद्धाम (सहस्रार) से तामसिक भूमि (मूलाधार) तक के स्थान को सात स्तरों में विभक्त किया गया है। इसका प्रत्येक स्तर एक निर्दिष्ट चक्र

और निर्दिष्ट तत्त्व की अधिष्ठान-भूमि है। हमारे मेरुदंड की मध्यवर्त्ती सुषुम्ना नाड़ी के मध्यस्थ सात चक्रों में सात तत्त्वों का—सप्तज्ञानभूमि का—अधिष्ठान निर्देश किया गया है। सप्तव्याहृति गायत्री जप की सहायता से हम सर्वनिम्न स्तर मूलाधार से सर्वोन्नत स्तर सहस्रार में जाने का सुयोग लाभ करते हैं। इसीलिए गायत्री जप में मन को प्राणवायु की सहायता से सर्व निम्न स्तर से क्रमशः ऊपर के स्तर की ओर ले जाने की व्यवस्था देखी जाती है। गायत्री जप में भगवान के निकट जाने के समय चित्त भगवज्ज्योति में निमग्न होकर धामतत्त्व आस्वाद करने में समर्थ होता है। प्राचीन ऋषिगण गायत्री की सहायता से भगवद्धाम में प्रवेश करने का सुयोग लाभ करते थे। इसके बाद "आत्मानं तेजोमयं विभावयेत्" उच्चारणकर अपने सब तत्त्वों को और समष्टिभाव में जगत् के सब तत्त्वों को तेजोमयरूप में, भगवद्भाव से परिभावितरूप में, उपलब्ध करने की चेष्टा करते थे।

धामतत्त्व

धामतत्त्व में सब कुछ अप्राकृत ज्योतिर्मय है। साधक के वहाँ पहुँच जाने पर उसके सब कार्य पूजा में परिणत हो जाते हैं। भगवद्धाम भजन का राज्य है। इस उपलब्धि के विषय में भगवान शंकर ने कहा है :—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः
गांगं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिशिरा वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितरस्य वस्तुविषया दृष्टे परब्रह्मणि ॥

अन्यत्र उन्होंने फिर कहा है :—

संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः।
यद्यत् कर्म करोमि तत् तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥

वैष्णव कवियों ने भी कहा है कि वहाँ सब कुछ अप्राकृत है, आनन्द

और शान्ति का अपूर्व समावेश है। 'कथा गानं नाट्यं गमनमपि'। वहाँ की 'चिदानन्द-ज्योतिः' परम अर्थात् आस्वादन के अतीत होने पर भी आस्वाद्य हो जाती है।

"धाम शब्द का अर्थ है ज्योतिः अथवा तेज। इसको आश्रय करके ही स्वरूप-तत्त्व प्रकाशित होता है। मूल में स्व-स्वरूप और इष्ट-स्वरूप एक होने पर भी उपासना अथवा भजन की सुविधा के लिए एवं रस की अभिव्यक्ति के लिए दोनों को पृथक्-पृथक् प्राप्त करना होता है। मायिक जगत् और मायिक देह के संवेष्टन से अपने आप को मुक्त कर ज्योति में अपने नित्य रूप को दर्शन करना होता है। अपना नित्यरूप प्रकाश होने के साथ ही वह ज्योति ज्योतिर्मय-राज्यरूप में आत्मप्रकाश करती है। इस राज्य के अधिष्ठाता जो बिन्दु अथवा केन्द्र में विराज करते हैं तब भी प्रकाशित नहीं होते। धाम में प्रवेश करने पर अपना नित्यस्वरूप उपलब्धकर क्रमशः इष्ट का स्वरूप दर्शन और आस्वादन करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो गुणातीत, स्वयंप्रकाश, निर्विकार, चिदानन्दमय परमज्योतिः ही धामतत्त्व है। भावुक की भावनानुसार यह नाना रूप में प्रकट हो सकती है किन्तु तत्त्व एक ही है। माया अतिक्रान्त हुए बिना धामतत्त्व प्रकाशित नहीं होता"।

❀ द्वन्द्वातीतं त्रिगुणरहितं स्वप्रकाशस्वरूपं
शान्ताकारं गगनसदृशं निर्विकारं वरेण्यम्।
भक्तैर्जुष्टं विमलनिलयं योगिभिर्ध्यानगम्यं
नित्यानन्दं परमसुखदं चेतसा तं स्मरामि ॥११॥

द्वन्द्वातीतं (सुखदुःखादि द्वन्द्वातीत) त्रिगुणरहितं (सत्त्व, रजः, तमः त्रिगुणरहित) स्व-प्रकाश-स्वरूपं (स्व-प्रकाशस्वरूप) शान्ताकारं (शान्ताकार) गगनसदृशं (आकाश के समान व्यापी) निर्विकारं (विकाररहित) वरेण्यं (सर्वोत्तम, वांछनीय) भक्तैः जुष्टं (भक्तवृन्द द्वारा परिसेवित) विमल-निलयं (विमल आनन्दधामस्वरूप) योगिभिः

(योगीगण के) ध्यानगम्यं (ध्यान द्वारा गम्य) नित्यानन्दं (नित्यानन्द-स्वरूप) परम-सुखदं (परम सुख देनेवाले) तं (उस भगवद्धाम को) चेतसा (चित्त द्वारा) स्मरामि (मैं चिन्तन करता हूँ) ।

अर्थात् कूटस्थ में अवस्थित भगवद्धाम ज्योतिर्मय, गुणातीत, निर्विकार, आनन्दरस-परिभावित और भक्तजन-सेवित है । साधक अपने को ज्योतिर्मय भगवद्धाम में अपने इष्ट के सम्मुख अवस्थित चिन्तन करता है । याद रखना होगा कि धामतत्त्व अप्राकृत चिन्मय है, श्रीभगवान की सत्-शक्ति से उत्पन्न और सत् का ही विकार है, अनन्त कल्याण-गुण की खान है और अशेष सौन्दर्य-माधुर्य-रस के पूर्ण विकास के अनुकूल है । वहाँ के सब तत्त्व चिन्मय, सुन्दर, मधुर, भगवद्भाव से परिपूर्ण और भगवल्लीला के सहाय हैं । साधक विरजा (वैतरणी) पारकर, अप्राकृत देह लाभकर, जब भगवद्धाम में प्रवेश करता है तो अनुभव करता है कि सभी ज्योतिर्मय है । तब उस ज्योति में अपना स्वरूप, भगवत्-स्वरूप तथा दोनों के भीतर का सम्बन्ध स्वतः स्फुरित होने लगता है ।

स्वरूपतत्त्व

"धाम प्रकाश के साथ साथ अपना स्वरूप भी प्रकाशित हो जाता है । जब तक माया का आच्छादन है तब तक धाम प्रकट नहीं होता, न अपना स्वरूप ही प्रकट होता है । अपना स्वरूप सत्य, चैतन्य एवं आनन्द है । परमात्मा का स्वरूप भी ऐसा ही है । परमार्थ दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं । अपना स्वरूप दिव्य, शोक-दुःखातीत एवं चिन्मय ब्रह्मात्मक है । यद्यपि परमात्मा के और अपने स्वरूप में वास्तविक कोई भेद नहीं तथापि देह में रहते हुए 'तुम और मैं' का भाव रहता ही है । इसलिए अद्वैत-स्वरूप में भी द्वैत का आभास वर्तमान रहता है । भगवान अथवा परमात्मा अनादिमुक्त हैं किन्तु जीव माया को अतिक्रम करके मुक्त हो जाने पर भी आदि-मुक्त ही कहा जा सकता है अनादिमुक्त नहीं ।

इसलिए तात्त्विक दृष्टि से दोनों एक होते हुए भी भगवान अंशी हैं और जीव उनका सनातन अंश है। इसके फलस्वरूप जीव भगवान के सहित अपना सम्बन्ध आश्रय और आश्रित रूप में ही धारण करता है। जीव अपने को भगवान का अंश चिन्तन कर सकता है किन्तु भगवान को अपना अंश चिन्तन नहीं कर सकता। जैसे समुद्र और तरंग जल रूप में एक ही हैं किन्तु समुद्र की तरंग कही जा सकती है, तरंग का समुद्र नहीं कहा जासकता। इसी प्रकार जीव और परमात्मा दोनों स्वरूपतः चिन्मय एक होने पर भी जीव भगवान को 'तुम मेरे हो' कहकर चिन्तन नहीं करसकता। 'मैं तुम्हारा हूँ' यह भाव उसके लिए उपयोगी है।"

धाम तत्त्व के स्फुरण के फलस्वरूप साधक के भीतर के आवरण स्वतः अपसारित हो जाते हैं और आत्मा का प्रकृत स्वरूप उसके चित्त में स्फुरित होने लगता है। पंचकोश-विवेक एवं नेति नेति साधना का जो लक्ष्य है वह धाम-साधना के प्रभाव से स्वतः साधित होजाता है। तब साधक समझता है कि वह देह नहीं है आश्रमी नहीं है; वह निःसंग, निष्क्रिय, सर्वोपाधि-विवर्जित है।

❀ अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवास्मि न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥१२॥

अहं देवः (मैं देवता हूँ) अन्यः च न अस्मि (अन्य कुछ नहीं हूँ) ब्रह्म एव अस्मि (मैं निश्चय ब्रह्मस्वरूप हूँ) शोकभाक् न (मैं शोक भोग नहीं करता—शोक मुझे स्पर्श नहीं कर सकता) अहं सच्चिदानन्द-रूपः (मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ) नित्य-मुक्त-स्वभाववान् (नित्य मुक्त होते हुए भी लीलारत हूँ)।

नाहं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी संगवर्जितः।
निष्क्रियो निस्पृहः शान्तः सर्वोपाधिविवर्जितः ॥१२(क)॥

अहं विप्रादिकः वर्णः न (मैं ब्राह्मणादि वर्ण नहीं हूँ) आश्रमी न (ब्रह्मचर्यादि आश्रम अवलम्बी नहीं हूँ) [मैं] संगवर्जितः (अनासक्त

हूँ अर्थात् देहादि, आत्मीय-स्वजन, सुख-दुःखादि के साथ मेरा किसी प्रकार का पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं है) निष्क्रियः (कर्तृत्वाभिमान रहित) निस्पृहः (इच्छारहित) शान्तः (शान्त) सर्वोपाधिविवर्जितः (सब प्रकार की उपाधि रहित) [हूँ] ।

नाहं देहो न मे देहो निष्कलो गगनोपमः ।
निराकारो निराधारः शुद्धविज्ञानविग्रहः ॥१२(ख)॥

अहं देहः न (मैं देह नहीं हूँ) देहः मे न (देह मेरी नहीं है— अर्थात् देह के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है) [मैं] निष्कलः (कला रहित, भेदरहित, पूर्ण) गगनोपमः (गगन के समान व्यापी) निराकारः (निराकार) निराधारः (निराधार) शुद्धविज्ञानविग्रहः (शुद्ध-विज्ञान-विग्रह स्वरूप) [हूँ] ।

धामतत्त्व में जाकर जब आत्मदर्शन लाभ होता है तब 'मैं पापी हूँ' (पापोऽहं पापकर्माहं इत्यादि)—यह भाव नहीं रह जाता ।

साधक को इस स्थल में पहुँचकर अपना नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव उपलब्ध हो जाने के कारण भगवान के साथ एक तादात्म्य भाव आ जाता है । फिर भगवान से किसी प्रकार का भेदभाव उपलब्धित नहीं होता । तब प्रेममय भगवान मानो भक्त को अपने हृदय से चिपका लेते हैं और भक्त और भगवान दोनों ही आनन्द में समाहित हो जाते हैं, किसी को अपना स्वरूप चिन्ता करने का सुयोग नहीं मिलता । इस अवस्था में भक्त और भगवान में किसी प्रकार का भेद रहता है या नहीं, इस विषय में पंडितों ने अनेक तर्क-वितर्क किया है किन्तु प्रेमिक भक्त चेतना लाभ करते ही अपने को भगवान का दास समझकर उनके चरणों में लोटना चाहता है । भगवान चाहते हैं भक्त को अपने हृदय से लगाकर रखना किन्तु भक्त चिरकाल दास्यभाव से उनकी सेवा करना चाहता है । जब तक अपने अस्तित्व का ज्ञान रहता है तब तक साधक भक्त दास्यभाव छोड़ने को तैयार नहीं होता ।

❀ सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥ १३॥

भेदापगमे सति अपि [भगवान में और जीव में] (पारमार्थिक दृष्टि से भेद न होते हुए भी) [मैं कहूँगा] नाथ (हे नाथ) अहं तव (मैं तुम्हारा हूँ) त्वं मामकीनः न (तुम मेरे नहीं) । [जैसे] तरंगः (लहर) सामुद्रः हि (समुद्र की होती है) समुद्रः क्वचन तारंगः न (समुद्र तरंग का कभी नहीं कहा जासकता) ।

धाम में प्रवेश कर अपना प्रकृत स्वरूप, भगवत्स्वरूप एवं दोनों के भीतर का सम्बंध उपलब्ध हो जाने पर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने की एक तीव्र अभिलाषा उत्पन्न होती है । उस समय भगवत्कृपा-शक्ति सद्गुरु लाभ में सहायक होती है । इस सहायता लाभ से साधक की इच्छा पूर्ण होनी सम्भवपर हो जाती है ।

गुरुतत्त्व

"गुरु का स्वरूप—भगवान अथवा परमात्मा एकाधार में साधक के गुरु और इष्ट दोनों ही हैं । उनका स्वरूप सच्चिदानन्दमय है । वे निराकार, निष्कल और निर्गुण होते हुए भी साकार, सकल और सगुण हैं; सब वर्णों के अतीत होते हुए भी सर्ववर्णमय हैं । वे विश्वातीत भी हैं और विश्वात्मक भी । जैसे यह कहना सत्य है कि उनकी काया नहीं है वैसे ही यह भी सत्य है कि उनकी चिदानन्दमय काया है । समस्त देवी-देवता जिनके आंशिक स्फुरण हैं और जिनको आश्रय करके उनकी शक्तियाँ अपना अपना काम करती हैं वे ही इष्ट हैं और वे ही गुरु हैं ।" (परिशिष्ट में 'गुरु-इष्ट-भगवान-तत्त्व' द्रष्टव्य है) ।

❀ इष्टदेवस्वरूपो यः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
शुद्धो बुद्धः प्रमुक्तश्च गुरुरादर्शमानवः ॥१४॥

गुरुः आदर्शमानवः (गुरु आदर्श मनुष्य हैं) यः (जो) इष्टदेव-स्वरूपः (पुरुषोत्तम के जीवन्त विग्रहस्वरूप हैं) सच्चिदानन्द-विग्रहः (सच्चिदानन्द की घनीभूत मूर्त्ति के समान हैं) शुद्धः बुद्धः प्रमुक्तः च (शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप हैं)। इस अवस्था में शुद्ध चित्त में तीव्र पिपासा उदय होने के कारण सद्गुरुतत्त्व का स्फुरण और सद्गुरु लाभ स्वाभाविक हो जाता है।

हम इष्टदेव को सम्मुख नहीं देखपाते इसलिए उनको जानने के लिए एक ऐसे महापुरुष की सहायता लेते हैं जिनके कर्म, वचन और भावं द्वारा इष्टतत्त्व हमारे अनुभववेद्य हो सकें; जो सत्ता, चैतन्य और आनन्द की पूर्ण प्रकटित तथा अपूर्व-समन्वय प्राप्त मूर्ति हों; जो कामना-वासना से पूर्णतया मुक्त हों; जो अपने ज्ञान द्वारा हमारी अज्ञानता दूर कर सकते हों; जो स्वयं स्वरूप-प्रतिष्ठ हों और हमारी स्वरूप-प्रतिष्ठा में सहायक हो सकते हों; जो स्वयं मुक्त होने के कारण कर्म, वचन और भाव द्वारा हम को मुक्ति के पथ पर ले जा सकते हों।

इष्ट की महिमा ऐसी है कि उनका एक बार दर्शन हो जाने से ही और किसी वस्तु को देखने का साध नहीं रहता, उनको जानकर और कुछ जानने को बाक़ी नहीं रहता, उनको प्राप्त करके और कुछ प्राप्त करने को बाक़ी नहीं रहता।

यद् दृष्ट्वा नापर दृश्यं यद् भूत्वा न पुनर्भवः।
यद् ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तदिष्टमवधारय॥

भगवत्तत्त्व

योगी-ऋषिगण किस प्रकार पहले ज्योति दर्शन करते हैं और फिर इस ज्योति के भीतर से किस प्रकार भगवत्तत्त्व का स्फुरण होता है, गुरु की कृपा से इसका रास्ता खुल जाता है। भगवत्-अस्तित्व का आभास पहले ज्योति-दर्शन रूप में मिलता है। इसके फलस्वरूप मिलन की इच्छा

जाग उठती है और व्याकुलता आ जाती है। तब क्रमशः चित्त शुद्ध होकर भगवत्-प्राप्ति की इच्छा को प्रबल कर देता है। भगवान का प्रकृत स्वरूप वाक्य-मन के अगोचर है। यह मूकास्वादन के भाँति अनिर्वचनीय है। जिन्होने जानलिया है वे भी प्रकाश नहीं कर सकते। तटस्थ लक्षण द्वारा ऋषियों ने इसका एक आभास मात्र देने की चेष्टा की है।

❀ यं ब्रह्मा वरुणेन्द्र-रुद्र-मरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदै गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थित-तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥१५॥

यं (जिनकी) ब्रह्मा वरुण-इन्द्र-रुद्र-मरुतः (ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण) दिव्यैः स्तवैः (दिव्य स्तव द्वारा) स्तुन्वन्ति (स्तुति करते हैं) यं सामगाः (जिनका सामवेद के गायकगण) सांग-पद-क्रम-उपनिषदैः (अंग, पद, क्रम एवं उपनिषदादि सहित वेदगान द्वारा) गायन्ति (कीर्तन करते हैं) यं योगिनः (जिनको योगीगण) ध्यानावस्थित-तद्गतेन मनसा (ध्यान में अवस्थित हुए तद्गत चित्तद्वारा) पश्यन्ति (उपलब्ध करते हैं), सुर-असुरगणाः (देवता और असुरगण) यस्य अन्तं न विदुः (जिनके अन्त को नहीं जानते हैं), तस्मै देवाय नमः (उन देवता को नमस्कार)।

भगवत्-स्वरूप—"ब्रह्म उभय लिंगक है। उनके सगुण रूप से शक्ति अभिव्यक्त होकर कार्य करती रहती है किन्तु उनके निर्गुण रूप में शक्ति अन्तर्लीन होने के कारण किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती। वस्तुतः जो निर्गुण हैं वे ही सगुण हैं। एक ही समय उनमें दोनों लिंग विद्यमान हैं। दोनों में जो विरोध प्रतीत होता है वह केवल लौकिक दृष्टि का है किन्तु स्वरूप में कोई विरोध नहीं। समस्त गुण एवं समस्त क्रिया उसी निर्गुण निष्क्रिय सत्ता से प्रादुर्भूत होते हैं।

वे स्वरूपतः सत्य-ज्ञान-आनन्द-स्वरूप हैं। उनमें कोई क्रिया नहीं है, कोई विकार नहीं है—यही उनके स्वरूप का लक्षण है। किन्तु जगत् में सृष्टि-स्थिति-संहार उनको अवलम्बन करके ही होता है। इसलिए वे ही जगत् के सृष्टि, रक्षा और संहार कर्त्ता हैं। यही उनका तटस्थ लक्षण है।

जगत् में जीव और जड़ रूप में विभक्त अनन्त पदार्थ हैं। सब के भीतर निगूढ़ भाव में एवं सबके कर्मों के नियामक रूप में जो महासत्ता विद्यमान है वे ही ब्रह्म-स्वरूप हैं। वे बहु में प्रकाशमान होते हुए भी स्वरूपतः एक, असंग और साक्षी-स्वरूप हैं। वे सर्वातीत होते हुए भी सर्वव्यापक हैं। वे समस्त जीवों के अन्तर्यामी हैं।"

उपनिषद में ब्रह्म की वर्णना निर्गुण और सगुण इन दो भावों में की गई है। सगुण भाव गुण-विषय-युक्त और जीवके अनुभववेद्य है, निर्गुण भाव अनुभूति के बाहर है। ब्रह्म तो क्या एक सामान्य परमाणु के सम्बन्ध में भी हम कुछ जानते हैं (जो सगुण के अन्तर्गत है) और अनेकांश नहीं जानते (जो निर्गुण के अन्तर्गत है) अर्थात् सभी वस्तु सगुण-निर्गुण भाव की मिलित मूर्ति हैं। 'सब जानता हूँ' कहना जैसी भूल है, 'कुछ नहीं जानता' कहना भी उसी प्रकार असत्य है। "नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च" इत्यादि—'कुछ नहीं जानता' यह भी नहीं कह सकता और 'सब जान लिया' यह भी नहीं कह सकता। जो कुछ ज्ञात हुआ है अर्थात् जिस अवधि तक वे हमारे निकट आत्मप्रकाश कर हमारे ज्ञान के विषयीभूत हुए हैं उसीका नाम 'सगुण' है। उनका सगुण रूप हमारे लिए मूर्त्त, प्रकटित अथवा व्यक्त है। उससे ऊपर की अज्ञात अवस्था का नाम 'निर्गुण' तत्त्व है। निर्गुण रूप अव्यक्त तथा अमूर्त्त है। सगुण भाव व्यक्त अवस्था है—क्षर भाव के अन्तर्गत है। निर्गुण भाव अक्षर, निर्विकार, शान्त भाव के अन्तर्गत है। सगुण भाव विश्व में अनेकांश प्रकटित है, निर्गुण भाव

जीव की धारणा के अगम्य एवं विश्वातीत है। निर्गुण भाव को पाश्चात्य दार्शनिकों की भाषा में 'Being' (भव) एवं सगुण भाव को 'Becoming' (भाव का तत्त्व) कहा जा सकता है। ब्रह्म का जो अंश शक्ति के गुण द्वारा आत्मप्रकाश कर हमारे ग्रहणयोग्य होता है वही सगुण तत्त्व है। सभी पदार्थों में हम सगुण-निर्गुण का अपूर्व समन्वय देखते हैं; सगुण भाव अवलम्बन द्वारा ही निर्गुण की ओर जा सकते हैं। जो कुछ ज्ञात हुआ है उसकी सहायता से अज्ञात तत्त्व को प्राप्त करना साधना का उद्देश्य है। सगुण-निर्गुण का विरोध लौकिक दृष्टि में है स्वरूप में नहीं। समस्त गुण और क्रिया उसी निर्गुण निष्क्रिय सत्ता से आविर्भूत होते हैं। निर्गुण भाव में जो धारणा के अतीत अर्थात् वाक्य-मन के अगोचर हैं सगुण भाव में वे ही सब वाक्यों, सब शास्त्रों, सब चिन्ताओं और सब इन्द्रियों के गोचर हैं। जो स्वरूपतः अव्यक्त अक्षर निर्गुण विश्वातिग है वे ही व्यक्त क्षर सगुण एवं विश्वात्मक हैं। केवल यही नहीं, उनका परम स्वरूप (अर्थात् निर्गुण भाव) विश्वात्मक प्रकट स्वरूप में भी अक्षुण्णभाव में नित्य अवस्थित है। इसी रूप में वे अशेष कल्याण-गुण की खान हैं। वे विधाता, करुणामय, सृष्टि-स्थिति-लय कर्त्ता हैं। वे गम्भीरता में परम और चरम सार तत्त्व हैं एवं व्यापकता में परम होने के कारण सर्वगत हैं। इसी लिए उनको 'परमात्मा' कहा जाता है। वे विश्वातीत होते हुए भी विश्वमय, उदासीन होते हुए भी सर्वभूत-हित में रत हैं। उन्हीं में समस्त विरुद्ध भावों का अपूर्व समन्वय पाया जाता है। सगुण-निर्गुण का उल्लेख उपनिषदों में इस प्रकार किया है—

ॐ द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तंचैवामूर्त्तंच क्षरश्चाक्षरश्च,
सगुणो निर्गुणश्च विश्वानुगो विश्वातिगश्च ॥१६॥

द्वे वाव ब्रह्मणः रूपे (ब्रह्म के दो रूप प्रसिद्ध हैं) मूर्त्तं च अमूर्त्तं च एव (व्यक्त एवं अव्यक्त) क्षरः च अक्षरः च (क्षर एवं अक्षर)

सगुणः निर्गुणः च (सगुण अर्थात् क्रियाशील एवं निर्गुण अर्थात् निष्क्रिय) विश्वानुगः विश्वातिगः च (विश्वमय एवं विश्वातीत अर्थात् व्यक्त एवं अव्यक्त)। वे स्वरूपतः अव्यक्त हैं एवं व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त हैं।

इस श्लोक का पूर्वार्ध उपनिषद से लिया गया है और परार्ध उपनिषद के भाव और शब्द अवलम्बन करके संग्रह किया गया है। गुण के भीतर से गुण का विभाव यदि रूप-शब्द-स्पर्शादि द्वारा प्रकट न हो तो हम शक्तिमान को नहीं पहचान सकते—यहाँ तक कि शक्तिमान के अस्तित्व में विश्वास करना भी कठिन हो जायगा। मैं अगर घर में हूँ तो जब तक कोई मेरा मुख न देखे या मेरी आवाज़ न सुने तब तक किसी को कैसे मालूम होगा कि मैं अन्दर हूँ। भगवान यदि अपनी शक्ति द्वारा, पंच-तन्मात्रा द्वारा, आत्मप्रकाश न करते और हमारी शक्ति भी उपयुक्त ग्रहण-योग्यता लाभ न करती तो उनके अस्तित्व में विश्वास करना प्रायः असम्भव हो जाता। लीलामय भगवान जब लीला के निमित्त अपनी शक्ति द्वारा आत्मप्रकाश करते हैं तभी उस प्रकटित भाव में—व्यक्तावस्था में—उनको जानने, समझने, प्राप्त करने का सुयोग मिलता है। जब उनकी विमर्श शक्ति लीलारत होती है तब वे सगुण हैं। जब विमर्श शक्ति अन्तर्लीन हो जाती है तब वे निर्गुण हैं। निर्गुण ब्रह्म को लीला करने की इच्छा होते ही गुण और क्रिया उनके भीतर से आत्मप्रकाश करते हैं।

❀ सगुणः शक्तियुक्तश्च निर्गुणः सुप्तशक्तिकः।
लीलया वापि युज्येरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः ॥१७॥

[भगवान] शक्तियुक्तः च सगुणः (शक्तियुक्त होकर ही सगुण होते हैं) सुप्तशक्तिकः निर्गुणः (शक्ति की सुप्तावस्था में वे निर्गुण हैं) निर्गुणस्य वा अपि (भगवान् स्वरूपतः निर्गुण होते हुए भी) लीलया (लीला के हेतु) गुणाः क्रियाः युज्येरन् (गुण और क्रिया उनमें

प्रकटित होते हैं)। अर्थात् निर्गुण के जो गुण और क्रिया हैं वे उनके लीलावश होने से ही प्रकट होते हैं।

ब्रह्म का निर्गुणात्मक भाव—

ॐ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म
ॐ आनन्दरूपममृतं यद् विभाति
ॐ शान्तं शिवमद्वैतम् ॥१८॥

यत् (जो) आनन्दरूपम् अमृतं (आनन्दरूप में अमृतरूप में) शान्तं शिवम् अद्वैतं (शान्त, शिव एवं अद्वैतरूप में) विभाति (प्रकाशित होते हैं) [वे] सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म (सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्तस्वरूप ब्रह्म हैं)।

ब्रह्म सत्-स्वरूप हैं। वे षड्विध विकार (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति) वर्जित हैं। वे विकारयुक्त जगत् में रहते हुए भी जगदतीत हैं। वे सर्वदा समस्त गुण-क्रिया सहित लीला-रत रहते हुए भी उसमें उदासीन हैं। उनको प्राप्त करने के लिए हमें भी सब प्रकार के असद्भाव को वर्जन करना होगा। उनके सत् स्वरूप होने के कारण उनके सान्निध्य से हमारे भीतर विशुद्ध सत्त्व भाव का प्रकाश होगा। वे ज्ञानस्वरूप, ज्योतिर्मय हैं। उन्हीं की ज्योति से जगत् आलोकित है। उनकी चित्-शक्ति के अवलम्बन द्वारा जगत् में चित् का (ज्ञान का) खेल हो रहा है। उन ज्ञानस्वरूप की साधना करके साधक समस्त ज्ञान से भूषित हो जाता है। वे अनन्त हैं ; उनको जानना, समझना, प्राप्त करना कभी शेष नहीं हो सकता। वे समस्त ज्ञान और प्रेम की पूर्ण परिणत अवस्था में अवस्थित हैं। Any knowledge, love, etc. raised to the power infinity is the knowledge, love, etc. of God। कोई भी ज्ञान अथवा कोई भी प्रेम पूर्णता को प्राप्त होने पर भगवत्-ज्ञान अथवा भगवत्-प्रेम में परिणत हो जाता है। वे अनन्त स्वरूप हैं

इसलिए उनका साधक कभी भी किसी प्रकार के सीमाबद्ध भाव से तृप्त नहीं हो सकता। उनके ध्यान के फलस्वरूप समस्त वृत्तियाँ असीम तक प्रसारित हो जाती हैं। वे ब्रह्म हैं—सर्वापेक्षा वृहत् हैं। गम्भीरता में परम होने के कारण वे चरम सार तत्त्व हैं, व्यापकता में परम होने के कारण वे सर्वव्यापी हैं। वे अपने साधक को गंभीरता और व्यापकता की चरमावस्था में ले जाय बिना नहीं छोड़ते। उनका साधक भी परम सार तत्त्व को जाने अथवा प्राप्त किये बिना, सर्वभूत में अनुभव किये बिना, तृप्त नहीं होता। वे 'आनन्दरूपममृतम्' हैं इसलिए जगत् में जो कुछ आनन्द है वह उन्हीं आनन्दस्वरूप का आंशिक प्रकाश है। "एतस्यैव आनन्दस्य मात्रामुपजीवन्ति। तारतम्येन वर्तन्ते ब्रह्मानन्द लवाश्रया"। समस्त जीव और देवता उन्हीं के आनन्द का कण पाकर आनन्द में विभोर हैं। ब्रह्म के आनन्द स्वरूप होने के कारण ही तो हम उनके भक्त में निरानन्द की छाया भी नहीं देखते। उनके आनन्द का कभी अभाव नहीं होता। इस ब्रह्ममंत्र का साधक ब्रह्ममंत्र जप के फलस्वरूप सर्वदा ब्रह्मभाव से परिभावित रहता है। फिर वे 'शान्तम्' हैं, उनमें कोई चंचलता नहीं है। इसलिए उनको प्राप्त करने के लिए हमको भी 'सुशान्तसर्वेन्द्रियवृत्तिमन्तः' होना होगा। वे साधक के अतिरिक्त और किसी के अनुभववेद्य नहीं। वे 'शिवम्' हैं, जगत्-जीव के कल्याण में तत्पर हैं। निस्स्वार्थ भाव से जगज्जीव की सेवा में रत हुए बिना उनका स्वरूप समझ में नहीं आ सकता। वे 'अद्वैतम्' हैं— सर्वदा अखंड अद्वैत तत्त्व में अवस्थित हैं। जो समस्त द्वैत भाव वर्जनकर सर्वत्र एकत्व भाव की उपलब्धि में, एकत्व भाव के प्रचार में, व्रती हैं वेही केवल उनका अखंड स्वरूप उपलब्ध कर सकते हैं।

ब्रह्म का शान्तभाव (state of perfect equilibrium) गीता के 'समत्वं ब्रह्म उच्यते' भाव का द्योतक है। 'शिवम्' शब्द परमात्मभाव का द्योतक है। इस अवस्था में ब्रह्म के भीतर क्रिया शक्ति का विकास

लक्षित होता है; वे जीव के कल्याणसाधन में कितने व्यस्त हैं, यह अनुभव में आता है। 'अद्वैतम्' शब्द वैष्णवों के भगवत्तत्त्व का द्योतक है। भगवद्धाम में भगवान के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं, वे ही लीला के हेतु परिकर और धामादि रूप में आत्मप्रकाशकर लीलारत हैं और सब कुछ उन्हीं की विभूति है, यह तत्त्व आस्वाद किया जाता है। वे हैं, वे अपरिवर्तनीय और विकाररहित हैं, यही उनके सत्यभाव का द्योतक है। वे ज्ञानस्वरूप, ज्योतिःस्वरूप, शक्तियुक्त हैं एवं शक्तितत्त्व द्वारा लीला करने में व्यस्त हैं। सब कुछ वे ही हैं—'वासुदेवः सर्वमिति'। यही ज्ञानतत्त्व की महिमा है। हम उनके 'अनन्त' तत्त्व द्वारा उनकी गंभीरता की एवं 'ब्रह्म'-तत्त्व द्वारा उनकी व्यापकता की चरमावस्था लक्ष्य कर सकते हैं। 'आनन्दरूपममृतम्' भाव भगवान के प्रकृत स्वरूप का—'रसो वै सः,' 'मधु ब्रह्म,' इत्यादि भाव का—द्योतक है। 'शान्तं शिवमद्वैतम्' शब्द में साधनराज्य का एक गूढ़ तत्त्व निहित है। साधनराज्य में पहला काम है संयत होना, दूसरा काम है जीवसेवा, तीसरा काम है अद्वैततत्त्व आस्वाद करना।

ब्रह्म का सगुणात्मक भाव—सगुण ब्रह्म सृष्टि-स्थिति लय-कर्त्ता, अन्तर्यामी विधाता हैं। इस श्लोक में ब्रह्म का तटस्थ लक्षण पाया जाता है।

❀ ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,
येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति,
तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म तद् ब्रह्मेति ॥१९॥

यतो वा (जिनसे) इमानि भूतानि (यह समुदय जगत्) जायन्ते (उत्पन्न होता है), येन जातानि जीवन्ति (जिनकी शक्ति से उत्पन्नभूत समुदय जीवित है); यत् प्रयन्ति (जिनमें लीन होता है), अभिसंविशन्ति (जिनके भीतर जाकर जीव लीलाराज्य में प्रवेश करने का अधिकार लाभ

करता है), तद् विजिज्ञासस्व (उनको सविशेष जानने के लिए तत्पर हो), तद् ब्रह्म, तद् ब्रह्मेति (वे ही ब्रह्म हैं, वे ही [सगुण] ब्रह्म हैं)।

'यत् प्रयन्ति' से उनमें लय हो जाना अभिप्रेत है। इसके पश्चात् 'अभिसंविशन्ति' शब्द से जीव के लीन हो जाने के बाद भी वे जो समस्त सृष्ट पदार्थों को तद्भाव से परिभावित कर अपनी लीला के सहायभूत कर लेते हैं, इसका आभास मिलता है। सृष्टि-स्थिति-लय द्वारा जीवत्व का पूर्ण विकास साधनकर उसको अप्राकृत धाम में ले जाकर जो लीला के सहाय कर लिया जाता है, यह भी सगुण ब्रह्म के लक्षण के अन्तर्गत है। 'प्रयन्ति' शब्द लय-योग के 'अनुप्रविष्ट' भाव का और 'अभिसंविशन्ति' 'अनुस्यूत' भाव का द्योतक है।

मंत्रात्मक श्लोकों में कहीं कहीं सगुण और निर्गुण दोनों भावों का उल्लेख देखने में आता है, जैसे—'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्' इत्यादि।

प्रवर्त्तक अवस्था में संयम, शुद्धि आदि की तरफ़ विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। इससे चित्त को सम्पूर्णतः संस्कार-वर्जित होने का सुयोग मिलता है। अहंकार का भाव जाता रहता है। तब साधना के भीतर परमात्मभाव, भगवान का कार्यकलाप, उपलब्धि में आता है। इसके परिणामस्वरूप आत्मनिवेदन द्वारा सिद्धावस्था प्राप्तकर हम भगवल्लीला-रहस्य आस्वाद करने का और भगवद्-भजनानन्द में विभोर रहने का सुयोग पाते हैं।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥२०॥

[यह सगुण ब्रह्म] एकः (अद्वितीय) देवः (द्योतनात्मक और लीलात्मक) सर्वभूतेषु गूढ़ः (सब भूतों में अव्यक्त भाव में अवस्थित) सर्वव्यापी (सर्वव्यापी) सर्वभूतान्तरात्मा (सब भूतों का अन्तरात्मा—प्रेरक, चालक व नियामक) कर्माध्यक्षः (समस्त कर्मों का मुख्य कर्त्ता)

सर्वभूताधिवासः (सब भूतों में अधिष्ठित) साक्षी (द्रष्टा) चेता (चैतन्य-दाता) केवलः (निष्कल) निर्गुणः च (एवं निर्गुण) है।

ये सगुण ब्रह्म समस्त क्रियाओं के चालक होते हुए भी गुणातीत (अचल) हैं ; समस्त कर्मों में रहते हुए भी उदासीन हैं ; विश्वमय और विश्व के शासक होते हुए भी विश्वातीत हैं। इन्हीं को कहा गया है—'अनासक्त अनुरागी, संसारी संसारत्यागी'।

सर्वेशः सर्वगः साक्षी सर्वेन्द्रियनियामकः।
विधाता सर्वदृक् कर्त्ता करुणामय ईश्वरः ॥२० (क)॥

सर्वेशः (सब के नियन्ता) सर्वगः (सर्वव्यापी) साक्षी (द्रष्टा) सर्वेन्द्रिय-नियामकः (सब इन्द्रियों के चालक) विधाता (विधान करने वाले) सर्वदृक् (सर्वद्रष्टा) कर्त्ता (स्वतंत्र मुख्य कर्त्ता) करुणामयः ईश्वरः (करुणामय ईश्वर) [हैं]।

सगुण ब्रह्म में यह सब लक्षण वर्तमान हैं।

यः सर्वतत्त्वे तिष्ठन् सर्वतत्त्वस्यान्तरः,
यं सर्वतत्त्वं न वेद, यस्य सर्वतत्त्वं शरीरं,
यः सर्वतत्त्वं यमयति, स आत्मा अन्तर्यामी ॥२० (ख)॥

यः (जो) सर्वतत्त्वे तिष्ठन् (सब तत्त्वों में वर्तमान) सर्वतत्त्वस्यान्तरः (सब तत्त्वों के अन्तर में अवस्थित) [हैं] यं सर्वतत्त्वं न वेद (जिनको सब तत्त्व नहीं जानते) सर्वतत्त्वं यस्य शरीरं (सब तत्त्व जिनके शरीर) [हैं] यः सर्वतत्त्वं यमयति (जो सब तत्त्वों के नियामक हैं) स अन्तर्यामी आत्मा (वे ही अन्तर्यामी परमात्मा) [हैं]।

अर्थात् जो सब तत्त्वों मे अवस्थित रहकर सब तत्त्वों को अपने अपने कार्य में नियुक्त रखते हैं, जिनको कोई भी तत्त्व सम्पूर्णतः प्रकाश नहीं कर सकता, वे ही मेरे परमात्मा हैं।

उपनिषदों के कुछ श्लोक केवल निर्गुण भाव के, कुछ सगुण भाव के और कुछ दोनों भावों के प्रकाशक हैं। कहना अनावश्यक

होगा कि निर्गुण और सगुण तत्त्व एकाधार में अनेकांश युगलरूप में वर्तमान हैं। ज्ञात अवस्था अज्ञात स्तर भेदकरके ही क्रमशः प्रकाशित होती है। 'स पर्यगात्' श्रुति उभय भाव का दृष्टान्त है; प्रथमांश निर्गुण भाव का और द्वितीयांश सगुण भाव का द्योतक है तथा सर्वशेषांश मानो ब्रह्मभाव को अतिक्रमकर परमात्मभाव में प्रवेश कर गया है। ब्रह्म भाव के भीतर हम साधारणतः संस्कारवर्जित शून्यतत्त्व में, निर्विशेष भाव में डूब जाते हैं। इसके बाद उस शून्य को भेदकर, वहां की क्रिया दर्शन-कर, परमात्म भाव का स्फुरण आरम्भ होता है जिसकी पूर्णता सगुण ब्रह्म में भगवद्भाव में है। परमात्मा ही साधक के उपास्य हैं। अन्त में हम निकुञ्जलीला के सामरस्य तत्त्व के भीतर भी एक निर्विशेष भाव का आभास पाते हैं।

शक्तितत्त्व

"शिव और शक्ति स्वरूपतः एक ही वस्तु हैं तथापि व्यवहारिक दृष्टि से दोनों में थोड़ा सा पार्थक्य है। जब शिव का शक्ति के सहित योग नहीं होता तब वे निष्क्रिय, निस्पन्द, निर्गुण एवं निष्कल रहते हैं। उनका प्रभुत्व अथवा ऐश्वर्य शक्तिसापेक्ष है। शक्तिहीन शिव शव के समान हैं किन्तु वास्तव में शिव कभी शक्तिहीन नहीं होते। जिस अवस्था को शक्तिहीन कहा जाता है उस अवस्था में शक्ति अव्यक्त रूप में शिव में अन्तर्लीन रहती है, उस समय शिव के सहित उसका योग नहीं होता। किन्तु शक्ति जब अभिव्यक्त होती है तभी शिव के साथ उसका योग होता है।

शक्ति के अभिव्यक्त होने पर उसकी उपासना की जाती है। यह उपासना आवश्यक है। कारण, शक्ति की उपासना किये बिना अर्थात् जाग्रत्शक्ति का आश्रय लिये बिना आत्मा अपना शिवत्व अनुभव नहीं कर सकता।

शक्ति के जागरित हो जाने पर विश्वरूप दर्शन में आता है। तभी समझ में आता है कि एक ही सत्ता अनन्त रूप में प्रकाशमान है। जगत् में जितने रूप हैं सब उन्हीं के रूप हैं, जितने चक्षु हैं सब उन्हींके चक्षु हैं, जितने मुख हैं सब उन्हींके मुख हैं—इस प्रकार की प्रतीति आ जाती है। जिनका रूप नहीं है, आकृति नहीं है, चक्षु नहीं हैं तब सर्वत्र उनके रूप, उनकी आकृति, उनके चक्षु देखने में आते हैं। जिनमें कुछ नहीं है उनमें सभी कुछ देखने में आता है—यही शक्ति की महिमा है।

ज्ञानेन्द्रियों की ज्ञान शक्ति, कर्मेन्द्रियों की कर्मशक्ति—सबका मूल यही चैतन्यशक्ति है। इसलिए चैतन्यरूपी शक्ति ही 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः……चक्षुषश्चक्षुः' है। समस्त शक्तियों में प्राणरूपा शक्ति ही चैतन्य है।

ये ही जगत्-प्रसविता परमेश्वर की परम भर्ग हैं। इनका ध्यान करने से परमात्मा अन्तर्यामीरूप में हृदय में प्रतिष्ठित होते हैं और उपासक की देह को आश्रय कर अवस्थानपूर्वक उसकी ज्ञान और कर्म शक्ति को प्रयोजनानुसार अपने अपने विषयों में प्रवर्त्तित करते हैं।

शक्ति उपासना का उद्देश्य ही यह है कि शक्तिहीन के भीतर शक्ति का संचार हो। इसीलिए बल से बल के लिए प्रार्थना की जाती है (श्लोक २६ देखिए)। बल ही स्वाभाविक शक्ति है। उनकी कृपा से उनका किंचित् अंश हम में आहित हो जाय तो हम बल प्राप्तकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अग्रसर हो सकेंगे। याद रखना होगा कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'।

वे प्रकाशस्वरूप—स्वयंप्रकाश—हैं किन्तु हम उनको प्रकाशमान रूप में नहीं देख पाते। इसका एकमात्र कारण यह है कि हमारी दृष्टि के ऊपर जो परदा अथवा आवरण है वह अभी अपसारित नहीं हुआ है। जो स्वयंप्रकाश हैं उनको प्रकाश नहीं करना पड़ता और न उनको ही प्रकाशित होना होता है—वे तो प्रकाशरूप में हैं ही। किन्तु जो उनका दर्शन करना

चाहता है उसकी धारणाशक्ति और दर्शनशक्ति का उन्मुक्त होना आवश्यक है। लेकिन जीव का इतना सामर्थ्य नहीं जो अपने आप इस शक्ति को उन्मुक्त कर सके। इसलिए उसकी स्वाभाविक प्रार्थना यह होती है कि जो स्वयंप्रकाश हैं वे कृपापूर्वक उसकी दृष्टिशक्ति को उन्मीलित कर दें। दृष्टिशक्ति उन्मीलित होते ही विश्वरूपा माँ की सत्ता सर्वत्र अनुभव में आने लगती है। तभी समझ में आता है कि वे सब भूतों में साररूप में बैठे हैं।"

'शक्ति' शब्द सामर्थ्यवाचक 'शक्' धातु से निष्पन्न है। किसी कार्य की योग्यता को शक्ति कहते हैं। कारण में, अव्यक्तरूप में, जो तत्त्व निहित है उसको कार्यरूप में प्रकट करने के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रत्येक पदार्थ में—यहाँ तक कि प्रत्येक परमाणु में—अनन्त शक्ति निहित है। इस निहित शक्ति को जागरित कर कार्योपयोगी करने का नाम है शक्तिपूजा। शक्ति के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। शक्ति के प्रकाश के बिना शिव केवल शव के समान है—सृष्ट्यादि कर्म में सम्पूर्णतः असमर्थ हैं। किसप्रकार शक्ति सब पदार्थों में अव्यक्त रूप में निहित है, किसप्रकार इस सुप्त शक्ति को जागरित कर उद्देश्य सिद्ध किया जा सकता है, जिनके भीतर शक्ति जागरित है उनकी सहायता से किसप्रकार शक्तिमय हुआ जा सकता है—यही विषय शक्तिपूजा रहस्य है। शक्ति की आवश्यकता कोई अस्वीकार नहीं करता। 'शक्ति को नहीं मानता' कहने में भी शक्ति का प्रयोजन है। सब देशों के साधकगण शक्ति के आविर्भाव की चेष्टा करते रहे हैं। देशरक्षा के लिए शक्ति चाहिए, जीवनधारण के लिए शक्ति की ज़रूरत है, ज्ञानलाभ के लिए शक्ति का प्रयोजन है, भगवदनुभूति—भगवत्-प्राप्ति—के लिए शक्ति एकान्तावश्यक है। भगवान बुद्ध, कबीर, नानक, शिवाजी, गोविन्द सिंह—ये सभी शक्ति के उपासक थे। जगत् में यथेष्ट प्रकाश है किन्तु अन्ध उसको नहीं देख सकता—इस प्रकाश को देखने के लिए चाहिए शक्ति। जगत्

में ज्ञान का अभाव नहीं किन्तु इस ज्ञान को उपलब्ध करने के लिए आवश्यकता है अपने भीतर के ज्ञान-प्रदीप को जलाने की अर्थात् अपने भीतर की सुप्त ज्ञानशक्ति के प्रकाश की। जगत् में प्रेम का अभाव नहीं किन्तु यह प्रेम अपनी प्रेमशक्ति के विकास के बिना उपलब्ध करने का और कोई उपाय नहीं। भगवद्दर्शन करने के लिए चाहिए अपने चक्षुओं में दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्यदर्शन करने की शक्ति अर्थात् ज्ञानचक्षु का उन्मीलन। इसी प्रकार भगवद्-वाक्य श्रवण करने के लिए चाहिए दूरश्रवण, सूक्ष्मश्रवण, दिव्यश्रवण शक्ति का प्रकाश। संक्षेपतः हमारी समस्त इन्द्रियों में निहित सुप्त शक्ति पूर्णतया प्रकाशित हुए बिना भगवद्दर्शन भगवल्लीलास्वादन नहीं किया जा सकता। गोपियों को कृष्णदर्शन, कृष्णसेवा, कृष्ण-प्रीति-सम्पादन, कृष्ण-प्राप्ति के लिए शक्ति की आराधना, कात्यायनी भगवती की पूजा, की आवश्यकता हुई थी। अतएव शक्ति के विकास के लिए, भगवद्दर्शन और भगवत्-प्राप्ति के लिए, सर्वप्रथम शक्तिपूजा एकान्तावश्यक है। कृष्णलीला के प्रकाश, प्रचार और आस्वादन के भीतर प्रारम्भ में ही पौर्णमासी योगमाया देवी का कार्यकलाप देखा जाता है।

॥ शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥२१॥

शिवः (मंगलमय भगवान्) यदि शक्त्या युक्तः भवति (जब शक्ति से युक्त होते हैं अर्थात् जब शक्ति उनमें प्रकटित रहती है) [तब] प्रभवितुं शक्तः (सृष्ट्यादि कार्य करने में समर्थ होते हैं) एवं चेत् न (और अगर ऐसा न हो अर्थात् शक्तिसहित युक्त न हों) खलु स्पन्दितुम् अपि कुशलः न (तो निश्चय स्पन्दन करने में भी समर्थ नहीं)।

शक्ति की अप्रकटित अवस्था में शिव कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं। शक्तितत्त्व का विवेचन करने में श्रीविद्या और कालीविद्या का प्रसंग मन में आता है। माँ स्वरूपतः एक होते हुए भी मानो द्विविध रूप

में आत्मप्रकाश करती हैं। पहले कालीरूप में हमारे विकार दूरकर आधार को परिष्कार करती हैं और फिर श्रीरूप में उस आधार को अपनी शक्ति से पूर्णकर भगवदनुभूति लाभ करने की योग्यता दान करती हैं।

पहले बताया गया है कि यदि शक्ति की सहायता से चरम तत्त्व आत्म प्रकाश न करें एवं हमारे भीतर उनकी शक्ति का कुछ विकास न हो तो हम चरम सत्य का संधान नहीं पा सकते, न हम उनका स्वरूप समझ सकते हैं—यहाँ तक कि उनके अस्तित्व में विश्वास करने अथवा कराने में भी समर्थ नहीं हो सकते। माँ आद्याशक्ति हमारे भीतर अपनी शक्ति संचारकर हमारे भगवान के अस्तित्व में विश्वास करने में, हमारे भीतर भगवद्भाव प्रकाशित कर हमारी भगवत्प्राप्ति में, सहायभूत होती हैं। केवल माँ की कृपा से ही हम पूर्ण परिणति लाभ करने की, भगवद्धाम में प्रवेश करने की, योग्यता लाभ करते हैं। इसलिए साधनराज्य में सर्वतोरूप से शक्तिपूजा का एकान्त प्रयोजन है। याद रखना चाहिए कि शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं। शक्तिमान ही मानो शक्ति की सहायता से अपने प्रियतम जीव को अपने निकट लाकर अपने भाव से परिभावित कर देते हैं।

शक्तिपूजा में 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादि ध्येयपदार्थ के लक्षण शक्तितत्त्व को समझाने के लिए ग्रहण किये गए हैं। ये सब भाव सगुण ब्रह्म के द्योतक हैं और शक्ति किस प्रकार सगुण ब्रह्म के भीतर से कार्य करती हैं इसका रहस्य प्रकाश करते हैं। शक्ति और सगुण ब्रह्म की अनेकांश अभेदरूप में कल्पना की गई है।

शक्ति महामाया विविध यंत्र सृष्टकर उनके द्वारा कार्य कर रही हैं। वे स्वयं निस्तत्त्वा होते हुए भी कार्यगम्या हैं। जिस आधार के भीतर से वे आत्मप्रकाश करती हैं उसी आधार की कार्यप्रणाली अवलम्बन द्वारा वे अनुभवगम्या हैं। शक्ति की धारणा करने के लिए अनुभव करना अत्यावश्यक है कि वे किस प्रकार हमारी इन्द्रियों को सृष्ट कर उनके

भीतर अधिष्ठित रहकर (तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्) इस देहयंत्र को एवं इस जगच्चक्र को सुन्दररूप से चला रही हैं। उनका अपना कोई आकार न होते हुए भी उनके सृष्ट अनन्त आकारों द्वारा हम उनका प्रकाश, उनकी लीला, अनुभव करने का सुयोग पाते हैं।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥२२॥

तत् (सर्वशक्ति के आधार वे परम वस्तु) सर्वतः पाणिपादं (सर्वत्र हाथ-पैर-युक्त हैं) सर्वतः अक्षि-शिरो-मुखम् (सर्वत्र चक्षु, मस्तक और मुखयुक्त हैं) सर्वतः श्रुतिमत् (सर्वत्र कर्णयुक्त हैं) लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति (ब्रह्मांड में सब पदार्थों में व्याप्त होकर अवस्थित हैं)।

अर्थात् वे सब की आँखों से देखते हैं, सब के कानों से सुनते हैं, सब के मुख से खाते हैं, बातें करते हैं, और सब के हाथ-पाँव से काम करते हैं।

माँ आद्याशक्ति हमारे विभिन्न तत्त्वों विभिन्न इन्द्रियों में अधिष्ठित हुई सब कार्य सम्पादन कर रही हैं। जगत् में जो कुछ है उन्हीं का प्रकाश है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥२३॥

[तत् = वे] सर्वेन्द्रियगुणाभासं (जीव की समस्त इन्द्रियों के गुण के प्रकाशक हैं) [इसलिए हम इन्द्रियों के गुण उनमें आरोपकर उनको इन्द्रिय-युक्त मानते हैं] सर्वेन्द्रियविवर्जितं (तो भी उनकी अपनी कोई इन्द्रिय नहीं है)। असक्त (अनासक्त अस्पृष्ट होते हुए भी) सर्वभृत् एव च (सब को भरण करते हैं)। निर्गुणं (स्वयं गुणरहित [गुणातीत] होते हुए भी) गुणभोक्तृ (समस्त गुणों के भोक्तारूप में कल्पित हैं) [मालूम होता है कि जैसे वे ही सब गुण भोग रहे हैं]।

अर्थात् शक्ति अपने सृष्ट यंत्रों द्वारा कार्य करते हुए भी स्वयं यंत्रों से स्वतंत्र है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥२४॥

भूतानाम् (सर्वभूत के) बहिः अन्तः च (बाहर एवं भीतर) [वे अवस्थित हैं]। अचरम् चरं एव च (अन्तर्लीन अवस्था में वे निष्क्रिय होने के कारण अचर हैं एवं सृष्टि आदि व्यापार के समय सक्रिय होने के कारण चर हैं)। सूक्ष्मत्वात् (सूक्ष्म अर्थात् अतीन्द्रिय होने के कारण) तद् अविज्ञेयं (विशेषरूप में उनका ज्ञान सम्भवपर नहीं) तद् दूरस्थं अन्तिके च (वे दूर भी हैं और निकट भी—अर्थात् सर्वव्यापी हैं)।

हम शक्ति को सूक्ष्मतत्त्व अर्थात् मन-बुद्धि के अतीत होने के कारण विशेषरूप से जानने में समर्थ नहीं हैं।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥२५॥

तत् च (वे) अविभक्तं (अभिन्न, एक, विभागहीन) [सदपि = होते हुए भी] भूतेषु (प्राणियों में) विभक्तं इव च स्थितम् (भिन्न, नाना विभागयुक्त के भाँति अवस्थित हैं।) तत् भूतभर्तृ च (वे भूतों के पालनकर्त्ता), ग्रसिष्णु (प्रलयकाल में ग्रहणशील—जिनमें सब लय को प्राप्त होते हैं), प्रभविष्णु च (और उत्पत्ति के कारण भी हैं) ज्ञेयं (वे जानने योग्य हैं)।

अर्थात् मूलाशक्ति एक होते हुए भी अपने विविध आकारों द्वारा किस प्रकार कार्यभेद से भिन्न रूपों में प्रतीयमान होती हैं, यहाँ इसका एक आभास दिया गया है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥२६॥

तत् (वे) ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः (सूर्यादि ज्योतिष्कमंडल की भी ज्योतिः हैं अर्थात् उन्हीं की ज्योति से ज्योतिष्कमंडल प्रकाशमान है) तमसः (अज्ञानरूप अन्धकार से) परम् उच्यते (अतीत कहे जाते हैं)। [अर्थात् उन्हीं के प्रकाश से सब प्रकाशित हैं। उनका तत्त्व वाक्य-मन के अगोचर है। उनको ज्ञान-स्वरूप जो कहा गया है वह यह बताने के लिए कि वे अज्ञान-स्वरूप नहीं हैं]। ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं (वे नित्य ज्ञानस्वरूप हैं, वे ज्ञेय भी हैं और साधक के हृदय में चिद्रूप में प्रकाशमान होने योग्य हैं) सर्वस्य हृदि विष्ठितम् (सब के हृदय में विशुद्ध बुद्धि रूप में वर्त्तमान हैं)।

हमारी ज्ञानेन्द्रियों की ज्ञानशक्ति, कर्मेन्द्रियों की कर्मशक्ति, सब के मूल में यही चैतन्यशक्ति है—यह तत्त्व यहाँ प्रकट किया गया है। यही चैतन्यरूपी शक्ति आँखों की आँख, कानों की कान, मन की मन, प्राण को प्राण, आत्मा की आत्मा है। यही तत्त्व समझाने के लिए, केनोपनिषदानुसार, देवताओं के सम्मुख हैमवती उमा आविर्भूता हुई थीं।

*** ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचम्।**
स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः ॥२७॥

यत् श्रोत्रस्य श्रोत्रं (जो श्रवण के श्रवण) मनसः मनः (मन के मन) वाचः ह वाचम् (वाक्य के भी वाक्य) [हैं] सः उ (वे ही फिर) प्राणस्य प्राणः (प्राण के प्राण) चक्षुषः चक्षुः (चक्षु के चक्षु) [हैं]।

अर्थात् एक ही भगवत्-शक्ति हमारी विभिन्न इन्द्रियों द्वारा विभिन्न शक्तिरूप में अनुभूत होती है। हमारे विषय-ग्रहण, ध्यान-धारणादि उन्हीं के विभिन्न प्रकाश हैं। वे ही सब की मूलाधार हैं। इन्द्रियातीत अवस्था में जाय बिना उनका प्रकृत तत्त्व अनुभव में नहीं आता। एक ही चिन्मयी महाशक्ति द्वारा हमारी समस्त अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रिय के कार्य निर्वाह हो रहे हैं। चक्षु देखते हैं किन्तु यह शक्ति वस्तुतः चक्षु की नहीं है। चक्षु की दर्शन-क्रिया उन्हीं का खेल है। तद्रूप हमारे श्रोत्रादि इन्द्रियों की

श्रवणादि शक्ति उन्हीं महाशक्ति का विभिन्न प्रकाश है। अभिमानवश जीव पृथक्‌रूप में धारणा करता है किन्तु यह असत्य है। वस्तुतः वे ही देखती हैं, वे ही सुनती हैं, वे ही सब कुछ करती हैं। उनकी सृष्ट की हुई हमारी आँखों के भीतर उनका आत्मप्रकाश हमारा दर्शन है, उनके सृष्ट किए हुए हमारे कानों के भीतर उनका आत्मप्रकाश हमारा श्रवण है, हमारी बुद्धि के भीतर उनका आत्मप्रकाश हमारा ज्ञान है, हमारे चित्त के भीतर उनका आत्मप्रकाश हमारा आनन्द है। हम अहंकारवश उनको भूलकर अपनी इन्द्रियों के भीतर उनके प्रकाश को, उनके कार्यकलाप को, अपना कर्त्तृत्व कहकर प्रकट करते हैं। (तुलनीय—'प्रकृतेः क्रियमाणानि—' गी० ३-२७)।

अब साधक अनुभव करने लगता है कि शक्ति एक ऐसी वस्तु है जिसके बिना उसकी कोई भी इन्द्रिय काम नहीं कर सकती, जिसके बिना उसके माँ, बाप, भाई, बन्धु एवं जगत् के किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं रह सकता—यहाँ तक कि वह भी नहीं रह सकता। यह शक्तितत्त्व ही हमारी सत्ता, चैतन्य और आनन्द का मूल प्रस्रवण है। दुःख का विषय है कि जो हमारी सर्वस्व हैं और जिनके अभाव से सब शव में (शून्य में) परिणत हो जाता है उनके अस्तित्व को हम अस्वीकार करने में संकोच नहीं करते।

❀ ॐ तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ ॥२८॥

देवस्य सवितुः (सवितृ देव की) वरेण्यं (वरणीय, सर्वोत्तम) तत् भर्गः (उस परमज्योतिः का) धीमहि (हम ध्यान करते हैं) यः (जो) नः धियः (हमारी बुद्धि [व कर्म] वृत्तियों को) प्रचोदयात् (प्रकृष्ट कार्य में लगाती हैं—मानो वे ही करते हैं)।

हे भर्ग देवी, (माँ आद्याशक्ति भगवती), तुम मेरे सब तत्त्वों में प्रवेशकर मेरे सब तत्त्वों को अपनी शक्ति से भरपूरकर, अपने प्रियकार्य

साधन के सम्पूर्णतः उपयुक्त कर लो। प्राचीन ऋषिगण इन्हीं गायत्रीरूपा भर्गशक्ति को अपने सब तत्त्वों में अवतरण कराके, सब तत्त्वों को शक्ति-मय करके, सब तत्त्वों द्वारा भगवान की लीला आस्वाद करने का सुयोग पाते थे—भगवल्लीला में सहायक होते थे। श्रीअरविन्द इस शक्ति के अभिन्न अंशस्वरूप अतिमानस (Supermind) के अवतरण को 'Descent of the Divine' नाम से प्रचार कर गये हैं। यह अवतरण ही उनके समस्त साधन-भजन का मूलमंत्र था।

❀ ॐ बलमसि बलं मयि धेहि। ॐ वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
ॐ सहोऽसि सहो मयि धेहि। ॐ ज्ञानमसि ज्ञानं मयि धेहि।
ॐ आनन्दोऽसि आनन्दं मयि धेहि। ॐ आविरावीर्म एधि।
ॐ आविरावी र्म एधि। ॐ आविरावीर्म एधि॥ २६॥

बलम् असि (तुम बलस्वरूप हो) मयि बलं धेहि (मुझको बल दो), वीर्यम् असि (तुम वीर्यस्वरूप हो) वीर्यं मयि धेहि (मुझे वीर्य दान करो), सहः असि (तुम सहनशक्ति हो) सहः मयि धेहि (मुझको सहनशक्ति दो), ज्ञानम् असि (तुम ज्ञानस्वरूप हो) मयि ज्ञानं धेहि (मुझे ज्ञान दो), आनन्दः असि (तुम आनन्दस्वरूप हो) मयि आनन्दं धेहि (मुझको आनन्द दो) [अर्थात् मुझको शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति से भूषित करो]। आविः (हे निर्गुण ब्रह्म), आवीः (हे शक्तियुक्त ब्रह्म, तुम सगुणरूप में) मे (मेरे भीतर) एधि (प्रकाशित हो)।

भगवान की ज्योति सर्वत्र वर्तमान है। किन्तु जब तक मैं दृष्टिशक्ति लाभ न करूँ तब तक मैं उस ज्योति को ग्रहण नहीं कर सकता। हे माँ भगवती, तुम मेरे भीतर ज्योतिरूप, ज्ञानरूप, प्रेमरूप में प्रकाशित होकर अपने सर्वत्र प्रसारित ज्ञान, ज्योति, और प्रेम को उपलब्ध करने की योग्यता प्रदान करो।

"बल ही स्वाभाविक शक्ति है। माँ की कृपा से यदि उस बल का

थोड़ा सा अंश हमें लाभ हो जाय तो हम अपनी लक्ष्यप्राप्ति में अग्रसर हो सकेंगे। कारण,'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। अखंड स्मृति लाभ करने के सामर्थ्य को 'वीर्य' कहते हैं। वीर्य भिन्न स्मृति के रहने का स्थान नहीं है। माँ की कृपा से उस वीर्य का किंचिदंश हममें आहित हो जाय तो हम उनके स्वरूप की ध्रुवानुस्मृति में समर्थ होंगे। सहः (सह्यगुण) हमारे भीतर प्रकाशित हो जाय तो हम देवी वसुन्धरा की भाँति अम्लान मुख से सब सहनकर सब को क्षमा कर सकेंगे। हम माँ को समस्त शक्ति का मूलाधार जानकर, 'हम केवल निमित्तमात्र हैं' यह तत्त्व उपलब्ध कर, उदासीन द्रष्टारूप में माँ की लीलादर्शन करने की योग्यता लाभ करते हैं। तब माँ हमारे सब तत्त्वों में प्रकाशित होकर, सब तत्त्वों को अपनी शक्ति से शक्तिमयकर, हमें पुरुषोत्तम की पूजा करने की योग्यता दान करती हैं।"

❀ या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥ ३० ॥
❀ या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥ ३१ ॥
❀ या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥ ३२ ॥
❀ या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥ ३३ ॥
❀ या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥ ३४ ॥

या देवी (जो देवी) सर्वभूतेषु (सब भूतों में) मातृ-शक्ति-बुद्धि-कान्ति-शान्ति-रूपेण संस्थिता (मातृ-शक्ति-बुद्धि-कान्ति-शान्तिरूप में विराजमाना हैं) तस्यै नमः (उनको नमस्कार) तस्यै नमः (उनको नमस्कार) तस्यै नमः नमः (उनको बारंबार नमस्कार करता हूँ)।

सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके ।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥३५॥

सर्वमंगलमांगल्ये (हे सर्वमंगल तथा मंगल की उपाय-स्वरूपिणी) शिवे (हे कल्याणदात्री) सर्वार्थसाधिके (हे सर्वार्थसाधिके) शरण्ये (हे रक्षक) त्र्यम्बके (हे त्रिनयने) गौरि नारायणि (हे गौरी, हे नारायणी) ते नमः अस्तु (तुमको नमस्कार हो) ।

अर्थात् जो स्वयं मंगलमयी हैं सबको मंगल के पथ पर ले जाती हैं, जो सब की यथार्थ वासना पूर्ण करती हैं, जो जीव का आश्रय हैं, जो भूत-भविष्य-वर्तमान सब जानती हैं, जो विशुद्ध सत्त्वगुण द्वारा अनुभूता हैं, जो जीव की चरम गति हैं—उन महामाया भगवती देवी को नमस्कार ।

सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते ।
भयेभ्यस्त्राहि नो देवि दुर्गे देवि नमोऽस्तु ते ॥३६॥

सर्वस्वरूपे (हे विश्वरूप) सर्वेशे (हे सर्वेश्वरी) सर्वशक्तिसमन्विते (हे सर्वशक्तिसम्पन्ने) देवि (हे देवी) भयेभ्यः (सर्व प्रकार के भय से) नः त्राहि (हमारी रक्षा करो) दुर्गे देवि (हे दुर्गे देवी) ते नमः अस्तु (तुमको नमस्कार हो) ।

अर्थात् विश्वरूपा, विश्वेश्वरी, सर्वशक्तिमयी, सर्वविपद से त्राण-कारिणी दुर्गा भगवती को हम नमस्कार करते हैं ।

सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवीमयं जगत् ।
अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम् ॥३७॥

देवी सर्वरूपमयी (देवी लीलामयी विश्वरूपधारिणी हैं) सर्वं जगत् (यह समस्त जगत्) देवीमयं (देवी द्वारा परिव्याप्त है) अतः (इसलिए) अहं (मैं) तां (उसी) विश्वरूपां (विश्वरूपधारिणी) परमेश्वरीम् (परमेश्वरी देवी को) नमामि (नमस्कार करता हूँ) ।

अर्थात् मेरी माँ देवी भगवती लीला के निमित्त विश्वरूप में परिणत अथवा विवर्तित होकर जीवजगत् रूप में मेरे सामने उपस्थित हैं । वे

ही समस्त जगज्जीव की विधाता, चालक एवं अन्तर्यामी हैं। मैं उन्हीं को नमस्कार करता हूँ।

हमारी समस्त शक्ति माँ का आत्मप्रकाश है। अपनी शक्ति के पृथक् अस्तित्व को भूलकर, माँ के निकट पूर्ण आत्मनिवेदन कर, हमें अपने पृथक् अस्तित्व को लोप कर देना होगा। माँ शरणागत सन्तान के समस्त अभाव दूरकर, उसके भीतर अपनी शक्ति संचारकर अर्थात् सन्तान को सम्पूर्णतः मातृमयकर, उसको पुरुषोत्तम की पूजा करने की योग्यता दान करती हैं—साधक यहाँ यह तत्त्व आस्वाद करने में समर्थ होता है।

शक्तितत्त्व परमात्मभाव का, सगुण ब्रह्म का, द्योतक है। परमात्मा किसप्रकार शून्यतत्त्व भेदकर जीव की पूर्णता लाभ में सहायक होते हैं, वे किसप्रकार सब प्रयोजन सिद्धकर जीव को पूर्णता दान करने में व्यस्त हैं—शक्तितत्त्व द्वारा, मातृभाव द्वारा, साधक को यह रहस्य आस्वाद करने का सुयोग मिलता है।

❀ द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं देहि मे दिव्यदर्शनम्।
कर्त्तुमिच्छामि ते प्रियं भूतानां हितसाधनम्॥३८॥

ते रूपं (तुम्हारा रूप) द्रष्टुम् इच्छामि (मैं देखने की इच्छा करता हूँ) मे दिव्य दर्शनं देहि (मुझे दिव्यदर्शन प्रदान करो)। ते प्रियं (तुम्हारा प्रियकार्य) भूतानाम् हितसाधनं (जीवगण का हितसाधन) कर्त्तुम् इच्छामि (करने की इच्छा करता हूँ)।

साधक इस अवस्था में पहुँचकर माँ का दिव्यरूप दर्शन करने के लिए व्यस्त हो जाता है किन्तु इन चर्मनेत्रों से माँ का दिव्य रूप दर्शन करना असम्भव है। अर्जुन भगवत्कृपा से दिव्यदृष्टि लाभकरके भी भगवज्ज्योति सहन नहीं कर सका था। किन्तु माँ किसी सन्तान का अनिष्ट सहन नहीं कर सकतीं। जब तक किसी से किसी जीव के अनिष्ट होने की सम्भावना है तब तक माँ उसको भगवद्धाम में प्रवेश नहीं करने देंगी—अपनी शक्ति से शक्तिमान नहीं करेंगी।

माँ का यह व्रत उपलब्ध कर साधक माँ की सन्तान का सर्वांगीन हितसाधन करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होता है और उनसे शक्ति प्रदान करने की प्रार्थना करता है। माँ का प्रकृत तत्त्व किसी के लिए भी समझना सम्भवपर नहीं। उनका कार्य देखकर उनकी श्रेष्ठ सन्तान की सहायता से उनको उपलब्ध करना होगा। माँ तब कहती हैं 'मैं अपने कार्यकलाप द्वारा पुरुषोत्तम को प्रकाशित करने की चेष्टा कर रही हूँ; ये पुरुषोत्तम ही सर्वदेश और सर्वकाल के (बुद्ध, शंकर, ईसा, इत्यादि नाम के) आदर्श पूजित हैं। इन पुरुषोत्तम को कैसे अनुभव किया जाता है, कैसे अवतीर्ण किया जाता है, गीता में श्रीकृष्ण अपने मुख से इसका आभास दे गये हैं। यदि तुम लोग दुष्ट के दमन और शिष्ट के पालन द्वारा धर्मराज्य संस्थापित करने में दृढ़व्रती हो तो पुरुषोत्तम आविर्भूत होकर तुम्हारी पूर्णता लाभ में, भगवत्प्राप्ति में, सहायक होंगे'।

❀ **परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
धर्मसंस्थापनार्थाय करिष्ये वचनं तव ॥३६॥

साधूनां परित्राणाय (साधु-सज्जनों के परित्राण के लिए) दुष्कृतां विनाशाय च (एवं दुराचारियों के ध्वंस के लिए अर्थात् उनकी दुष्कृति दूर करने के लिए) धर्मसंस्थापनार्थाय (धर्म को दृढ़पूर्वक प्रतिष्ठित करने के लिए) तव वचनं (तुम्हारी आज्ञा, भगवत्-निर्देश) करिष्ये (मैं पालन करूँगा)।

माँ की कृपा से साधक के चित्त में अब पुरुषोत्तमतत्त्व का स्फुरण आरम्भ हुआ है। अब वह सोचता है कि पुरुषोत्तम कब, कहाँ और किसलिए अवतीर्ण होते हैं। उनका आविर्भाव, साधक भक्त के हृदय में अथवा साधारण लोकदृष्टि से स्थूलरूप में, तभी होता है जब असुरों का निर्यातन और साधुओं का कष्ट उनके हृदय में आघात पहुँचाता है और वे प्रकृत धर्म-संस्थापन के लिए इच्छुक हो जाते हैं। उस समय साधक के हृदय में उपयुक्त भूमि तैयार करने की तीव्र आकांक्षा जाग

उठती है और वह भगवान के प्रिय कार्य साधन द्वारा उनको आविर्भूत करने के लिए कृतसंकल्प होता है। अद्वैताचार्य के आवाहन से महाप्रभु का आगमन तत्त्व यहाँ आस्वादनीय है। साधक जब दुष्ट का दमन और शिष्ट का पालनकर भगवान का धर्मराज्य स्थापन करने में सहायक होने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होता है तब उसके भीतर पुरुषोत्तम-तत्त्व का स्फुरण आरम्भ होता है।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादि र्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥४०॥

कृष्णः (सर्वचित्ताकर्षक पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) सच्चिदानन्दविग्रहः (सत्, चित् और आनन्द की घनीभूत मूर्ति हैं) परमः ईश्वरः (वे परम ईश्वर हैं) अनादिः आदिः गोविन्दः (वे अनादि परन्तु आदि हैं अर्थात् स्वरूपतः अनादि होते हुए भी तटस्थरूप से जीव-जगत् के आदि हैं, वे गोविन्द हैं अर्थात् इन्द्रियातीत होते हुए भी विशुद्ध इन्द्रियों द्वारा अनुभव-वेद्य हैं) सर्वकारणकारणम् (वे सब कारणों के भी कारण हैं अर्थात् स्वयं कूटस्थ होते हुए भी सब की उत्पत्ति के हेतु हैं)।

याद रखना होगा कि यहाँ 'कृष्ण' शब्द से तात्त्विक सर्वचित्ताकर्षक पुरुषोत्तम को ही विशेषतः लक्ष्य किया गया है—जो अन्य देश व अन्य समाज के ईसा, बुद्धादिरूप में ग्रहणयोग्य हैं। 'कृष्ण' शब्द ऐतिहासिक कृष्ण में पर्यवसित नहीं किया गया है।

अनर्गलस्वात्ममये परेशे
तिष्ठन्ति यस्मिन् विभुशक्तयस्ताः।
तं शक्तिमन्तं प्रणमामि देवं
श्रीकृष्णसंज्ञं जगदेकसारम् ॥ ४१ ॥

यस्मिन् (जिस) अनर्गलस्वात्ममये (अपने अबाधित आत्मस्वरूप में प्रकाशमान) परेशे (परमेश्वर में) ताः विभुशक्तयः (ये सब प्रसिद्ध परमेश्वरोचित शक्तियां अर्थात् सर्वज्ञत्व, सर्वकर्त्तृत्व, विभुत्व, नित्यत्व,

आप्तकामत्व, इत्यादि) तिष्ठन्ति (स्थिररूप में विद्यमान हैं) [मैं] तं (उसी) जगदेकसारं (समग्र जगत् के एकमात्र सारपदार्थस्वरूप) श्रीकृष्णसंज्ञं (श्रीकृष्णनामधेय) शक्तिमन्तं (पूर्वोक्त सर्वशक्तिसम्पन्न) देवम् (चिदानन्दमय परम पुरुष को) प्रणमामि (प्रणाम करता हूँ अर्थात् उनके श्रीचरणों में आत्मनिवेदन करता हूँ) ।

अर्थात् परम-पुरुष परमेश्वर हमारे सबके अपने अपने आत्मा के अबाधितस्वरूप हैं । वे किसी भी अंश में हमारे स्वरूप से भिन्न अथवा पृथक् रूप में कल्पित नहीं हैं । वे सर्वशक्तिनिधान हैं । उनको आत्म-समर्पण करने का अर्थ है अपने को परमात्मा के निकट आत्मसमर्पण करना अर्थात् अहंकारात्मक परिच्छिन्न 'मैं' को देशकालादि द्वारा अपरिच्छिन्न शुद्ध अखंड आत्मा के निकट विसर्जन करना । (यहाँ गोचारण-लीला के सम्बंध में एक बंगला संगीत है) ।

गोचारणलीला गौड़ीय वैष्णवों की साधना का एक प्रधान अंग है । गोचारण के संबंध में गोपतापनीय उपनिषद् में कहा है 'गावः इन्द्रियाणि' अर्थात् इन्द्रियाँ गो हैं । कृष्ण भीतर बैठे हुए किसप्रकार हमारी इन्द्रियों को विषयराज्य में चरा रहे हैं—कृष्ण को अपनी इन्द्रियों का भार सौंप देने से हमारा इन्द्रियों द्वारा विषय-ग्रहण किसप्रकार पूजा में परिणत हो सकता है—कृष्ण भीतर बैठे हुए किसप्रकार हमको चलाने की चेष्टा कर रहे हैं, गोचारणलीला द्वारा यह तत्त्व आस्वाद करने का सुयोग मिलता है । इस स्थल में संगीत का प्रकृत भाव यह है कि 'हे भगवान तुम हमारे भीतर हमारी देह के मालिक रूप में अधिष्ठित होकर हमको चलाओ । हम तुम्हारे ऊपर सब भार छोड़कर तुम्हारी इच्छानुसार तुम्हारे प्रियकार्य साधन में समर्थ हों' ।

सन्ध्या समय उपर्युक्त भाव से परिभावित होकर साधक मानो देखता है कि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण वंशी बजाते हुए उसके निकट आ रहे हैं । कृष्णभाव से परिभावित चित्त में तब पुरुषोत्तम का स्फुरण और भी स्पष्टतः होने लगता है ।

पुरुषोत्तम तत्त्व

"महाशक्ति की उपासना के फलस्वरूप पुरुषोत्तम का आदर्श हृदय में जागरित होता है। महाशक्ति विश्वजननी हैं, पुरुष की जननी एवं पुरुषोत्तम की भी जननी हैं। उनके अनुग्रह से उनसे आविर्भूत परम पुरुष का भाव हृदय में प्रतिष्ठित होता है। यह परम पुरुष ही उत्तम पुरुष, परमेश्वर, 'अनादिरादि र्गोविन्दः' हैं। साधारण जीव इन्हीं का सनातन अंश है। वरेण्य भर्ग का ध्यान करते करते हृदयाकाश में, अन्तर के अन्तःपुर में, अन्तर्यामी रूप में उत्तम पुरुष प्रस्फुटित होते हैं। तब समझ में आता है कि माँ की पूजा सार्थक हुई। ये उत्तम पुरुष ही जीव के जीवन के एवं सब कर्मों के एकमात्र लक्ष्य हैं। ये दिव्यरूप हैं, दिव्यविभूतिसम्पन्न हैं, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं अनन्त करुणामय हैं।

जगत् की विशृंखला दूर करना, साधुसज्जन की रक्षा करना, दुष्कृतकारी को दमन करना एवं धर्मराज्य स्थापना करना इन्हीं का काम है। जीव को इनका अंश होने के कारण इन सब कार्यों का स्वभावसिद्ध अधिकार है। इसलिए इस अवस्था में जीव का प्रथम कर्त्तव्य है पुरुषोत्तम का दिव्य विश्वमंगलमय रूप दर्शनकर उन्हीं के आचरित धर्मसंस्थापन कार्य में प्रवृत्त होना। जीव का पृथक् कुछ भी कर्त्तव्य नहीं। जो सब जीवों के नायक हैं उनके कर्त्तव्य को ही जीव को अपना कर्त्तव्य समझकर ग्रहण करना योग्य है। इसलिए उसका एकमात्र कर्त्तव्य कार्य है परम पुरुष का आदर्श अनुसरणकर और उनकी आज्ञा का पालनकर सर्वलोक के हित व सुखसाधन में नियुक्त होना।

पुरुषोत्तम के चरित्र का अनुकरण एवं उनके आदेश पालन के फलस्वरूप वे प्रसन्न होकर जीव की शुद्ध दृष्टि के सम्मुख अपने स्वरूप में प्रकाशित होते हैं। यद्यपि महामाया की साधना के फलस्वरूप उन्हीं की कृपा से पुरुषोत्तम का हृदय में आविर्भाव होता है किन्तु जब तक अपने कर्म द्वारा पुरुषोत्तम को प्रस्फुटित न किया जाय तब तक उनका पूर्णस्वरूप

दृष्टिगोचर नहीं होता। अब उनके पूर्ण आविर्भाव का अवसर आया है। इसलिए उनको आदरपूर्वक श्रद्धाभक्ति सहित आवाहन करना होगा।"

परम करुणामय पुरुषोत्तम जीव को शिव में परिणत करने के लिए अनेक समय व्यक्तरूप में प्रकट होते हैं। उस समय उनके मनुष्यरूप में, प्रतीयमान देह में, असीम के सब तत्त्व और सब रहस्य वर्तमान रहते हैं। वे मानो ससीम देह में असीम की जीवन्तमूर्त्ति (Infinite Individuality) हैं। वे अपने उस ससीम मानवीय देह में असीम के रूप, गुण और क्रिया दिखाने में समर्थ हैं। अर्जुन आदि भक्तों ने कृष्णदेह में—यहाँ तक कि कृष्ण के प्रत्येक परमाणु में—विश्वरूप दर्शन किया था। वे अखंड अद्वय आत्मतत्त्व में सर्वदा प्रतिष्ठित रहते हैं, सब जीव उन्हीं के आत्मा की विभूति हैं। वे सर्वभूत के आत्मा हैं; इसीलिए सब भूतों के हित में रत हैं। सबका स्वार्थ उनका स्वार्थ है, सबका ऐश्वर्य उनका ऐश्वर्य है, सबका ज्ञान उनका ज्ञान है, सबका आनन्द उनका आनन्द है।

यही व्यक्त विग्रह वेद-उपनिषदादि ग्रन्थों के चरमतत्त्व का पूर्ण प्रकाश अर्थात् जीवन्त विग्रहस्वरूप हैं। सब तत्त्व उनकी देह में पूर्ण विकसित हैं। उनमें समस्त वृत्तियों की पूर्ण परिणति एवं अपूर्व समन्वय देखने में आता है। वे सत्ता, चैतन्य और आनन्द की पूर्ण प्रकटित मूर्त्ति हैं। उनके भीतर भाव और भव का (Idea और Reality का) भेद दूरीकृत होकर दोनों पूर्ण परिणति एवं अपूर्व समन्वय को प्राप्त हुए हैं। वे सब शास्त्रों के जीवन्त प्रतीक हैं। इन्हीं पुरुषोत्तम के भीतर शक्तिमान और शक्तितत्त्व का पूर्ण विकास तथा अपूर्व मिलन आस्वाद करने का सुयोग मिलता है। वे मानो शिव-शक्ति, कृष्ण-राधा, राम-सीता की युगल मूर्त्ति हैं। भीतर शिव भाव में, शान्त अद्वैत भाव में, अवस्थित हैं और बाहर शक्ति के कार्य द्वारा दुष्ट का दमन और शिष्ट का पालन—धर्मराज्य संस्थापन—करने में सर्वदा व्रती हैं। वे भीतर विश्वातीत बाहर विश्वमय

हैं; भीतर निर्गुण बाहर सगुण हैं; भीतर संन्यासी बाहर आदर्श गृही हैं। वे एकाधार में अनासक्त अनुरागी एवं संसारी संसारत्यागी हैं। वे अपने आचरण द्वारा जीव को धर्म सिखाने के लिए आते हैं। इन्हीं के सम्बंध में कहा गया है "बहिः कृत्रिम-संरम्भः हृदि संरम्भ-वर्जितः"। उनमें परस्पर विरुद्ध भावों का अपूर्व समन्वय है—"तत्र सर्वेषां विरुद्ध-भावानाम् अपूर्व-समन्वयः"। वे क्षर-अक्षर, प्रकृति-पुरुष, सगुण-निर्गुण भाव के संयोजक, चालक एवं नियामक होते हुए भी उनके ऊपर अवस्थित हैं। वे सगुण-निर्गुण दोनों को अधिकार में कर, दोनों को धारणकर, दोनों को सम्भवपर कर, दोनों के ऊपर उदासीन भाव में अवस्थित हैं। वे स्वयं कर्मकर, सब को कर्म में प्रवृत्ति दानकर, स्वयं स्वधर्म-पालन के चरम आदर्श में वर्तमान रहते हुए भी कर्म में अलिप्त, अनासक्त, फलाकांक्षावर्जित एवं कर्मातीत हैं। प्राचीनकाल में जब कर्मकांड और ज्ञानकांड के विवाद ने भारत में तीव्र रूप धारण किया था तब उन्होंने श्रीकृष्ण रूप में आविर्भूत होकर कर्म और ज्ञान का प्रकृत स्वरूप दर्शन कराके दोनों को पूर्णता दानकर भक्ति द्वारा दोनों के भीतर का योग साधनकर, दोनों के भीतर अपूर्व समन्वय स्थापनकर, भगवान का सच्चिदानन्द नाम सार्थक किया था। उन्होंने दिखा दिया था कि आसक्ति-फलाकांक्षा वर्जित कर्म ही मुक्ति का कारण है। वे युद्ध-क्षेत्र में सारथी होकर भी अस्त्र धारण में विरत थे। जीव-जगत् में अनुप्रविष्ट रहते हुए भी वे दोनों के अतीत, अच्युत हैं। ये जीव भी नहीं हैं, जगत् भी नहीं हैं तो भी जीव-जगत् इनको छोड़कर नहीं रह सकता। ये कर्त्ता और कर्म दोनों को धारणकर दोनों के भीतर वर्तमान रहते हुए भी, दोनों के अतीत हैं। ये निर्गुण होकर भी गुणभोक्ता हैं, भूतस्थ न होते हुए भी भूतभावक हैं। ज्ञानीपुरुष इनके निर्विशेष शान्त भाव में विभोर हैं; कर्मीगण इनके नियामक, चालक, अन्तर्यामी भाव द्वारा इनकी इच्छा पूरण करने में नियुक्त हैं; प्रेमिक भक्त जन इनके सौन्दर्य-माधुर्य-रस में निमज्जित हुए अपने को भूलकर इनकी

प्रीति-सम्पादन में तत्पर हैं। इनकी सब इन्द्रियाँ, सब वृत्तियाँ, पूर्ण परिणत हैं तो भी इनका सब कुछ अप्राकृत है। इनमें क्षर का कर्म और अक्षर (ज्ञान) का फलत्याग दोनों ही वर्तमान हैं तो भी ये स्वयं क्षर-अक्षर के ऊपर पुरुषोत्तमरूप में वर्तमान हैं। मदन-दाहन के पश्चात ये मदन-मोहन रूप में सर्वचित्ताकर्षक हैं। इनकी स्थूल देह भी अप्राकृत है। ये सब तत्त्वों में अधिष्ठित रहते हुए भी, सब तत्त्वों के अन्तर्यामी चालक होते हुए भी, सब तत्त्वों के ऊपर अपने निरंजन स्वरूप में वर्तमान हैं। ये सब भावों को पूर्ण प्रकटितकर पूर्ण भव रूप में वर्तमान हैं। इन्हीं के भीतर 'होना और पाना,' 'आश्रय और विषय' तत्त्व की पूर्ण सार्थकता देखी जाती है। इनके रूप-गुण द्वारा आकृष्ट होकर सब इनकी इच्छा पूरण करने में व्रती होने को बाध्य हैं। यह बाह्यतः साधारण मनुष्य के समान बन्धु भाव में रहते हुए, साधारण मनुष्य के समान सब कार्य करते हुए, अपने आश्रित जीवों को भगवद्धाम ले जाने में समर्थ और तत्पर हैं। ये एकाधार में मनुष्य एवं अ-मनुष्य हैं। मनुष्य भाव में सर्वचित्ताकर्षक असमोर्ध्व-लावण्य-सार हैं; देव भाव में गूढ़ भगवान हैं। मनुष्य भाव में जीव इनके निकट जाकर अनिच्छित होते हुए भी देवभाव लाभ करता है। इनके स्पर्श से लोहा मानो सोना हो जाता है। बुद्धादि पुरुषोत्तम के—सब अवतारों के—भीतर ही देश-कालोचित इस प्रकार के जीवहितकर सर्वचित्ताकर्षक कार्य का परिचय मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिये कि पुरुषोत्तम को शक्ति की सन्तान कहकर छोटा किया गया है। शक्ति की सहायता से जिनकी अनुभूति होती है, शक्ति द्वारा जो आत्म-प्रकाश करते हैं, वे ही पुरुषोत्तम हैं। उनका अप्रकाश अंश निर्गुणतत्त्व है और प्रकाशांश सगुण रहस्य है। उनका यथार्थ रूप वाक्य-मन के अगोचर है। चूंकि वे शक्ति द्वारा प्रकाशित होते हैं इसलिए हम उनको शक्ति की सर्वश्रेष्ठ सन्तान (तनु = विस्तार) रूप में कल्पना करते हैं। शक्ति के आश्रय बिना—शक्ति का पूर्ण विकास

हुए बिना—पुरुषोत्तम तत्त्व अनधिगम्य है। इसीलिए पुरुषोत्तम की पूजा के पूर्व शक्तिपूजा इतनी प्रयोजनीय है। लक्ष्य है कृष्ण-प्राप्ति, प्राप्ति का उपाय है कात्यायनी की कृपालाभ, सहायता-प्राप्ति का उपाय है अवधारण। 'साधन' शक्ति द्वारा शक्ति की सहायता से किया जाता है और 'भजन' कृष्ण-प्राप्ति के पश्चात् कृष्ण की तृप्ति के लिए होता है।

याद रखना होगा कि ये पुरुषोत्तम केवल कृष्ण में सीमाबद्ध नहीं हैं; ये बौद्धों के बुद्ध, ईसाईयों के ईसा, शैवों के शिव, इत्यादि हैं। जिस अर्थ में ईसा को Son of God कहा गया है ठीक उसी अर्थ में पुरुषोत्तम शक्ति की सन्तान हैं। यहाँ God=पिता नोऽसि (उपनिषद्), माता स्वधा (स्वधया क्रितं)। कबीर ने कहा है—'निर्गुण है पिता हमारा और सगुण महतारी'। भोलानाथ सार वस्तु होते हुए भी हमारे लिए मृतकल्प हैं, उनका होना न होना समान है। हम उनकी कृपा लाभ करते हैं माँ की सहायता से जो सन्तान और पिता का मिलन कराने में व्यस्त हैं। इसी से हम इतने मातृगत, मातृसर्वस्व हैं। "माँ यदि सन्ताने मारे छेले काँदे माँ माँ बले। छेड़े दिलेओ गला धरे छाड़े ना माँ यत बके॥"* माँ की समवायिनी शक्ति शिव के तृप्तिविधान में व्यस्त हैं और परिग्रहा शक्ति सन्तान के पालन और रक्षण में—जीव को शिव में परिणत करने में—सर्वदा व्यस्त हैं। लक्ष्य पिता (विषयतत्त्व) होने पर भी माँ (आश्रयतत्त्व) ही आश्रयनीया हैं।

साधारणत: दो विषय हमारे अनुभव में आते हैं—(१) तत्त्व (Idea) और (२) इतिहासादि रूप में उसका बहिःप्रकाश (Reality)। ऋषियों ने समाहित अवस्था में चरम तत्त्व को जिस प्रकार उपलब्ध किया जीव-जगत् के भीतर ऐतिहासिक भाव में उसका अनेकांश बहिःस्फुरण देखकर स्तम्भित हो गये। जीव-जगत् मानो उसी चरम तत्त्व का बहिःस्फुरण

* भावार्थ—माँ जब बच्चे को मारती है तो बच्चा माँ माँ ही चिल्लाता है। माँ चाहे जितना डाँटे बच्चा माँ का पीछा नहीं छोड़ता।

है—Manifestation of the Unmanifested. यहाँ तत्त्व जीवन-गत होकर व्यक्तिगत होने की चेष्टा कर रहा है। हम सर्वत्र तत्त्व का (Principle) बहिःप्रकाश, व्यक्तिरूप में आविर्भाव (Personification), देखते हैं। भाव पहले आया या भव, इस विषय में अनेक गवेषणा हो रही है। आर्यऋषि इन दोनों का अपूर्व समन्वय साधितकर दोनों को एकाचरम सत्य के विभाव रूप में वर्णन कर गये हैं। तत्त्व भिन्न व्यक्तित्व और व्यक्ति भिन्न तत्त्व अनुभव करना प्रायः असंभव है। धवलता (Whiteness) को धवल पदार्थ के बिना अनुभव करना सहज नहीं। जो धवल पदार्थ को छोड़कर धवलता अनुभव करने की चेष्टा करते हैं उनकी चेष्टा को पाश्चात्य पंडितों ने Metaphysical abstraction कहकर विद्रूप किया है। तात्त्विक पुरुषोत्तम जब व्यक्तित्व द्वारा आत्मप्रकाश करते हैं तब वे वरेण्य, लोभनीय, ग्रहणयोग्य हो जाते हैं इसमें सन्देह नहीं। इसी से भारत के ऋषि-साधक तत्त्व और लीला का अपूर्व समन्वय दिखाने के लिए इतने व्यस्त थे। जिसको विचार में चरम सार तत्त्व मानकर ग्रहण किया है उसको बाहर ऐतिहासिक जगत् में अपने सामने प्रकटित देखने पर वह तत्त्व अत्यधिक हृदयग्राही, लोभनीय, और उपास्य हो जाता है इसमें सन्देह नहीं। दया के सम्बंध में आलोचना और ग्रन्थ पाठ करने की अपेक्षा एक उन्नत दयालु व्यक्ति का सान्निध्य लाभ करना दया वृत्ति के अनुशीलन में विशेष उपयोगी होगा इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए शायद साधकगण, विशेषतः वैष्णवगण, तत्त्व चिन्ता की अपेक्षा लीलारस आस्वादन की इतनी चेष्टा करते हैं। 'मानुष हइया एसो प्रभु भगवान। दुटि कथा कये तबे जुड़ाइब प्राण ॥'* हमारे पुरुषोत्तम ही चरम तत्त्व के पूर्णता प्राप्त प्रतीक हैं।

जीव जब शक्तिपूजा के फलस्वरूप पुरुषोत्तम को प्राप्त करने के

---

* हे भगवान मनुष्यरूप में दर्शन दो। दो बात करूँगा तब तो दिल लगेगा।

लिए व्यस्त हो जाता है, पुरुषोत्तम के प्रिय-कार्य-साधन में दृढ़प्रतिज्ञ होता है, तब वे जीव के दुख से व्यथित होकर जीव के सम्मुख वंशी बजाते हुए क्षणमात्र के लिए व्यक्त रूप में उपस्थित होते हैं। तब जीव उनके क्षणिक दर्शन से मुग्ध हुआ उनको स्थायी रूप में प्राप्त करने के लिए व्याकुल होकर प्रार्थना करने लगता है।

एह्येहि कृष्ण सकृदेव भवातिथिस्त्वं
हे भक्तवत्सल गृहाण निमंत्रणं मे।
प्रेमाश्रु-पाद्य-परिधौत-पादाम्बुजे ते
आत्मानमेव कुसुमांजलिमुत्सृजामि ॥४२॥

कृष्ण (हे कृष्ण) एहि (आओ) सकृद् एव (एक बार) एहि (आओ) त्वम् अतिथिः भव (तुम अतिथि रूप में मेरे सम्मुख, मेरे हृदय में, आविर्भूत हो)। हे भक्तवत्सल (हे भक्त-वत्सल) मे निमंत्रणं गृहाण (मेरा निमंत्रण ग्रहण करो)। ते प्रेमाश्रु-पाद्य-परिधौत-पादाम्बुजे (प्रेमाश्रु रूपी पाद्य द्वारा परिधौत तुम्हारे चरण-कमलों में) आत्मानम् एव (अपने आत्मा को ही) कुसुमांजलिं (कुसुमांजलि रूप में) उत्सृजामि (उत्सर्ग कर दूँगा)।

अर्थात् हे मेरे प्राणप्रिय इष्टदेव श्रीकृष्ण, एकबार मेरे सम्मुख आविर्भूत हो, मैं अपने आत्मा को ही तुम्हारे चरणों में निवेदनकर जीवन सफल करूँगा।

❀ एह्येहि कृष्ण सकृदेव भवातिथिर्मे
पादाम्बुजे तव निवेदनमेतदेव।
प्राणेश हे हृदय-कोमल-पद्म-तल्पे
त्वां शाययामि सुचिरं न विसर्जयामि ॥४३॥

एहि एहि कृष्ण सकृत् एव भव अतिथिः मे (आओ, हे कृष्ण, एकबार आओ, मेरे अतिथिरूप में आविर्भूत हो)। तव पादाम्बुजे (तुम्हारे चरणकमलों में) एतद् एव निवेदनं (यही एकमात्र निवेदन

है)। हे प्राणेश (हे प्राणेश) हृदय-कोमल-पद्म-तल्पे (अपने हृदय की कोमल पद्म-शय्या पर) त्वां सुचिरं शाययामि (तुमको चिरकाल के लिए शयन कराऊँगा) विसर्जयामि न (और कभी जाने नहीं दूँगा)।

अर्थात् हे मेरे अभिलषित भगवान् मैं तुमको अपने हृदय में हमेशा के लिए जगह दूँगा और कभी नहीं जाने दूँगा। तुम आओ मुझे दर्शन दो।

भगवद्दर्शन का क्रम—साधना के फलस्वरूप चित्त जब अनेकांश शुद्ध हो जाता है तब भक्तवत्सल भगवान प्रथमतः अति अल्प समय के लिए भक्त को दर्शन देकर अन्तर्हित हो जाते हैं। इस अवस्था में साधक भगवत्-विरह से व्याकुल हो जाता है। चित्त से सब कामना, वासना, आसक्ति, संस्कार, प्रतिष्ठामोह, सुखस्पृहा, इत्यादि सम्पूर्णतः दूर हो जाने पर साधक जब कृष्ण-सुखैक-तत्पर हो जाता है अर्थात् जब कृष्ण के अतिरिक्त भीतर और बाहर की सब अनुभूतियाँ सम्पूर्णतः लोप हो जाती हैं अथवा जब वह तन्मनस्क-तदालाप-तद्विचेष्ट-तदात्मक हो जाता है तब भक्तवत्सल प्रेममय श्रीभगवान उसके सम्मुख भुवनमोहन रूप में आविर्भूत होकर साधक का जीवन सार्थक करते हैं। प्रथम दर्शन के पश्चात् का यह विरह-भाव पूर्ण-मिलन में सहायक होने के कारण वैष्णव समाज में अति आदृत है।

अनन्तविश्वाश्रय वीर्यशालिन् विश्वस्थसौन्दर्यनिदानभूत।
माधुर्यलावण्यरसैकसिन्धो हे सच्चिदानन्द नमो नमस्ते ॥४४॥

अनन्तविश्वाश्रय (हे अनन्त विश्व के एकमात्र आश्रय) वीर्यशालिन् (हे अनन्त वीर्यशालिन्) विश्वस्थसौन्दर्यनिदानभूत (हे विश्व के समस्त सौन्दर्य-माधुर्य की एकमात्र खान) माधुर्य-लावण्य-रसैकसिन्धो (माधुर्य लावण्य रस के एकमात्र समुद्रस्वरूप) हे सच्चिदानन्द (हे सच्चिदानन्द) ते नमः नमः (तुमको बारंबार नमस्कार)।

अर्थात् सगुण-ब्रह्म अशेष कल्याण गुण की खान हैं; सत्ता, चैतन्य और आनन्द की घनीभूत मूर्त्ति हैं, असमोर्ध्व लावण्यसार हैं।

सर्वज्ञाननिधिर्गुणैकनिलयो भावाश्रयः सर्वगः
त्वं सर्वत्र सदा समंजसतया सर्वान्तराकर्षकः।
ध्येयः सिद्धजनैर्मदीयहृदये धृत्वेष्टदेवद्युतिं
सार्थं मे कुरु जीवनं करुणया दीनैकबन्धो विभो ॥४५॥

त्वं सर्वज्ञाननिधिः (तुम सर्वज्ञान के समुद्र) गुणैकनिलयः (समस्त गुण के एकमात्र आश्रय) भावाश्रयः (शान्त-दास्यादि सब भावों के आश्रय) सर्वगः (सर्वव्यापी) [हो] । सर्वत्र सदा (सब जगह एवं सब समय) समंजसतया (सब गुणों के अपूर्व समन्वय द्वारा) सर्वान्तराकर्षकः (सब के चित्ताकर्षणकारी हो) । सिद्धजनैः ध्येयः (सिद्ध महात्मागण तुम्हारा नियत ध्यान करते हैं)। दीनैकबन्धो (हे दीनों के एकमात्र बन्धु) विभो (हे विभु) करुणया (कृपाकरके) मदीयहृदये (मेरे हृदय में) इष्टदेव-द्युतिं धृत्वा (इष्टदेव के ज्योतिर्मय रूप में आविर्भूत होकर) मे जीवनं सार्थं कुरु (मेरा जीवन सार्थक करो) ।

अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण में सब भावों की और सब गुणों की पूर्ण परिणति तथा अपूर्व सामंजस्य वर्तमान है; इस लिए वे पूर्णता-प्राप्त आदर्श, पूर्णावतार, और सर्वचित्ताकर्षक हैं। वे हमारे इष्ट कृष्णविग्रह-रूप में हमारे हृदय में आविर्भूत होकर हमारा जीवन सफल करें।

अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति
पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति ।
आनन्द-चिन्मय-सदुज्ज्वल-विग्रहस्य
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥४६॥

आनन्द-चिन्मय-सद्-उज्ज्वल-विग्रहस्य (सत्-चित्-आनन्दमय उज्ज्वल विग्रहरूप) यस्य (जिनके) सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति (समस्त इन्द्रिय-गुण-वृत्ति-युक्त) अंगानि (अंग-प्रत्यंग) जगन्ति (अनन्त ब्रह्मांड को) चिरं पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति (सर्वदा देख रहे हैं, रक्षा कर रहे हैं, सृष्टि एवं संहार कर रहे हैं अर्थात् जिनके प्रत्येक अंग में सब इन्द्रियों की वृत्तियाँ और

सामर्थ्य हैं) तं आदिपुरुषं गोविन्दं अहं भजामि (उन विश्व-विश्रुत आदिपुरुष गोविन्द को मैं भजता हूँ) ।

अर्थात् जो भगवान श्रीकृष्ण प्रत्येक रोमकूप में अनन्त विश्व-ब्रह्मांड दर्शन कराने में समर्थ थे उनके प्रत्येक अवयव में समस्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ पूर्णतया प्रस्फुटित होंगी इसमें सन्देह करने का कारण नहीं। उनके चक्षु केवल देखने में ही समर्थ न थे प्रत्युत सब इन्द्रियों का कार्य सम्पादन कर सकते थे। उनके भीतर सत्ता, चैतन्य और आनन्द पूर्णरूप में विकसित थे। उनकी देह-इन्द्रियादि सभी अप्राकृत थे।

❀ विश्वजीवनविमोहनच्छबिः कोऽसि देव यदुदेसि मे पुरः ।
त्वां पिबामि हृदयेन निर्भरं तिष्ठ तिष्ठ सविधे क्षणं मम ॥४७॥

देव (हे देव) [त्वं] कः असि (तुम कौन हो) यत् मे पुरः जो मेरे सम्मुख) विश्व-जीवन-विमोहनच्छबिः (विश्वजीव को विमोहन करने वाले रूप में) उदेसि (आये हो)। त्वां (तुमको अर्थात् तुम्हारी रूप-माधुरी को) हृदयेन (समस्त अन्तर से) निर्भरं (एकान्त, निर्भय अथवा पूर्णरूप से) पिबामि (मैं पान करूँगा)। तिष्ठ (अपेक्षा करो) मम सविधे (मेरे सम्मुख) क्षणं तिष्ठ (क्षण भर के लिए ठहरो)।

अर्थात् तुम जगत् की दृष्टि और जीवन को मोहितकर विराजमान हो। तुम मेरे हृदय में प्रकट हुए हो। इसी से प्रार्थना करता हूँ कि तुम कुछ समय के लिए मेरी दृष्टि में उपस्थित हो जिससे मेरी दृष्टि तुम्हारे रूप की सेवाकर धन्य हो सके।

❀ गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥४८॥

[त्वं] गतिः (तुम जीव और जगत् की एकमात्र गति) भर्त्ता (पालन कर्त्ता) प्रभुः (रक्षक) साक्षी (अन्तर्यामी द्रष्टा) निवासः (आश्रयस्थान) शरणं (शरण्य) सुहृत् (मित्र) प्रभवः (उत्पत्ति स्थान) प्रलयः (लय स्थान) स्थानं (अन्तिम पर्यवसान स्थल) निधानं

(सब प्रकार के गुण और शक्ति के एकमात्र गूढ़ आधार) अव्ययं बीजं (समस्त जगत् के चिरस्थायी बीज-स्वरूप और अव्यय) [हो]।

गति—सब तत्त्वों के भीतर परावस्था में जाकर भगवद्दर्शन लाभ करना होगा। सब भावों में उनको आस्वाद करना होगा। वे ही हमारे सर्वस्व हैं, उनको छोड़कर और कुछ नहीं है, यह तत्त्व अच्छी तरह हृदयंगम करना होगा। भगवान ही हमारी गति हैं किन्तु गम्यस्थल में पहुँचकर ही उनको प्राप्त करेंगे ऐसा नहीं है, प्रत्येक पद में उनको आस्वाद करना होगा। वे ही हमारे पास आकर हमको हाथ पकड़कर अपने आनन्दलोक में लेजारहे हैं; वे ही हमारे जीवन के लक्ष्य हैं, हमारी साधना हैं, हमारे गुरु हैं—यह तत्व उपलब्ध करना होगा।

भर्त्ता—हे हमारी गति, तुम्हीं हमारे भर्त्ता हो। तुम्हीं हमारे भीतर शक्ति संचारकर पालक के वेश में हमारे संगी बनकर हमें ले जाते हो। रास्ते में हमारे भरण-पोषण का भार भी तुम्हीं ने लिया है। "याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।" (शाश्वत काल से सब अर्थों का आवश्यकतानुसार विधान कर रहे हो)।

प्रभु—बुद्धि के दोष से, संस्कारवशतः, हम तुम्हारे संग चलने को अनिच्छित हों तो तुम प्रभु बनकर बलपूर्वक हमें साथ ले चलो। अपने आनन्दधाम में लेजाय बिना, अपना पूर्णानन्द आस्वाद कराये बिना, तुम हमें नहीं छोड़ सकते। हम चलने में असमर्थ हों तो तुम हाथ पकड़कर, गोद में लेकर, ले जाने को तैयार हो।

साक्षी—तुम हमारे अक्लान्त चालक होते हुए भी अपना कोई स्वार्थ न होने के कारण निर्लिप्त और उदासीन हो। तुम्हारा यह भाव देखकर हमारा कर्त्तृत्वाभिमानादि स्वतः दूर हो जाता है। (तुलनीय—"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति")

निवास—तुम हमको किसी विदेश अथवा बन्दीशाला में नहीं ले जा रहे हो। स्वरूप-विस्मृत, अशान्त, दुःखार्त्त को उसका प्रकृत स्वरूप

बतलाकर प्रकृत आनन्दधाम में ले जा रहे हो। तुम्हीं हमारे चरम विश्राम, नित्यधाम के आनन्द निकेतन हो।

शरण—तुम्हीं हमारे रक्षा-कवच हो। हमें अब भय का कोई कारण नहीं, और कोई आश्रय ढूँढने की भी ज़रूरत नहीं। हमें जो कुछ जानना, समझना, होना और पाना है वह सब कुछ तुम्हीं हो। हमारी समस्त कामना-वासना का पर्यवसान तुम्हीं में है। तुमको प्राप्त करके हमारी समस्त वृत्तियाँ और चिन्ताएँ लोप हो जाती हैं।

सुहृद्—तुम हमको परम मित्र के भाँति हाथ पकड़कर हमारे हृदय में बसकर चला रहे हो। तुम केवल रक्षक ही नहीं वरन् हमारे परम सुहृद् हो। तुम जो हमको हाथ पकड़कर ले जा रहे हो यह अपने किसी स्वार्थ के लिए नहीं अथवा कर्त्तव्य की ताड़ना के कारण भी नहीं—इसमें तुम्हारी अहैतुक कृपा, तुम्हारे मन की गंभीर वेदना मुझे दिखाई देती है।

प्रभव, प्रलय—तुम्हारी सृष्टि, तुम्हारी यह लीला "आनन्दप्राचुर्यात् न तु अभावात्—बालनृत्यवत्" है। तुम आनन्दमय हो, इसीलिए तुम प्रत्येक जीव को, प्रत्येक परमाणु को, सृष्टि-स्थिति-लय के द्वारा पूर्ण परिणति पूर्ण आनन्द की ओर ले जा रहे हो। हम समुद्र की लहर के समान तुम से उत्पन्न हैं, तुम्हारे सहित लीलारत हैं एवं तुम में ही लय को प्राप्त होंगे।

स्थान—तुम्हीं चरम विश्राम, हमारे नित्यधाम हो। 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'—(गी० ८-२१)। यह जो हमारी बीच की थोड़ी सी स्थिति है यह भी तुमने अपनी लीलामाधुर्य द्वारा आनन्दमय कर रखी है।

निधान—तुम ही हमारे चरम परम आधार हो। तुम को प्राप्त करके ही जीव को परम विश्रान्ति मिलती है।

बीज—हमारी पूर्ण परिणति और चरम शान्ति के लिए यह जो तुम्हारा लीला रहस्य है इसके भी मूल कारण तुम ही हो। इस पूर्ण

परिणति का बीज सब जीवों में, प्रत्येक परमाणु में, निहित है। तभी तो तुमने गीता में कहा है 'अहं बीजप्रदः पिता'—(गी० १४–४)। सृष्टि-स्थिति-लय द्वारा हमारी आनन्दधाम की ओर गति का मूल कारण भी तुम्हारी कृपा है। यदि तुम हमारे भीतर बीज रूप में न होते तो हम पत्थर के समान अचेतन होते।

अव्यय—इतने क्रिया- व्यापार में भी तुम अक्रिय-उदासीन-अखंड-अद्वय तत्त्व रूप में विराजित हो। तुम हमको अपना अखंड-अद्वय-नित्य आनन्द आस्वाद कराये विना तृप्त नहीं हो सकते। तुम इतने प्रेमिक हो कि अपने और हमारे बीच का भेदभाव दूरकर, हमको अपने प्रेमसागर में डुबाकर, चरम अखंड अद्वय तत्त्व अस्वाद कराने के लिए सर्वदा सचेष्ट हो।

❀ त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥
(३ बार) ४९॥

त्वं एव माता (तुम्हीं माता) त्वं एव पिता च (और तुम्हीं पिता) त्वं एव बन्धुः (तुम्हीं बन्धु) त्वं एव सखा च (और तुम्हीं सखा) त्वं एव विद्या (तुम्हीं विद्या) त्वं एव द्रविणं (तुम्हीं धनदौलत) [हो]। देवदेव (हे देवादिदेव) त्वं एव मम सर्वं (तुम्हीं मेरे यथासर्वस्व हो)।

अर्थात् तुम भावाश्रय हो। तुमको जो जिस रूप जिस भाव में स्मरण करता है तुम उसी रूप उसी भाव में उसके पास जाते हो। तुम वस्तुतः सब सम्बंधों से अतीत होते हुए भी, स्नेहवशतः, मनुष्य के साथ सब प्रकार के सम्बंध द्वारा आबद्ध हो। इस लिए तुम्हीं माता तुम्हीं पिता, तुम्हीं बन्धु, तुम्हीं सखा, तुम्हीं ऐश्वर्य, तुम्हीं ज्ञान, तुम्हीं विज्ञान हो। तुम्हारे अतिरिक्त हमारे चिन्तन करने, इच्छा करने अथवा प्राप्त करने योग्य और कुछ नहीं है। तुमको प्राप्त करके और कुछ प्राप्त करने को बाकी नहीं रह जाता।

प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्
यदेषोऽन्तरतम आत्मा ॥ ५० ॥

पुत्रात् प्रेयः (पुत्र से प्रिय) वित्तात् प्रेयः (वित्त से भी प्रिय) अन्यस्मात् सर्वस्मात् प्रेयः (अन्य जो कुछ है सबसे प्रिय) [हो] यद् एषः (इसलिए कि) अन्तरतमः आत्मा (अन्तरतम आत्मा) [हो]।

अर्थात् पुत्र, वित्त एवं जगत् के समस्त पदार्थों से तुम प्रिय हो। वस्तुतः तुम सब की अपेक्षा प्रियतम हो क्योंकि तुम अन्तरतम आत्मस्वरूप हो। तुम इनके भीतर हो इसीलिए तो हमारे आत्मीय-स्वजन हमको इतने प्रिय हैं; जब तुम इनके भीतर प्रकाशित नहीं होते तब हम इनको श्मशान में ले जाकर फूँक देते हैं।

ॐ रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति
तृप्तीभवति अमृतीभवति ॥ ५१ ॥

सः (वे) रसः वै (रसस्वरूप हैं)। अयं (यह जीव) रसं हि एव (उन रस-स्वरूप परब्रह्म को ही) लब्ध्वा (लाभकरके) आनन्दीभवति (आनन्दित होता है) तृप्तीभवति (तृप्त होता है) अमृतीभवति (अमृत-मय होता है)।

अर्थात् वे रस-स्वरूप हैं और सब प्रकार के आनन्द के मूल में उन्हीं रस-स्वरूप का परमास्वाद है।

ॐ यत् प्राप्य न किंचिद् वांछति न शोचति
न रमते नोत्साही भवति ॥ ५१ (क) ॥

यत् प्राप्य (जिसको प्राप्तकरके) [मनुष्य] न किंचित वांछति (और कुछ नहीं चाहता) न शोचति (न शोक करता है) न रमते (न किसी वस्तु में आसक्त होता है) न उत्साही भवति (और न किसी वस्तु के लिए उत्साह करता है)।

अर्थात् तुमको प्राप्तकरके जीव की समस्त इच्छा और कामना-वासना सम्पूर्णतः निवृत्त हो जाती हैं।

ॐ यज् ज्ञानान्मत्तो भवति स्तब्धो भवति
आत्मारामो भवति ॥५१ (ख)॥

यत् ज्ञानात् (जिसका ज्ञान प्राप्तकरके) [मनुष्य] मत्तः भवति (बाह्यज्ञान रहित आनन्द से उन्मत्त हो जाता है) स्तब्धः भवति (स्तब्ध हो जाता है) आत्मारामः भवति (आत्माराम लाभ करता है)।

अर्थात् उनको जानकर जीव आत्मानन्द में ऐसा विभोर हो जाता है कि फिर और कुछ भी करणीय, चिन्तनीय, वरणीय बाक़ी नहीं रहता।

❀ तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥५२॥

ईश्वराणां परमं महेश्वरं (जो सब ईश्वरों के परम महेश्वर हैं) तं (उनको) देवतानां परमं दैवतं च (जो सब देवताओं के भी परम देवता हैं) तं (उनको) पतीनां पतिं (जो पालनकर्त्ताओं के भी पालनकर्त्ता हैं) परस्तात् परमं (सब विषयों में श्रेष्ठ हैं) भुवनेशं (भुवन के ईश्वर हैं) ईड्यं देवं (उन्हीं पूज्य देव को) विदाम (हम जानेंगे)।

अर्थात् ईश्वर अनेक हैं। प्रत्येक ब्रह्मांड का पृथक् ईश्वर है किन्तु हमारे पुरुषोत्तम सब ईश्वरों के अधीश्वर रूप में, महेश्वर या परमेश्वर रूप में, विराजमान हैं। भगवत्-स्वरूप की थोड़ी सी उपलब्धि के पश्चात् भजनस्पृहा आरम्भ होती है, भगवद्धाम में प्रवेश और स्थिति-लाभ करने की तीव्र आकांक्षा उत्पन्न होती है। तब परमात्मभाव में सब साधनों को पूर्ण करने की प्रबल चेष्टा जाग उठती है।

भगवत्-कृपा से भगवत्-स्वरूप उपलब्धकर ज्ञात हो गया कि हमारे देहेन्द्रियादि, आत्मीय-स्वजन सब भगवान ने दिये हैं; वे ही हमको चला रहे हैं। उनको छोड़कर हमारा कुछ नहीं है और कोई नहीं है। अब तक वृथाभिमान ने हमको यह तत्त्व उपलब्ध नहीं करने दिया और अशेष

दुःख भोगना पड़ा । अब हम अंगन्यास करन्यासादि की सहायता से भगवान में समस्त कर्त्तृत्वाभिमान त्याग कर अपने भीतर और बाहर सर्वत्र भगवल्लीला दर्शन करने की चेष्टा करेंगे ।

न्यास-तत्त्व

'नि' पूर्वक 'अस्' धातु से 'न्यास' शब्द साधित होता है । 'अस् क्षेपणे स्थापने च' । अस् धातु का अर्थ है क्षेपण करना एवं स्थापन करना । जिसका जो स्थान नहीं है यदि वह बलपूर्वक वहाँ बैठ जाय तो उसको उस स्थान से हटाकर वहाँ के प्रकृत मालिक को बैठा देने का नाम है 'न्यास क्रिया' । स्वर्ग इन्द्र का राज्य है; महिषासुर बलपूर्वक वहाँ प्रवेश कर स्वर्ग का राजा बनकर बैठ गया है —'स्वर्गात् निराकृता देवा इन्द्रोऽभूत् महिषासुरः' । इसी प्रकार हमारी यह देह, देह के विचित्र यंत्र तथा विभिन्न तत्त्व हमने सृष्ट नहीं किये; इनके ऊपर हमारा कोई कर्त्तृत्व नहीं है; मृत्यु के समय हम इनको अपने साथ नहीं ले जा सकते । चरम निर्वाण के समय यह हमारे संग नहीं जायेंगे । इसलिए इनके मालिक हम नहीं हैं, श्रीभगवान हैं । उन्होंने दया करके ये देह, आत्मीय-स्वजन, धन-दौलत एवं अन्य सुख के सब उपकरणों को केवल भोग करने का कुछ अधिकार मात्र हमको दिया है । अपनी देह को, बालबच्चों को, धन-ऐश्वर्य को 'मेरा' कहना सम्पूर्णतः भूल है । ये कोई भी न मेरे साथ आया था न मेरे साथ जायगा । यह सब भगवान के हैं । हमने इनको 'अपना' कहकर नाना उपसर्गों की सृष्टि कर दी है । इन सब पदार्थों में से आगन्तुक अनर्थकारी 'मेरा' भाव दूरकर ये सब भगवान के हैं यह तत्त्व अनुभव करना ही अंगन्यास क्रिया का उद्देश्य है । अंगन्यास क्रिया के मंत्रों के भीतर अपने विभिन्न अंगों में, विभिन्न तत्त्वों में, विभिन्न देवताओं का, विभिन्न भगवत्-शक्तियों का चिन्तन करने की व्यवस्था है । इसका उद्देश्य

है उपलब्ध करना कि ये सब अंग, ये सब तत्त्व, श्रीभगवान के हैं—मेरे नहीं।

अंगन्यास—अंग का अर्थ है देह। अंगन्यास का अर्थ है देह के विविध तत्त्वों का न्यास, इनके ऊपर वृथा स्वाभिमान त्याग करना। ये सब मेरे नहीं हैं, ये हमारे प्रियतम भगवान के हैं इसलिए मेरे आदर के योग्य हैं। इनको प्रेमपूर्वक अच्छी तरह रखना होगा किन्तु समझना होगा कि ये मेरे नहीं हैं। अंगन्यास क्रिया द्वारा हम अनासक्त अनुरागी होने की शिक्षा लाभ करते हैं।

करन्यास—हमारी यह देह सर्वप्रथम एक परमाणु के समान सूक्ष्म थी। किसकी शक्ति से और किस प्रकार यह एक पुष्ट परिणत सर्वकार्यक्षम यंत्र में परिणत हुई यह किसी भी दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक के सम्पूर्णतः अनुभव में नहीं आता। इस देह के विभिन्न अवयव, शिरा, स्नायु, इन्द्रियादि एवं इनकी कार्यप्रणाली हृदयंगम करने में श्रेष्ठ वैज्ञानिक तक स्तम्भित और पराभूत हो गए हैं। किस प्रकार भुक्त अन्न रक्त में परिणत होता है, किस प्रकार विविध यंत्रों का कार्य साधित होता है, इस विषय में हमें कोई कर्तृत्व अथवा ज्ञान नहीं। हमारे संस्कार कहाँ से उत्पन्न होते हैं, कहाँ ले जा रहे हैं, कैसे हमको चला रहे हैं—यह तत्त्व तो प्रायः हम कुछ भी नहीं जानते। नदी में बहता हुआ फूल यदि कहे कि मैं इस स्रोत का चालक हूँ, हाथ में क़लम यदि कहे कि मैं हाथ से लिखवाता हूँ, अथवा विद्युत् के सम्बंध को वर्जनकर पंखा यदि कहे कि मैं हवा देता हूँ या बल्ब कहे कि मैं प्रकाश देता हूँ, तो यह जिस प्रकार हास्यकर होगा हमारे सब कार्यों में हमारा वृथा कर्तृत्वाभिमान देखकर भी शायद कोई इसी प्रकार हँसता है। इस प्रसंग में केनोपनिषद् की देवताओं का दर्प चूर्ण करने की कहानी आस्वादनीय है। इसलिए तत्त्वदर्शी ज्ञानी कहते हैं कि 'कार्य हम नहीं करते, ये हमारे द्वारा कारित होते हैं; हम कर्त्ता नहीं हैं, हम यंत्रमात्र हैं'। इसी कारण गीता में अर्जुन को केवल निमित्तमात्र

होने का उपदेश किया गया है—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' (गी० ११-३३)। इस वृथा कर्त्तृत्वाभिमान रूप महिषासुर को बध कर अहंकार के हाथ से कर्त्तृत्व बुद्धि को छीनकर प्रकृत कर्त्ता को अर्पण करना ही न्यासक्रिया का उद्देश्य है। करने न करने का कर्त्ता मैं नहीं हूँ, कर्त्ता हैं श्रीभगवान—भगवत्-शक्ति। इस प्रकार की अनुभूति के साथ निरहंकार भाव स्वतः ही आ जाता है। अंगन्यास, करन्यास द्वारा हम निर्मम-निरहंकार भाव लाभ करते हैं। दुःख का विषय है कि आजकल ये सब क्रियाएँ प्रायः एक नीरस मंत्रोच्चारण और बाह्यिक हस्तक्रिया में पर्यवसित हो गई हैं।

मातृकान्यास—'मातृ' शब्द के सहित अल्पार्थवाचक 'क' प्रत्यय युक्त करने से स्त्रीलिंग 'मातृका' शब्द बनता है। मातृका का अर्थ है 'खंड खंड माँ' अर्थात् शक्ति। हमारी इस खंडदेह में वर्णोच्चारणादि क्रियाकलाप का कर्त्तत्व इन्हीं मातृका के हाथ में न्यस्त है। ये मातृका ही हमारी खंड देह में स्थित हुई—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी स्तर भेद-कर—हमारे द्वारा उच्चारित शब्दों की प्रकृत मालिक हैं। इनके कथन को अपना कथन समझकर हम अपने संस्कार द्वारा, अपने विकृत भाव द्वारा, शब्दब्रह्म तत्त्व को विकृत कर देते हैं। मातृकान्यास के फलस्वरूप हम अपनी इस देहाविच्छिन्न खंडीकृत माँ को जगद्व्यापी माँ में मिलाकर अखंड मातृशक्ति का, अखंड शब्दब्रह्म तत्त्व का, स्वरूप आस्वाद करने की योग्यता लाभ करते हैं। तब माँ हमारे मुख से अपने शब्द तत्त्व का अबाधित प्रकाश साधितकर हमारे उच्चारित शब्दों को शब्दब्रह्म रूप वेद में परिणत करने का सुयोग लाभ करती हैं। इस अवस्था में साधक समझता है कि माँ ही मानो मेरे मुख से वेद उच्चारण कर रही हैं, माँ शब्दब्रह्मतत्त्व प्रकाश कर रही हैं। माँ को शब्दब्रह्म रूप में, अपने भीतर से अबाधित रूप में, वेद रूप में, आत्मप्रकाश करने की योग्यता दान करने का नाम ही है मातृकान्यास। ऋषिगण मातृकान्यास के फल

स्वरूप भगवान में आत्मसमर्पणकर अपने अवधारित कथन द्वारा वेद की महिमा प्रचार करते थे और अपने को वेदमंत्र के द्रष्टा व उच्चारण कर्त्ता कहकर परिचय देते थे। इसीलिए ऋषि-वाक्य अभ्रान्त सत्य माना जाता था।

ऋष्यादिन्यास—मातृकान्यास की अनुभूति लाभ करने के लिए ही हमारी प्रचलित सरस्वती पूजा है। ऋष्यादिन्यास के फलस्वरूप हम वेद के मंत्रकर्त्ता ऋषियों के भाव से परिभावित होकर, ऋषियों की संगति में चालित होकर, अपने उच्चारित वाक्यों को ऋषिवाक्य अथवा वेदवाक्य रूप में अनुभव करने का सुयोग पाते हैं। तब हमारी देह, हमारी वागिन्द्रिय, ऋषियों के—परमात्मा भगवान के—यंत्ररूप में परिगणित होने की योग्यता लाभ करती है।

व्यापकन्यास—सर्वभूत में सर्वव्यापी भगवत्सत्ता की, भगवत्-कार्य प्रणाली की एवं भगवत्-आनन्द की उपलब्धि लाभ करना ही व्यापकन्यास का उद्देश्य है। जीवजगत् श्रीभगवान की मूर्त्ति—भगवद्विकास—है। इस मूर्त्ति के भीतर उनका अस्तित्व और उनकी लीला दर्शन करना एवं उनमें सत्यप्रतिष्ठा, प्राणप्रतिष्ठा और आनन्दप्रतिष्ठा का अधिकार लाभ करना ही व्यापकन्यासक्रिया की स्वाभाविक परिणति है।

अनन्त विश्व के अधिष्ठाता हमारे एकमात्र प्रियतम सुहृद्, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य के आधार, श्रीभगवान हमारी देह के सब यंत्रों को निर्माणकर हमारे हृदय में अधिष्ठित हुए इनको परिचालित कर रहे हैं। हमारी वृथा आसक्ति और कर्त्तृत्वाभिमान इस परम तत्त्व को अनुभव करने में बाधा देते हैं। हम साधना के प्रभाव से अपने देहादि में वृथा स्वाभिमान और कर्त्तृत्वाभिमान को दूर कर सकने से ही भगवान का कर्त्तृत्व उपलब्ध करने की योग्यता लाभ करेंगे। यही वृथा ममत्वाभिमान और अहंकार दूरकर अपने भीतर स्थित अन्तर्यामी का कार्यकलाप उपलब्ध करने के लिए ही न्यासतत्त्व का एकान्त प्रयोजन है। न्यासतत्त्व

की साधना के फल स्वरूप हमारे भीतर से निर्मम-निरहंकार भाव उदित होकर हमको सत्यप्रतिष्ठ और प्राणप्रतिष्ठ करता है।

सब न्यासों का एक ही उद्देश्य है। श्रीभगवान किस प्रकार अनन्तरूप धारणकर अनन्त लीलारस विस्तार किये हुए हैं—यह अनुभूति लाभकर, सर्वत्र उनका दर्शनकर, उनके ध्यान और सेवा की योग्यता लाभ करना ही न्यासक्रिया का स्वाभाविक फल है।

न्यास प्रधानतः त्रिविध है : —

(१) अंगन्यास द्वारा यह तत्त्व उपलब्ध होता है कि मेरे, मेरे आत्मीय जनों के एवं मेरे जगत् के सब अवयव अथवा तत्त्व मेरे नहीं हैं, ये श्रीभगवान के हैं। इसके फलस्वरूप साधक सम्पूर्णतः आसक्तिवर्जित होकर निर्मम भाव लाभ करता है।

(२) करन्यास द्वारा साधक उपलब्ध करता है कि वह किसी कर्मका कर्त्ता नहीं है, सब कर्म प्रकृति द्वारा कारित हो रहे हैं। यह तत्त्व उपलब्धकर साधक निरहंकार भाव लाभ करता है। इन दोनों न्यासों के परिणाम स्वरूप 'मेरा अपना' कहकर कुछ नहीं रह जाता और 'मैं किसी कर्म का कर्त्ता नहीं हूँ' यह तत्त्व उपलब्ध होता है।

(३) व्यापकन्यास द्वारा सर्वत्र ब्रह्मानुभूति की योग्यता लाभ होती है। व्यापकन्यास यथार्थ रूप से सम्पन्न हो जाने पर साधक जगत् के समस्त पदार्थों में भगवान का अपूर्व प्रकाश अनुभवकर आनन्द लाभ करता है। सौन्दर्य-माधुर्यादि चित्ताकर्षक धर्म तब खंडरूप से स्थान विशेष में अनुभव करने की आवश्यकता नहीं होती। समग्र जगत् अपने शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध के संभार सहित साधक की इन्द्रियों के सामने उपस्थित होता है और साधक अनुभव करता है कि यह जगत् उन्हीं की श्रीमूर्त्ति है। इस अवस्था में सौन्दर्य-माधुर्य के लिए अन्वेषण नहीं करना पड़ता क्योंकि व्यापकन्यास के फलस्वरूप समस्त जगत् ही श्रीभगवान की

सत्ता से अनुरंजित दिखाई देता है और जिस तरफ़ इन्द्रिय जाती है उसी तरफ़ श्रीभगवान का कोई माधुर्यमय प्रकाश साधक को गोचर होता है। भक्त अपने इष्ट को अपने जीवन का चरम आदर्श एवं अपनी सब प्रकार की आकांक्षाओं का चिर विश्रान्ति का स्थान मानता है। आँखों में भाव का अंजन लगा सकने से सौन्दर्य का अन्वेषण बाहर नहीं करना पड़ता। सर्वत्र पूर्ण सौन्दर्य का मूर्त्त प्रकाश अनुभव होता है। जिसको व्यापकन्यास कहकर वर्णन किया गया है वह नेत्रों में 'भाव' का अंजन लगाने के समान है। अंगन्यास और करन्यास सिद्ध हो जाने पर ममत्व और अहंकार अपगत हो जाते हैं और साधक अपने आपको अकिंचन अनुभव करता है। जैसे चातक तृष्णार्त्त होते हुए भी अन्य जल की ओर आकृष्ट नहीं होता—वह केवल आकाश के जलबिन्दु के लिए ही उन्मुख रहता है; साधक की अवस्था भी इसी प्रकार हो जाती है—वह केवल उनकी कृपा की ओर ही उन्मुख रहता है। तब उसके निर्मल चित्त में 'भाव' का उदय होता है। वस्तुतः यह श्रीभगवान का कृपादान है। इस 'भाव' का अंजन लगाकर जब वह बाह्य जगत् का निरीक्षण करता है तब उसके इष्ट अथवा प्रियतम की अपार माधुरी उसकी इन्द्रियों के सामने प्रकटित होकर उसको विह्वल कर देती है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥५३॥

कर्माणि सर्वशः (सब प्रकार के कर्म) प्रकृतेः गुणैः (प्रकृति के गुणों द्वारा) क्रियमाणानि (साधित होते हैं)। अहंकारविमूढ़ात्मा अहं कर्त्ता (अहंकार से विमूढ़ हुआ जीव मैं कर्त्ता हूँ) इति मन्यते (इस प्रकार समझता है)।

भगवान् की प्रकृति अर्थात् माँ आद्याशक्ति ही समस्त कर्मों की कर्त्ता हैं। मनुष्य, बुद्धि के दोष से, संस्कारवशतः, अपने को कर्त्ता मानकर अनर्थ की सृष्टि करता है, यह उपलब्धि करनी होगी।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणागुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥५४॥

महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन) गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् तु (प्रकृति के भीतर गुण और कर्म का खेल हो रहा है, जो इस विभाग को जानते हैं ऐसे तत्त्ववित्) गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते (सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणों का खेल तत्तत्गुणान्वित विषयों में होता रहता है) इति मत्वा (ऐसा मानकर) न सज्जते (प्रकृति के गुण व कर्म में आसक्त नहीं होते)।

तत्त्वदर्शी सब कर्मों में जीव का कर्मफल-रहस्य एवं तदनुसार प्रकृति के गुणों का खेल आस्वादकर, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठ रहकर, अनासक्त भाव से यह खेल देखते रहते हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥५५॥

यदा द्रष्टा (जब उदासीन भाव से द्रष्टा पुरुष) गुणेभ्यः (त्रिगुण भिन्न) अन्यं कर्त्तारं न अनुपश्यति (अन्य कर्त्ता नहीं देखता) गुणेभ्यः च परं वेत्ति (और गुणों से अतीत वस्तु को जानता है) [तदा (तब)] सः मद्भावम् अधिगच्छति (वह मेरे भाव को, ब्रह्मभाव को, प्राप्त होता है)।

साधक जब अपने आप को प्रकृति के गुण अथवा गुण-कार्य से सम्पूर्णतः पृथक् अनुभव करता है अर्थात् अपने व्यष्टि देह एवं समष्टि जगत् के प्रत्येक कार्य के मूल में प्रकृति का कर्तृत्व देखता है और स्वयं स्वरूपस्थ होकर अपने आपको सम्पूर्णतः पृथक् पुरुषचैतन्य रूप में अनुभव करता है तब वह भगवद्भाव से परिभावित हुआ उदासीन भाव से भगवल्लीला दर्शन करने की योग्यता लाभ करता है।

❀ देहेन्द्रियाणि च मनो न तु मे तवैव
स्वात्मीयबांधवगणा न तु मे तवैते।
सर्वं त्वदीयमिति मे प्रियमेव सर्वं
त्वत्प्रीतये सततमेव नियोजयानि ॥५६॥

देहेन्द्रियाणि मनः च (देह इन्द्रिय एवं मन) न मे (मेरे नहीं हैं) तु तव एव (परन्तु तुम्हारे ही हैं) स्वात्मीयबान्धवगणाः (आत्मीय बान्धवगण) न मे (मेरे नहीं हैं) तु एते तव (परन्तु ये तुम्हारे हैं)। सर्वं त्वदीयं (सब तुम्हारे हैं) इति (इसलिए) सर्वं मे प्रियं एव (सब मेरे भी प्रिय हैं)। त्वत्प्रीतये एव (तुम्हारी प्रीति के लिए ही अर्थात् तुम्हारे प्रिय कार्य में ही) सततं नियोजयानि (इनको सर्वदा नियुक्त करूँगा)।

अर्थात् मेरी इन्द्रियाँ एवं आत्मीय स्वजन ये कोई भी मेरे नहीं हैं, मेरे संग जायेंगे भी नहीं। यह सब तुम्हारे हैं इसलिए मेरे प्रिय हैं। सुतरां अनासक्त अनुरागी होकर इनको तुम्हारे कार्य में नियुक्त रखना मेरा एकान्त कर्त्तव्य है।

* देहस्य बीजमतिसूक्ष्ममणुप्रमाणं
सृष्टं त्वयैव सुविचित्रतया च पुष्टम्।
सर्वात्मना परिणतं कृतियोग्यदेहे
कर्त्तृत्वबुद्धिरिह नास्तु कदापि नाथ ॥५७॥

देहस्य बीजम् (इस देह का बीज) अणुप्रमाणं अतिसूक्ष्मम् (अणु प्रमाण अतिसूक्ष्म) त्वया एव सृष्टं (तुम्हारे द्वारा ही सृष्ट हुआ है) सुविचित्रतया पुष्टम् च (एवं अतिसुन्दर विचित्ररूप से परिपुष्ट हुआ है) [तथा] सर्वात्मना परिणतं (सब प्रकार से तुमने इसकी परिणति साधन की है)। नाथ (हे नाथ) इह कृतियोग्यदेहे (इस सब कार्य करने के योग्य शरीर में) कर्त्तृत्वबुद्धिः (मेरी कर्त्तृत्व बुद्धि) कदापि न अस्तु (कभी न हो)।

अर्थात् यह शरीर सर्वप्रथम एक बिंदु रक्त था, तुमने इसको एक सुन्दर पुष्ट परिणत सर्वकार्यक्षम देह में परिणत किया; इसलिए इस देह में एवं इसके कार्य के विषय में मेरा मिथ्या कर्त्तृत्वाभिमान रहना उचित नहीं।

❀ यंत्री त्वमेव तव यंत्रमिदं शरीरं
स्वयेच्छयैव परिचालयसि प्रभुत्वात्।
एवं मनोऽपि मम देव मतं त्वयैव
बुद्धिः स्थिरा मम हृषीकपतेऽत्रभूयात्॥५८॥

त्वम् एव यंत्री (तुम्हीं यंत्री हो) इंद शरीरं तव यंत्रम् (यह शरीर तुम्हारा यंत्र है), प्रभुत्वात् (तुम प्रभु होकर) स्वया इच्छया एव (अपनी इच्छानुसार ही) [इसको] परिचालयसि (चलाओ) एवं मम मनः अपि (इसी प्रकार मेरा मन भी) त्वया एव मतं (तुम्हारी इच्छानुसार परिचालित हो, मननीकृत हो अर्थात् तुम ही मेरे मन के मन हो 'येनाहुर्मनो मतम्'; मन में रहकर तुम ही मेरे मन को चालित करते हो)। देव हृषीकपते (हे देव हृषीकेश) अत्र मम बुद्धिः (इस विषय में मेरी बुद्धि) स्थिरा भूयात् (स्थिरता लाभ करे)।

अर्थात् तुम यंत्री हो, मेरी देह तुम्हारे हाथ में एक यंत्र मात्र है, तुम स्वयं इसको अपनी इच्छानुसार चलाते हो। मेरे मन के विषय में भी ऐसा ही है। मैं इस तत्त्व को कभी न भूलूँ।

❀ त्वं सर्वभूतेषु विराजसे सदा
सर्वेषु जीवेष्वसि जीवनं स्वयम्।
त्वद्दर्शनं सर्वग मेऽस्तु सर्वत
स्तवैव पूजास्तु च कर्मभिर्मम॥ ५९ ॥

त्वं सदा सर्वभूतेषु विराजसे (तुम सब भूतों में सदा विराजमान हो) सर्वेषु जीवेषु स्वयं जीवनं असि (सब जीवों में तुम जीवन रूप धारण किये हुए हो अर्थात् तुम्हीं हमारे प्राण के प्राण हो, तुम्हीं को लेकर तो हम जीवित हैं)। सर्वग (हे सर्वव्यापी) सर्वतः त्वद्दर्शनं मे अस्तु (सर्वत्र सब भूतों में तुम्हारा दर्शन मुझे लाभ हो) मम कर्मभिः च (मेरे सब कर्म द्वारा) तव एव पूजा अस्तु (तुम्हारी पूजा हो)।

अर्थात् तुम जगत् को सृष्टकर उसमें अनुप्रवेश कर गये। तुम्हारी सत्ता, चैतन्य और आनन्द का प्रकाश ही हमारा जीवन, मन और आनन्द है। तुमको सर्वत्र दर्शन करना, अनुभव करना और सेवा करना ही हमारी चरम साधना है। (यहाँ एक बंगला संगीत है)।

मेरा कहकर जो कुछ है वह सब तुम्हीं हो। तुम्हीं मेरे आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बांधव, धन-दौलत के रूप में मेरे तृप्ति-विधान के लिए मेरे सामने उपस्थित हो। इन सबके भीतर, इन सबके मूल में, तुम्हीं सत्यरूप में अधिष्ठित हो। मैं भी तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ—तुम्हारा ही प्रतिबिम्ब हूँ। मेरा बल-बुद्धि सब तुम्हीं हो ; तुम्हीं मेरे भीतर शक्तिरूप में अधिष्ठानकर मेरे दर्शन, श्रवण, ज्ञान और उपलब्धि में सहाय होते हो। तुम्हारे दिये हुए नेत्रों में तुम्हारा प्रकाश मेरा देखना है ; तुम्हारे दिये हुए कानों में तुम्हारा प्रकाश मेरा सुनना है; तुम्हारी दी हुई बुद्धि में तुम्हारा प्रकाश मेरा ज्ञान है; मेरा सुख-शान्ति-आनन्द तुम्हारे दिये हुए चित्त में तुम्हारा प्रकाश है। तुम अपनी दी हुई इस देह के भीतर, अन्तर्यामी रूप में अधिष्ठित हुए इसको कल्याण और शान्ति के पथ पर ले जा रहे हो। यह यंत्र तुम हो, इसके चालक तुम हो, इसका ज्ञान तुम हो, सका आनन्द भी तुम्हीं हो। विद्युत्-शक्ति जिस प्रकार बल्ब और पंखे की चालक है तद्रूप तुम भी इस देहयंत्र के चालक हो। तुम्हारे अतिरिक्त मेरा और कोई भी अथवा कुछ भी नहीं है। तुम्हीं मेरे यथासर्वस्व हो। इसलिए मुझमें अब आसक्ति, कर्त्तृत्वाभिमान, प्रतिष्ठामोह, सुख-स्पृहादि के रहने का अवकाश नहीं।

न्यास तत्त्व साधित हो जाने के फलस्वरूप ममता-अहंता शिथिल पड़ जाती हैं। तब समझ में आता है कि वे ही सर्वस्व हैं, वे ही सब कर रहे हैं, सर्वत्र उन्हीं की लीला हो रही है। तब भगवत्-कृपा से अपने भीतर परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी का स्फुरण होने पर समझ में आता है कि

पूजा के उपचार रूप में वे ही आगत हैं और हमारे भीतर बैठे हुए पूजा ग्रहण भी वे ही कर रहे हैं। तब साधक सोचता है कि भगवान को क्या दूँ, सभी तो उनका है। इस तत्त्व का चिन्तन करते करते उसकी समझ में आता है कि आत्मा तक भगवान् को निवेदित हो जाने पर ही प्रकृत आत्मनिवेदनतत्त्व सार्थक हो सकता है।

उपचार समर्पण

'उपचार' शब्द 'उप' (समीप) पूर्वक घञ् प्रत्ययान्त 'चर्' धातु (चरण, विचरण) से निष्पन्न होता है। निस्तब्ध अखंड अद्वय रस में कर्मकांड का—यहाँ तक कि ज्ञानकांड का—भी सद्भाव नहीं किन्तु जब तरंग उठती है तब उसमें परा प्रकृति और अपरा प्रकृति की विषयी और विषय रूप में, अन्नाद और अन्नरूप में, आदान-प्रदान-रूपात्मिका क्रिया दर्शन में आने लगती है। प्रथम समर्पण है परम पुरुष का परा और अपरा प्रकृति द्वारा विषयरूप में आत्मप्रकाश, द्वितीय समर्पण है विषय के द्वारा विषयी का चरम तत्त्व के निकट आत्मसमर्पण। प्रथम समर्पण में भगवान स्वयं जीव-जगत् रूप में आत्मप्रकाश करते हैं, द्वितीय समर्पण में जीवजगत् भगवान में निवेदित होकर लीन हो जाता है। श्रीभगवान शान्त-दास्यादि भाव द्वारा परा प्रकृति रूप में एवं उपचार द्वारा विषय रूप में हमारे निकट ग्रहणयोग्य हुए हैं। वे ही मानो उपचार रूप में, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि रूप में, अपरा प्रकृति रूप में, हमारे सम्मुख आगत हैं। हम अपरा प्रकृति रूप विषय-उपचारादि को शुद्धकर समर्पणक्रिया द्वारा प्रथमतः परा प्रकृति को तत्पश्चात भगवान को समर्पण करने की चेष्टा करते हैं। साधारणतः हम देखते हैं कि अन्नाद और अन्न तत्त्व के भीतर ऊपर के तत्त्व भोक्ता रूप में और नीचे के तत्त्व भोग्य रूप में प्रतीयमान हैं। इसलिए स्थूल विषयों को, उपचारों को, शोधन द्वारा सूक्ष्म में पर्यवसितकर, भोक्ता रूप में आगत आत्मा एवं आत्मीयगण को समर्पणकर, हम समस्त

विषयों को और अन्त में विषयी को भी भगवान को निवेदनकर अखंड तत्त्व में प्रवेश करने का सुयोग लाभ करते हैं।

मूल अन्नाद अथवा भोक्ता स्वयं श्रीभगवान हैं, व्यवहारिक अन्नाद अथवा भोक्ता परा प्रकृति रूपी जीव है। बाहर के प्रातिभासिक भोक्ता तन्मात्रस्थ अव्यवहित ऊपर के तत्त्व हैं। पृथिवी का भोक्ता जल है, जल की भोक्ता अग्नि, अग्नि का भोक्ता वायु, वायु का भोक्ता आकाश, आकाश का भोक्ता मन, मन की भोक्ता बुद्धि, बुद्धि का भोक्ता जीवात्मा और जीवात्मा का भोक्ता परमात्मा हैं। हम पंचतन्मात्र को उपचार अथवा भोग्य रूप में और परा प्रकृति रूप जीव को गौण भोक्ता तथा भगवान को मुख्य भोक्ता रूप में निर्देश करते हैं। अपना आत्मा और आत्मीय स्वजनों के आत्मा गौण भोक्ता हैं। उपचार शोधन द्वारा मुख्य भोक्ता ही तन्मात्र रूप में, उपचार रूप में, आगत हैं—यह तत्त्व उपलब्ध करने की व्यवस्था देखी जाती है। हमारे उपचार रूपी विषय गौण कर्त्ता के द्वारा मुख्य कर्त्ता में समर्पित हो रहे हैं।

'उपचार' का अर्थ है जो हमारे सम्मुख विचरण कर रहा है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि पंचतन्मात्र उपचार हैं। उपचार हमारे जीवन धारण के प्रधान अवलम्बन हैं। हमारी साधारण पूजा के पाद्य-अर्घ्य-धूप-दीप-नैवेद्य आदि उपकरण इन्हीं पंचतत्त्व के प्रतीक हैं। सुतरां उपचार शब्द का अर्थ है जो कुछ हम भोग करते हैं, व्यवहार करते हैं, उपलब्ध करते हैं अर्थात् हमारे जीवन धारण और उन्नति लाभ के लिए जो कुछ आवश्यक है उसका समष्टि। साधक के अधिकारानुसार उपचार में भी भेद पाया जाता है। जो स्थूल भोग्य पदार्थों मे ही व्यस्त हैं उनके लिए पंचउपचार की व्यवस्था हैं। जो मनोवृत्ति सहित साधन करने के अधिकारी हैं उनके लिए पंच स्थूल उपचार के साथ मानसिक वृत्ति योगकर सोलह उपचार से पूजा करने की व्यवस्था है। तत्त्वज्ञानी के लिए २४ तत्त्व पूजा के उपकरण हैं। जो सिद्ध महात्मा भगवान में पूर्ण

समाहित हैं उनके लिए आत्मा ही एकमात्र पूजा का उपकरण है। विश्व-ब्रह्मांड में जो कुछ दिखाई देता है, जो कुछ हमारे भोग में आता है अर्थात् दर्शनशास्त्र के समस्त 'इदं' पदार्थ, उपचार रूप में भगवान को अर्पण करने की व्यवस्था है। इस स्थान में उपचारसमर्पण का मंत्र है—"विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्"। यहाँ विश्व शब्द का अर्थ है परा और अपरा जगत् के समस्त पदार्थ।

उपचार को साधारणतः तीन भागों में विभक्त किया गया है। स्थूल अधिकारी के लिए देहादि के प्रयोजनीय समस्त पदार्थ, सूक्ष्म अधिकारी के लिए चित्त की समस्त वृत्तियाँ और उससे ऊपर के उत्तम अधिकारी के लिए केवल आत्मा।

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी तत्त्व के विचार के भीतर हम देखते हैं कि भगवान परमात्मा किस प्रकार परा आदि चारों स्तर भेदकर हमारे निकट वैखरी रूप में अर्थात् हमारे ग्रहणयोग्य दृश्य भोग्य पदार्थ रूप में आकर उपस्थित हुए हैं एवं इन दृश्य पदार्थों की ग्रहणादि क्रिया द्वारा ये पदार्थ किस प्रकार हमारे भीतर के वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती स्तर भेदकर ब्रह्म में पर्यवसित हो रहे हैं। सब पूजाओं में उपकरण-शुद्धि की व्यवस्था देखने में आती है। इस रहस्य के भीतर जाने पर मालूम होता है कि भगवान ही इस दृश्य रूप वेश में हमारे निकट आये हैं। इस अनुभूति से उपचार हमारी ब्रह्म-प्राप्ति में सहायक हो जाते हैं। गीता का "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" मंत्र इसी तत्त्व का आभास देता है। तब साधक अनुभव करता है कि हमारे लीलामय भगवान ही हमारी शान्ति और कल्याण के लिए उपचार रूप में उपस्थित हैं। 'छिन्नमस्ता' का रहस्य तभी अनुभव में आता है।

समर्पण शब्द का अर्थ है सम्यक् प्रकार से अर्पण करना अर्थात् जिसकी वस्तु है उसी को दे देना; जहाँ से आई है वहीं पहुँचा देना। सब

जीव-जगत् भगवान से आये हैं; समर्पण क्रिया द्वारा ये फिर भगवान में जाकर पर्यवसित होते हैं।

उपचार समर्पण के मंत्रों का रहस्य चिन्तन करने से मालूम होता है कि हमारे शब्द-स्पर्शादि ग्रहण द्वारा विषयपंचक किस प्रकार तत्-पदार्थ से आते हैं और फिर तत्-पदार्थ में ही जाकर पर्यवसित हो जाते हैं। 'तत्' हमारे निकट भोग्य विषय रूप में, 'त्वं' अथवा 'इदं' रूप में, उपस्थित हुए हैं; साधक उपचार समर्पण द्वारा इन विषयों को फिर तत्-पदार्थ में पर्यवसित करता है। साधक उपचार-आगमन के भीतर पुरुष-मेध यज्ञ का एवं उपचारसमर्पण के भीतर नरमेध यज्ञ का गूढ़ रहस्य आस्वाद करने का सुयोग पाता है। श्रीभगवान हमारे ग्रहण योग्य होने के लिए बहु रूप में आये हैं; हमारी साधना है इस बहु रूप के भीतर से भगवान को ग्रहण करना, धारण करना और उनकी लीला में सहायक होना।

न्यास क्रिया उत्तम रूप से साधित हो जाने पर साधक अपने परमाराध्य देव को केवल अपने ही देहेन्द्रिय के अधिष्ठाता रूप में सीमाबद्ध न मानकर विश्व के अधिष्ठाता और चालक रूप में उपलब्ध करता है। अर्थात् वे यंत्री हैं और साधक तथा समस्त जीव जगत् उनके हाथ में यंत्र मात्र हैं। तभी जीवजगत् के भीतर प्रकृति का लीलारहस्य अनुभव में आता है। तभी साधक समझता है कि वह इस लीला का कर्त्ता नहीं है— कर्त्ता स्वयं प्रकृति देवी भगवती हैं। तब प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति नहीं होती और उपचारसमर्पण का गूढ़ रहस्य उन्मीलित होना आरम्भ होता है। साधक तब समस्त जगत् के भीतर, समस्त क्रिया कांड के भीतर, श्रीभगवान का लीला-रहस्य (पूजा-रहस्य) आस्वाद करता है और अपने वृथा कर्त्तृत्वाभिमान से सम्पूर्णतः मुक्ति लाभ करता है। तब अपनी देह की तरफ़ देखने से प्रतीत होता है कि यह देह प्रकृति का ही अंश है, प्रकृति के कार्य साधन में नियुक्त है, भगवल्लीला में सहायक है। तभी समझ में आता है कि तरंग स्वतः जल से उठती है और स्वतः

ही जल में लीन हो जाती है, जीव केवल द्रष्टामात्र है। उपचारसमर्पण एक स्वाभाविक तत्त्व है, स्वभावतः ही हमारे द्वारा साधित हो रहा है।

वैष्णव साधकगण श्रीराधा की, सखी-मंजरीवृन्द की, गुरु-प्रदर्शित सिद्ध देह के द्वारा, कृष्णसेवा के भीतर यह तत्त्व आस्वाद करते हैं। तब हमारे देखने में भगवान का देखना, हमारे सुन्ने में भगवान का सुन्ना, हमारे आहार में भगवान का आहार, हमारे सब कार्य में भगवान का कार्य, उनका लीला-रहस्य, आस्वाद करने की योग्यता लाभ होती है। उपचार शोधन द्वारा हम उपलब्ध करते हैं कि वे कितने रूपों में, कितने भावों में, हमारे निकट उपस्थित और ग्रहणयोग्य हैं। समर्पणक्रिया द्वारा हम उपलब्ध करते हैं कि हमारी देह के सब कार्य किस प्रकार उनमें पर्यवसित हो रहे हैं। उपचार-समर्पण के फलस्वरूप, सर्वभूत में भगवान का एवं भगवान में सर्वभूत का दर्शन करने के परिणाम स्वरूप, जीव-जगत्, आत्मीय-स्वजन भगवान की लीला-स्वीकृत विग्रह हो जाते हैं। तब पुत्र-पुत्री को उनके बालगोपाल-कुमारीभगवती रूप में, माँ-बाप को उनके अन्नपूर्णा-विश्वनाथ रूप में, पति-पत्नी को उनके कृष्ण-राधा अथवा शिव-दुर्गा रूप में, संक्षेपतः सब जीवों को उनके शिव रूप में प्रत्यक्ष करने की एवं आत्मीय-स्वजनों अथवा बन्धु-बांधवों के लिए तथा अपने लिए अनुष्ठित सब कर्मों को भगवत्पूजा में परिणत करने की योग्यता लाभ होती है। यही भाव लक्ष्य कर भगवान शंकर ने कहा है "पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिः स्थितिः। संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरः; यद् यत् कर्म करोमि तत् तद् अखिलं शम्भो तवाराधना।"

प्रकृति देवी का लीला-रहस्य दर्शन करते करते साधक का सब चिन्तन भगवद्-ध्यान में और सब कार्य भगवत् पूजा में पर्यवसित हो जाते हैं। "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" श्लोक का मर्म तभी उपलब्ध होता है। सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा भगवान किस प्रकार साधक को सीमाबद्ध रूप के द्वारा असीम तत्त्व में, उपचार-समर्पण के द्वारा सर्वजीव के सेवाव्रत में, जीव के

समस्त कार्य को पूजा में परिणत कर जीव को भगवद्भाव से परिभावित कर ऊपर उठाने में, अपने प्रियतम जीव को अपनी ओर आकर्षित करने में, सर्वदा सचेष्ट हैं यह रहस्य उपलब्ध कर जीव आनन्द में समाहित हो जाता है। कहना अनावश्यक होगा कि सिद्ध अवस्था में साधक अपने और अपने आत्मीय-स्वजनों के स्नान में भगवान का स्नान, जीव को खिलाने में भगवान को अन्नसमर्पण, सब जीवों के कल्याण-साधन में शिव की सेवा तत्त्व आस्वाद करता हैं। जगद्दर्शन तब भगवद्दर्शन में, जीव-सेवा शिव की सेवा में पर्यवसित हो जाते हैं। भगवान् 'सर्वभूतमयो हरिः' हैं, जीव की सेवा ही शिव की सेवा है। हम निर्लिप्त होकर उपलब्ध कर सकते हैं कि हमारे स्नानाहारादि सब क्रियाएँ भगवत्-पूजा में परिणत हो जाती हैं।

प्राचीन आर्यऋषियों के भगवान सर्वव्यापी थे। वे जीव और जगत् को—विशेषतः गुरु और आत्मीय स्वजनों को—भगवान की विशेष विशेष मूर्त्तियाँ मानते थे। इन सब विग्रहों द्वारा भगवान किस प्रकार हमारे सहाय होते हैं, इनके द्वारा किस प्रकार भगवान का स्नेह त्वरित हो रहा है, यह उपलब्ध कर, इनकी सेवा के द्वारा अपना ऋण शोध कर कृतज्ञता प्रकाश करना ही हमारी समस्त पूजा का—विशेषतः उपचार-समर्पण का—मूल उद्देश्य है। वे असंख्य मूर्त्तियों में उपस्थित हैं किन्तु हम उनको उन मूर्त्तियों के शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पांच भावों के द्योतक रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इन्हीं पाँच भावों के भगवद् विग्रहों द्वारा भगवत्-सेवा की व्यवस्था देखी जाती है। हमारे ग्रहणयोग्य अथवा व्यवहार्य सब पदार्थ (अर्थात् हम जो कुछ देखते, सुनते, खाते, पीते या सूंघते हैं) उपचारों में अन्तर्भुक्त हैं और इनको पाँच, दस अथवा सोलह भागों में विभक्त कर लिया गया है। ये पदार्थ वास्तव में पंचतन्मात्र के प्रतीक हैं। देश-काल-पात्र भेदानुसार हमारे प्रयोजनीय द्रव्यों में परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है यह बात हम भूल गये हैं। जैसे, "पाद्य" अप् तत्त्व का प्रतीक है। प्राचीन काल में पादुका का इतना व्यवहार नहीं

था। अधिकतर लोग नग्न पद ही यातायात करते थे। उस समय किसी गुरुजन के घर में आने पर उनके पाँव धुलाने अथवा स्नान कराने की व्यवस्था थी, यही था प्रधान पाद्य। अब शीतकाल में जूता मोज़ा पहनकर यदि कोई गुरुजन हमारे घर आये तो उनका जूता मोज़ा उतारकर पाँव धुलाने जाना शान्तिजनक होने के बजाय कष्टजनक होगा। माला-चन्दनादि से सुसज्जित करने की प्रथा में भी आजकल परिवर्त्तन करना आवश्यक है। हमारे उपचारसमर्पण के पात्र पत्थर या धातु की मूर्त्ति के बजाय यदि मनुष्य वेषधारी जीवन्त विग्रह होते तो हम देश-काल-पात्रानुसार उपचारों में परिवर्त्तन करने को बाध्य होते। गुरुजन, आत्मीय-स्वजन, श्रेष्ठ महापुरुष और अवतारों का स्थान आजकल उनकी मूर्त्तियों और प्रतीकों ने ले लिया है। इसी से उपचार-समर्पण अब एक बेगारी काम के समान हो गया है। उपचार-समर्पण वस्तुतः हमारा जीवनव्यापी क्रिया-रहस्य था जिसके अनुष्ठान से हम आनन्द से आयु व्यतीत करते थे। आजकल यह एक निष्प्रयोजन संस्कार में परिवर्त्तित हो गया है जिसको हम दो तीन मिनट में शेष कर देते हैं।

अपने, अपने बाल बच्चों तथा आत्मीय स्वजनों के स्नान के समय पाद्य-समर्पण-तत्त्व और सब के आहार के समय अन्ननिवेदन-तत्त्व आस्वाद करना होगा। सब जीवों एवं सब पदार्थों में वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा अवस्था वर्तमान है। वैखरी स्थूल भाव, मध्यमा मानसिक सूक्ष्म भाव, पश्यन्ती जीवात्म-भाव और परा परमात्म-भाव है। श्रीभगवान परा भाव में अवस्थित हुए हमारे प्रदत्त उपचारों को ग्रहण कर रहे हैं। पहले बाहर की अचलमूर्त्ति में उपचार समर्पण अभ्यास कर क्रमशः जीव-रूप सचल विग्रह के भीतर अर्थात् जीव-सेवा के द्वारा उपचार-समर्पण तत्त्व आस्वाद करना होगा। वर्तमान काल की साधारण पूजा में उपचार-समर्पण की ही प्रधानता देखी जाता है।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' अर्थात् अपने प्रत्येक चक्र में, प्रत्येक तत्त्व

में, मन और प्राण को स्थिरकरके देखना कि भगवान हमारी पूर्ण परिणति लाभ के लिये क्या कर रहे हैं—इस उपलब्धि का नाम 'धारणा' है। धारणा की परिपक्वावस्था में अपनी देह के सब तत्त्वों में देह के समस्त कार्यकलाप सन्दर्शनकर चित्त में जो एकतानता आ जाती है इसका परिणाम है 'ध्यान'। ध्यान के फलस्वरूप हम जीवजगत् के प्रत्येक पदार्थ में भगवान की अवस्थिति और लीलारहस्य उपलब्ध करने का सुयोग पाते हैं। तब भगवान प्रथम हमारी देह के भीतर और तत्पश्चात् जगत् के भीतर चिन्मय रूप में आत्मप्रकाश करने का सुयोग पाते हैं। इस अवस्था में प्रकृत न्यास एवं उपचार-समर्पण तत्त्व सहज, सुन्दर और स्वाभाविक हो जाते हैं। इसी अवस्था को लक्ष्य करके कहा गया है "कृष्णमयी कृष्ण जार अन्तरे बाहिरे। जाहाँ जाहाँ नेत्र पड़े ताहाँ कृष्ण स्फुरे॥" * तभी "वासुदेवः सर्वमिति" तत्त्व पूर्ण सार्थकता लाभ करता है।

प्राचीन काल में जो जीवनगठन के, पूर्णता लाभ के, भगवत्प्राप्ति के सहाय था अब वह एक आडम्बर-पूर्ण बाह्यिक अनुष्ठान में परिणत हो गया है। प्राचीन काल की साधना में क्रमोन्नति (promotion) की एक सुन्दर व्यवस्था थी। अब यह केवल गुरुदेव का वर्ष में एक बार शिष्य के घर आकर रूपया वसूल करने के रूप में रह गया है। हमारी दीक्षा के मंत्र में निम्नस्तर से सर्वोच्चस्तर में जाने का एक सुन्दर कौशल था। गुरुदेव प्रतिवर्ष शिष्य से एकबार मिलकर वह जिस स्तर में है उसकी वह साधना पूर्ण हुई या नहीं अथवा वह ऊपर के स्तर के योग्य हुआ कि नहीं, यह परीक्षा कर उसको ऊपर का स्तर लाभ करने में सहायता करते थे। जैसे, प्रथम स्तर में कह दिया कि 'एते गंधपुष्पे ॐ नमः शिवाय या कृष्णाय' उच्चारणकर चन्दन और पुष्प इष्ट के चरणों में यथाविधि

---

* 'जित देखौं तित श्याममयी है।' 'जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है।'

अर्पण करते रहना। दूसरे वर्ष गुरु शिष्य को उच्चभूमि का अधिकारी देखकर बता देते थे कि ये गन्ध-पुष्प तुम्हारे नहीं हैं, ये सब पदार्थ श्रीभगवान के हैं। तुम उनकी वस्तु में बृथा कर्तृत्वाभिमान आरोपकर अशेष लांछना भोग कर रहे थे। आज से तुम इस कर्तृत्वाभिमान को दूर करने के लिये गन्ध-पुष्पादि अर्पण करते समय प्रार्थना करना—'हे ठाकुर, मेरा तो कुछ भी नहीं है, मैं तुम्हारी वस्तु तुम्हीं को देकर—गंगाजल से गंगापूजा के भाँति—तुम्हारी पूजा करता रहूँगा।' फिर अगले वर्ष गुरुदेव जाकर कहते थे कि 'तुम्हारे बाल-बच्चे, आत्मीय-स्वजन, बन्धु-बाँधव भगवत्-धाम के, उनके बाग़ के, सुन्दर फूल हैं, ये कोई भी तुम्हारे नहीं हैं; जब तक इनके भीतर भगवान प्रकट हैं तभी तक ये शोभनीय, आदरणीय, और वरणीय हैं, उनके अन्तर्द्धान होते ही यह शव में परिणत हो जायंगे और तुम इनको फूँक देने को बाध्य होगे।' 'सर्वं त्वदीयं इति मे प्रियमेव सर्वम्'—तत्त्व इस स्थल में आस्वादनीय है।

इसके बाद अगले वर्ष फिर गुरुदेव आकर शिष्य को उच्च भूमि के उपयुक्त देखकर समझा देते थे कि ये पुष्पादि सद्गुण के प्रतीक हैं किन्तु ये सद्गुण भी तुम्हारे नहीं हैं; ये अशेष-कल्याणगुण के आकर श्रीभगवान के गुणविशेष का तुम्हारे भीतर आविर्भाव हैं। तब साधक को मालूम होता था कि उसका देखना भगवद्दत्त नेत्रों में भगवत्-शक्ति का प्रकाश है; उसका सुनना भगवद्दत्त कानों में भगवत्-शक्ति का प्रकाश है; उसका ज्ञान भगवद्दत्त बुद्धितत्त्व में उनका आत्मप्रकाश है और उसके सब सद्गुण उसकी भगवद्दत्त चित्तभूमि में भगवद्-भाव के, भगवद्गुणराशि के, प्रकाश हैं। साधक तब अपने भीतर भगवत्-प्रकाश उपलब्धकर आनन्द में विभोर हो जाता था।

अन्त में गुरुदेव आकर शिष्य से पूँछते थे—'तुम जो ये सब समर्पण करते हो सो तुम स्वयं किसके हो।' तब साधक समझता था कि उसका आत्मा भी तो उसका अपना नहीं है, वह भी एक अखंड अद्वय तत्त्व का

कल्पित खंड रूप में प्रकाशमात्र है। तब शिष्य अपने कल्पित आत्मतत्त्व को एक पूर्ण अखंड तत्त्व में निवेदनकर अखंड ज्ञानतत्त्व में विभोर हो जाता था। तभी साधक भगवद्धाम में प्रवेश करने का अधिकार लाभ करता था अर्थात् Entrance पास करता था। इस स्थल में साधक-भाव की पूजा शेष हो जाती है और सिद्ध-भाव की पूजा प्रारम्भ होती है। अब समर्पण-क्रिया पूर्णतः साधित हो गई। जो कुछ भगवान के निकट से आया था वह फिर भगवान में जाकर लीन होगया। जल की तरंग जल में लीन हो गई, एक शान्त सुन्दर अखंड जलतत्त्व बाक़ी रह गया। न्यास के शेष मंत्र से हमें मालूम होता है कि भगवान सब भूतों में विराजमान हैं—सब जीवों की सेवा द्वारा प्रकृत पूजा का कार्य साधित हो जाता है। इसी से हम समझ सकते हैं कि हमारे भगवान हमारे सम्मुख आत्मा, आत्मीय-स्वजन और बन्धु-बांधव रूप में समागत हैं।

कर्मफल अर्पित हो गया; अब साधक को आत्मभाव में पूर्णतया समाहित होकर उपलब्ध करने का सुयोग मिला कि उसका आत्मा भी अपना निजस्व नहीं है। तब साधक का आत्मा भगवान के करुणाबल से आकृष्ट होकर उन्हीं के महान् स्वरूप में प्रत्यावर्त्तन करता है और तन्मयता लाभ करता है। याद रखना होगा 'लीलार्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्'। हमारे प्रेममय श्रीभगवान स्वरूपतः अखंड अद्वय तत्त्व होते हुए भी लीला के लिए अपने को बहु भाव में विभक्त किये हुए हैं। इस लीला में भी यह न भूलना होगा कि हमारा आत्मा उन्हीं का आत्मा है।

❀ त्वद्ध्यानतोऽन्यन्न च चिन्तयानि
त्वत् कर्मतो वा करवाणि नान्यत्।
द्रव्याणि सर्वाणि च मे तवैव
त्वय्येव तेषां भवतु प्रयोगः ॥६०॥

त्वद्ध्यानतः अन्यत् च (तुम्हारा ध्यान छोड़कर और कुछ) न चिन्तयानि (मैं चिन्ता न करूँ), त्वत् कर्मतः वा अन्यत् (तुम्हारा कर्म

छोड़कर और कोई कर्म) न करवाणि (न करूँ), मे सर्वाणि द्रव्याणि च (मेरे समस्त द्रव्य, मेरा जो कुछ है सब) तव एव (तुम्हारा ही है) त्वयि एव (तुम्हारे ही प्रीत्यर्थ में) तेषां प्रयोगः भवतु (इनका प्रयोग होवे)।

इस अवस्था में साधक के मन में भगवच्चिन्ता के अतिरिक्त और कोई चिन्ता नहीं आती; भगवत्-कार्य के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करने का सामर्थ्य नहीं होता। भगवान के सब द्रव्य, भगवान के सब तत्त्व, भगवान को समर्पण कर साधक साक्षिभूत स्व-स्वरूप में स्थिति लाभ करता है। यहाँ व्रजगोपियों का 'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः' भाव उपलब्ध करने की चेष्टा करनी चाहिए।

❀ आत्मानमात्मीयगणांश्च बांधवान्
याभिः क्रियाभिः परितोषयाम्यहम्।
ताभिः सदैवेश्वर तृप्तिरस्तु ते
ताभिस्तवैवार्चनबुद्धिरस्तु मे ॥६१॥

अहं याभिः क्रियाभिः (मैं जिन कर्मों द्वारा) आत्मानं तथा एव आत्मीयगणान् बांधवान् च (अपने आत्मा को, आत्मीयजनों को एवं बान्धवों को) परितोषयामि (सन्तुष्ट करता हूँ) ईश्वर (हे जगदीश्वर) ताभिः (उन सब कर्मों द्वारा) सदा ते तृप्तिः अस्तु एव (सदा तुम्हारी तृप्ति होवे)। ताभिः (उन सब कर्मों द्वारा) तव एव अर्चनबुद्धिः में अस्तु (तुम्हारी पूजा कर रहा हूँ ऐसी मेरी बुद्धि हो)।

मैं और मेरे आत्मीय-स्वजन सब भगवान के जीवन्त विग्रह हैं। छोटे लड़कों के भीतर बाल-गोपाल रूप में, लड़कियों के भीतर कुमारी भगवती रूप में, पति-पत्नी के भीतर भगवान के युगल रूप में, माँ-बाप के भीतर अन्नपूर्णा-विश्वनाथ रूप में हमारे प्रेममय श्रीभगवान लीलारत हैं। इनके लिए हम जो कुछ करते हैं वह सब शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुरादि भाव द्वारा हमारे भगवान में अर्पित होकर प्रकृत पूजा में परिणत हो रहा

है—यह तत्त्व अन्तर में उपलब्ध करना चाहिए। हम इन सब विग्रहों द्वारा भगवान के विभिन्न रूपों का आवाहन करेंगे, ध्यान करेंगे, सेवा करेंगे। यही उपचार-समर्पण का प्रकृत तात्पर्य है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥६२॥

अर्पणं ब्रह्म (अर्पण कर्म ब्रह्म है) हविः ब्रह्म (अर्पण के द्रव्य घृतादि भी ब्रह्म हैं) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूपी अग्नि में अर्थात् जिस अग्नि में हवन हो रहा है वह अग्नि भी ब्रह्म है) ब्रह्मणा हुतं (ब्रह्म द्वारा हुत हो रहा है अर्थात् हवन कर्त्ता भी ब्रह्म है) ब्रह्मकर्मसमाधिना (इस ब्रह्म यज्ञ अनुष्ठान द्वारा) तेन ब्रह्म एव गन्तव्यम् हवनकारी ब्रह्म को ही प्राप्त होता है)।

भगवान ही लीला के निमित्त, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन, भोक्ता-भोग्य-भोजन रूप में, अपने को विभक्त कर समस्त क्रियाओं के कर्त्ता-कर्म-करण रूप में आत्म-प्रकाश करते हैं। वे ही सर्वस्व हैं, उनके अतिरिक्त कोई नहीं है और कुछ नहीं हैं यहाँ यह तत्त्व आस्वाद करने की योग्यता लाभ होती है।

❀ यद् यत् कृतं हृषीकेश तत् सर्वं न मया कृतम्।
त्वया कृतन्तु फलभुक् त्वमेव मधुसूदन ॥ ३ ॥

हृषीकेश (हे हृषीकेश) यत् यत् कृतं (मेरे द्वारा जो कुछ किया गया है) तत् सर्वं मया न कृतं (वह सब मेरे द्वारा कृत नहीं हुआ अर्थात् तुम ही इन्द्रिय-अधिष्ठाता रूप में प्रेरणा देते हो) तु त्वया कृतं (परन्तु तुम्हारे द्वारा कृत हुआ है) [अतएव] मधुसूदन (हे मधुसूदन) फलभुक् त्वं एव (तुम्हीं उसके फलभोक्ता हो)।

इतःपूर्वं प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतो
जाग्रत्-स्वप्न-प्रसुप्तावस्थासु मनसा वाचा हस्ताभ्यां
पद्भ्यामुदरेण शिश्ना यद् यत् स्मृतं यदुक्तं
यत् कृतं तत् सर्वं ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा ॥ ६४ ॥

इतः पूर्वं (अब तक) प्राणबुद्धिदेहधर्माधिकारतः (प्राण-बुद्धि-देह के धर्माधिकारवशात:) जाग्रत्स्वप्नप्रसुप्तावस्थासु (जाग्रत्-स्वप्न-प्रसुप्त अवस्था में) मनसा वाचा हस्ताभ्याम् पद्भ्याम् उदरेण शिश्ना (मन, वाक्य, हाथ, पाँव, उदर और शिश्न द्वारा) यत् यत् स्मृतं यत् उक्तं यत् कृतं (जो कुछ चिन्तित, कथित अथवा कृत हुआ है) तत् सर्वं (वह सब) ब्रह्मार्पणं भवतु स्वाहा (ब्रह्म में अर्पित हो जाय)।

अर्थात् मेरे भीतर बैठे अन्तर्यामी भगवान ने सब किया है, मैं केवल निमित्तमात्र हूँ, यह बोध सर्वदा मन में जाग्रत् रहे।

❀ यत् करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत्तपस्यामि गोविन्द तत् करोमि त्वदर्पणम् ॥६५॥

यत् करोमि (मैं जो कुछ करता हूँ) यत् अश्नामि (जो कुछ खाता हूँ) यत् जुहोमि (जो कुछ हवन करता हूँ) यत् ददामि (जो कुछ दान करता हूँ) यत् तपस्यामि (जो कुछ तपस्या करता हूँ) गोविन्द (हे गोविन्द) तत् त्वदर्पणं करोमि (वह सब तुम्हीं में अर्पण करता हूँ)।

हमारे द्वारा शरीर, मन और वचन से जो कर्म भी होते हैं उनके कर्त्ता स्वयं श्रीभगवान हैं, हम केवल निमित्तमात्र हैं—यह तत्त्व हृदयंगम हो जाने पर साधक का समस्त कर्मफल भगवान में अर्पित हो जाता है।

एतदन्नादिकम् उपचारात्मकं सर्वं शोधयित्वा यदमृतं
संजातं तत् सर्वं परब्रह्मणि समर्पणं भवतु स्वाहा ॥६६॥

एतत् अन्नादिकम् (यह अन्नादि) उपचारात्मकं (उपचारात्मक) सर्वं (सब द्रव्य) शोधयित्वा (शोधन कर) यत् अमृतं संजातं (जो अमृत उत्पन्न हुआ है) तत् सर्वं परब्रह्मणि (वह सब परब्रह्म में) समर्पणं भवतु स्वाहा (समर्पित होवे)।

भगवान अमृत के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते, इसलिए हमारे भीतर भुक्त द्रव्यादि क्रमशः रक्त, वीर्य, ओजः और अन्त में अमृत में परिणत होते हैं; यही अमृत हमारे भगवान को ग्राह्य है। इस परिणति के

लिए हमारे भीतर के विभिन्न चक्रों में भुक्त द्रव्यादि का क्रमशः आहुत होकर अति अलौकिक रूप से अमृत में परिणति लाभ करने की एक सुन्दर व्यवस्था है। यह व्यवस्था ही वास्तव में यज्ञाग्नि में आहुति देना है (Process of distillation)।

⁕ मयार्प्यते त्वच्चरणेऽयमात्मा प्रतीच्छ हे स्वस्य धनं स्वयं त्वम्।
किंचिन्निजस्वं न हिं विद्यते मे यद्दीयते त्वच्चरणे मुकुन्द ॥६७॥

अयम् आत्मा (यह आत्मा) मया (मेरे द्वारा) त्वच्चरणे (तुम्हारे चरणों में) अर्प्यते (अर्पित हो रहा है)। हे (हे सर्वात्मन्) त्वं स्वयं (तुम स्वयं) स्वस्य धनं (अपने इस धन को) प्रतीच्छ (ग्रहण करो)। मुकुन्द (हे मुक्तिदाता) त्वच्चरणे (तुम्हारे चरणों में) यत् दीयते (जो कुछ अर्पित हुआ है) [उसमें] मे निजस्वं (मेरा निजस्व) किंचित् न विद्यते हि (कुछ भी नहीं है)।

शब्दस्पर्शादिभिस्ते प्रकृतिरविरतां यां सपर्यां विधत्ते
तस्या मर्मग्रहो मे भवतु हृदि सदा भक्तिभावश्च देव।
तत् पूजायां ममापि प्रकृतिसहकृतौ दीयतां मेऽधिकार-
स्त्वल्लीलायांच योगो मम भवतु सदा सुस्थिरस्त्वत्प्रसादात् ॥६८॥

प्रकृतिः (प्रकृति देवी, जगन्मयी माँ) शब्दस्पर्शादिभिः (शब्दस्पर्शादि द्वारा) अविरतां (निरन्तर) यां ते सपर्यां विधत्ते (तुम्हारी जो विधि पूर्वक पूजा कर रही हैं) तस्याः मे मर्मग्रहः भवतु (उसका मर्म मुझे उपलब्धिगोचर हो); देव (हे लीलामय परमात्मन्) मम अपि (मेरे भी) हृदि सदा भक्तिभावश्च (हृदय में भक्तिभाव सर्वदा) [विराज करे]; प्रकृतिसहकृतौ (प्रकृति देवी की संगति में) तत् पूजायां (उस पूजा में) मे अधिकारः दीयतां (मुझको अधिकार प्रदान करो)। त्वत्-प्रसादात् (तुम्हारे प्रसाद से) च त्वल्लीलायां मम सुस्थिरः योगः सदा भवतु (तुम्हारी लीला में मेरा चित्त सर्वदा योजित रहे)।

इस समय साधक अपने देहादि को प्रकृति के अंशरूप में उपलब्ध

कर इस अंश के ऊपर भगवान ने जो कर्म निर्धारित किया है उस कर्म द्वारा अपने को प्रकृति की परम पुरुष की पूजा के सहायक रूप में उपलब्ध करता है। यहाँ वैष्णवों की अष्टकालीय लीला में सखी-मंजरीयों के ऊपर न्यस्त कर्मरहस्य चिन्तनीय है। प्रकृत पूजा करती हैं माँ प्रकृति देवी। शब्द-स्पर्शादि की सहायता से जिससे हमें पूर्ण परिणति, भगवत्-प्राप्ति, लाभ हो इस विषय माँ सर्वदा सचेष्ट हैं। समस्त विश्व, विश्व का विधान, हमारी भगवत्-प्राप्ति में सहाय है। हम संस्कारवशतः अज्ञानता के प्रभाव से माँ की इस चेष्टा में, माँ की इस पूजा में, बाधा देते हैं। माँ की इच्छा से अवगत होकर, माँ का विधान जानकर, माँ का विधान पालन कर यदि हम माँ के कार्य में सहाय हों तो माँ की प्रकृत पूजा साधित हो जायगी। माँ का प्रकाश, माँ की हवा, उन्हीं के सृष्ट दरवाज़े-खिड़कियों में से हमारे गृह में प्रवेश कर गृह को शुद्ध पवित्र ज्योतिर्मय करने में व्यस्त हैं। हम बुद्धि के दोष से अपने घर के दरवाज़े-खिड़कियाँ बंदकर माँ की इच्छा में बाधा देते हैं। जिससे माँ की शक्ति, सौन्दर्य, माधुर्य हमारे सब तत्त्वों में अबाधित रूप से प्रवेश कर हमको माँ के सब गुणों और भावों से विभूषित करें, हमको मातृमय करें, इसकी चेष्टा ही हमारी पूजा है।

हृदासनमधिष्ठाय प्रसीद मम पूजया
त्वयि प्रीते हृषीकेश क्लेशः संक्षीयतेऽखिलः ॥६६॥

हृषीकेश (हे हृषीकेश) हृदासनम् अधिष्ठाय (हृदयरूप आसन में अधिष्ठान कर) मम पूजया प्रसीद (मेरी पूजा द्वारा प्रसन्न हो)। त्वयि प्रीते अखिलः क्लेशः (तुम्हारे प्रसन्न होने से समस्त क्लेश) संक्षीयते (सम्यक् रूप से क्षय हो जायँगे)।

उपचार समर्पण करते समय साधक देखता है कि भगवान ही उपचार रूप में उसके सामने उपस्थित हैं; तत् पदार्थ स्वयं अखंडित अद्वय रूप में वर्तमान होते हुए भी उसके सामने विविध खंडित रूप में आकर उपस्थित हुए हैं और उसके भीतर जाकर फिर अखंड तत् रूप में पर्य-

वसित हो रहे हैं। उपचार रूप में भी वे ही हैं, इन्द्रिय रूप में भी वे ही हैं, हमारे मन-बुद्धि-आत्मा रूप में भी वे ही हैं। वे मानों छिन्नमस्ता रूप में अपने को छेदन कर अपना रक्त अपने आप ही पान कर रहे हैं। उपचार शोधन द्वारा "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" श्लोक का मर्म हृदयंगम हो जाने के बाद साधक अनुभव करता है कि भगवान ही सब रूपों में आगत हैं; वे सब उपचार ग्रहण कर, सब आत्मसात् कर, स्वयं तृप्त है। साधक को अब उनको भेंट देने का विचार करने की आवश्यकता नहीं रही। इस तत्त्वोपलब्धि के परिणामस्वरूप साधक मुग्ध हो जाता है और सब तत्त्वों में भगवल्लीला आस्वाद करने की योग्यता लाभ करता है।

प्रार्थना

उपचार-समर्पण के पश्चात साधक अपने प्रियतम का प्रसन्न मुख देख कर आनन्द में विभोर हो जाता है। भगवान मानों उसकी पूजा से तृप्त होकर उसे वर देने के इच्छुक हैं किन्तु भक्त क्या माँगे। बिना माँगे हुए जिन्होंने सब दे दिया, जिनके विचार में भूल नहीं, दया का अभाव नहीं, जो सबका अभाव पूरण किये बिना रह नहीं सकते उनसे साधक अब क्या प्रार्थना करे। भगवान भी भक्त के लिए कुछ किये बिना नहीं रह सकते। तब भक्त भगवान का आग्रह देखकर कहता है—'हे भगवन्! लौकिक धन, जन, मान, प्रतिष्ठादि अब मुझे कुछ भी मांगने की इच्छा नहीं किन्तु तुम्हारा आदेश पूर्ण करने के लिए तुम से यह प्रार्थना करता हूँ कि :—

"(१) तुम्हारे चरणारविन्द में मेरी अनन्य भक्ति और अहैतुक अनुराग सर्वदा रहे; मेरे मन में और कोई कामना उत्पन्न न हो।

(२) असत्य, अज्ञान और मृत्युमय जगत् से मुझको और सब जीवों को अपने सच्चिदानन्द धाम में प्रवेश करने का अधिकार दान करो।

(३) सर्वत्र सर्वेन्द्रिय द्वारा मैं तुम्हारा प्रियकार्य साधन कर सकूँ। जीव जगत् का समस्त दुख दूरकर उनका आनन्द विधान करो; दुर्जन

को सज्जन करो ; सज्जन शान्त और बन्धनमुक्त होकर और लोगों की मुक्ति की व्यवस्था करे।"

तब भगवान देखते हैं कि भक्त उनकी इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं माँगता। यही है प्रकृत निष्काम प्रार्थना। यही है पूर्ण आत्म-निवेदन एवं भगवदिच्छापूरण।

मैं अपने इहलोक और परलोक के लिए कुछ नहीं चाहता। बिना माँगे जिन्होंने मुझे ये देह-इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि दिये हैं एवं इनकी तृप्ति और भोग की पूरी व्यवस्था की है, मेरा कोई अभाव नहीं रखा, मुझे सुखी रखने में जो सर्वदा व्यस्त हैं, मुझको पूर्ण परिणति दान किये बिना—अपने भाव से सम्पूर्णतः परिभावित किये बिना—जिनका निस्तार नहीं उनसे अब और मैं क्या प्रार्थना करूँ। तथापि हे भगवन्! यदि मेरे मुख से तुम कुछ प्रार्थना सुनना चाहते तो मेरी यही प्रार्थना है कि सर्वत्र तुम्हारी निगूढ़ इच्छा—जिस हेतु तुमने यह प्रपंच रचा है—पूर्ण सफलता लाभ करे ; तुम स्वयं तृप्त होकर मुझे तृप्ति दान करो ; इस जगत् में तुम्हारा स्वर्गराज्य आविर्भूत हो ; सर्व जीव का सर्वविध कल्याण हो ; सब सुख में रहें।

❀ अन्याभिलाषिताशून्या कृष्णसुखात्मिका हि या।
अहैतुक्यव्यवहिता भक्तिर्मे दीयतां प्रभो ॥७०॥

या (वह भक्ति) अन्याभिलाषिताशून्या (जिनमें भगवान को पाने की इच्छा के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं है) कृष्णसुखात्मिका हि (जिसमें कृष्ण को सुखी करने की ही एकमात्र इच्छा है) अहैतुकी (जिसमें भगवान के अतिरिक्त और कोई प्रार्थनीय विषय नहीं है) अव्यवहिता (जिसमें कोई विच्छेद अथवा बाधा नहीं है) प्रभो (हे निग्रह-अनुग्रह कर्त्ता) मे (मुझको) भक्तिः (वही भक्ति) दीयतां (प्रदान करो)।

अर्थात् मैं तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ भी जानने की या सोचने की इच्छा न करूँ। तुम्हारे प्रिय कार्य के अतिरिक्त और कोई कार्य करने में समर्थ न होऊँ।

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥७१॥

जगदीश (हे जगदीश) न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा कामये (मैं धन, जन, सुन्दरी स्त्री, कवित्व शक्ति ये सब कुछ भी कामना न करूँ)। मम जन्मनि जन्मनि (मेरे जन्म जन्म में) त्वयि ईश्वरे (तुम ईश्वर में) अहैतुकी भक्तिः भवतात् (अहैतुकी भक्ति होवे)।

अर्थात्, हे जगदीश, मैं केवल तुम्हारे ऊपर अहैतुकी अचला भक्ति रखना चाहता हूँ।

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥७२॥

देव सवितः (हे सवितृदेव) विश्वानि (सर्व प्रकार के) दुरितानि (अशुभ पाप) परासुव (नष्ट हों), यद् भद्रं (जो शुभ है, कल्याणकर है) नः तत् आसुव (हमारे निकट वही अविर्भूत हो)।

अर्थात् जगत् में सब पाप दूर होकर भूलोक में तुम्हारा स्वर्ग-राज्य स्थापित हो।

ॐ ॐ असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय आविरावीर्म एधि।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥७३॥

असतः (असत् से) मा (मुझको अर्थात् जगत् के समस्त जीवों को) सद् गमय (सत् में लेचलो), तमसः (अन्धकार से) मा (मुझको) अमृतं गमय (अमृत में लेचलो), आविः (हे स्वप्रकाश) आवीः मे एधि (मेरे ज्ञान नेत्र खोलकर मेरे निकट प्रकाशित हो) रुद्र

(हे रुद्र) यत् ते दक्षिणं मुखं (तुम्हारा जो कल्याणकारी वराभयप्रद मुख है) तेन मां नित्यं पाहि (उसके द्वारा सर्वदा मेरी रक्षा करो)।

अर्थात् मुझे विषय-विष से अपने आनन्दधाम में लेचलो। मेरा अज्ञान-अन्धकार दूर करो। हे प्रकाशस्वरूप, मेरे निकट चिर प्रकाशित रहो। कुपथ से रक्षित होते समय मैं तुम्हारे स्नेहावनत नेत्र देख सकूँ, इससे मुझे दंडभोग में कष्ट नहीं होगा। तुम जब आवश्यक समझो तो चिकित्सक के भाँति, मुझे बचाने के लिए, मेरे फोड़े पर अस्त्र प्रयोग करना, मेरे लिए कठोर व्यवस्था करना किन्तु मैं उस समय भी तुम्हारी मंगलमय करुण स्नेहदृष्टि को देखकर शान्त रह सकूं। मेरा समस्त हताश भाव बिलकुल दूर हो जाय।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम भद्रं चक्षुभिरवलोकयाम।
भद्रं मनोभिश्चिन्तयाम भद्रं बाहुभिः साधयाम ॥७४॥

भद्रं (मंगलमय वाणी) कर्णेभिः (कानों द्वारा) शृणुयाम (हम सुनें) भद्रं (मंगलमय दृश्य) चक्षुभिः (आखों द्वारा) अवलोकयाम (हम देखें) मनोभिः (मन द्वारा) भद्रं (शुभ) चिन्तयाम (चिन्ता करें) बाहुभिः (हाथों द्वारा) भद्रं (शुभ कर्म) साधयाम (साधन करें)।

अर्थात् मैं सर्वेन्द्रिय द्वारा अपने हृषीकेश की, सर्वेन्द्रिय नियामक की, पूजा करना चाहता हूँ। 'हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुत्तमा'। मैं समस्त शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि को तुम्हारा दान समझकर आदर सहित ग्रहण कर सकूं। मैं कभी भी किसी के व्यवहार से धैर्यच्युत न होऊँ और सबके लिए हृदय से कल्याण प्रार्थना करता रहूँ। जीव के हित साधन में मेरा जीवन उत्सर्गीकृत हो।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥७६॥

अत्र (इस जगत में) सर्वे सुखिनः सन्तु (सब सुखी हों), सर्वे निरामयाः सन्तु (सब नीरोग हों), सर्वे भद्राणि पश्यन्तु (सब शुभ

दर्शन करें), कश्चित् दुःखं मा आप्नुयात् (कोई भी दुःख को प्राप्त न हो)।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्‌बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥ ७६ ॥

सर्वः दुर्गाणि तरतु (सब विपद से उत्तीर्ण हों), सर्वः भद्राणि पश्यतु (सब मंगल दर्शन करें), सर्वः सद्-बुद्धिम् आप्नोतु (सब को सद्‌बुद्धि प्राप्त हो) सर्वः सर्वत्र नन्दतु (सब सर्वत्र आनन्द करें)।

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥ ७७॥

दुर्जनः सज्जनः भूयात् (दुर्जन सज्जन हो जाये), सज्जनः शान्तिम् आप्नुयात् (सज्जन शान्ति लाभ करे), शान्तः बन्धेभ्यः मुच्येत (शान्त बन्धन से मुक्त हो जाय), मुक्तः च अन्यान् विमोचयेत् (और मुक्त दूसरों को बन्धनमुक्त करे)।

सुना जाता है कि भगवान बुद्ध किसी घर से चलते समय मन ही मन इस प्रकार का आशीर्वाद करते थे।

मेरे ज्ञान, प्रेम, भक्ति, शक्ति सब तुम्हारे प्रकाश हैं। मेरा अहंकार मेरे और तुम्हारे बीच में सिर उठाकर, तुमको ढककर, वृथाकर्त्तृत्वाभिमान के प्रभाव से स्वयं कर्त्ता बनकर, सब विकृत न करने पाय। मेरे सब कार्य, भाव और वचन द्वारा तुम्हारी महिमा कीर्त्तित हो। मैं अपना गौरव प्रकाशकर अपने को छोटा न करूँ। मैं तुम्हारी सन्तान हूँ, तुम्हारे प्रिय-कार्य साधन में नियुक्त हूँ—यह सब समझ सकें।

प्रणाम

प्रणाम के समय अनुभव करना चाहिए कि मेरा कुछ भी नहीं है, सब उनका है अर्थात् 'न मम'—मेरा कुछ नहीं है। मैं उनके हाथ का यंत्र हूँ, वे इस यंत्र के चालक हैं—यह उपलब्धकर साधक अपना पृथक्

अस्तित्व लोप कर देता है और भगवान में पूर्णरूप से तन्मयता लाभ करता है।

प्रणाम का अर्थ है 'पूर्णतः नत होना,' सब प्रकार की अहंता को, निज-सुख-स्पृहा को, अपनी इच्छा को विसर्जन कर प्रणम्य के चरणों में आत्मनिवेदन करना—Total and Unconditional Surrender to the Will of God—भगवदिच्छा के आगे अपनी इच्छा को सम्पूर्णतः बिना किसी शर्त्त के उत्सर्ग करना। माँगने की प्रवृत्ति रहने से प्रणाम सिद्ध नहीं होता।

प्रणाम उपासना की परिसमाप्ति सूचित करता है। सर्वप्रथम गुरु को ही प्रणाम करना आवश्यक है क्योंकि वे ही पथ-प्रदर्शक हैं। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना और अपने को उनके अनुगत समझना गुरु-प्रणाम का उद्देश्य है। पुरुषोत्तमभाव के स्फुरण के पश्चात् जब यह भाव हृदय में दृढ़मूल हो जाता है तब इसके स्वाभाविक परिणाम-स्वरूप सर्व-व्यापी परब्रह्म का संधान मिलता है। सर्वव्यापी परब्रह्म को प्रणाम करने के बाद और कोई प्रणम्य बाक़ी नहीं रहता। यहीं प्रणाम का अवसान है।

गुरु-प्रणाम—"चराचर (स्थावर-जंगम) सृष्टि समष्टिभाव में अखंड-मंडलरूप में प्रतिभासमान होती है। अतीत-अनागत-वर्तमान, दूर और निकट के सब देश एवं कार्य और कारणरूप में सब पदार्थ इसी मंडल के अन्तर्गत हैं। इसी का नाम विश्व है। जो कुछ है इसी में है इससे बाहर कुछ नहीं है। इस चराचर जगत् को जो ओत-प्रोतरूप से व्याप्त किये हुए हैं वे ही चैतन्य अथवा ब्रह्म हैं। जो इस व्यापक चिन्मय सत्ता को हमारी अन्तर्दृष्टि के सम्मुख प्रकाशित कर देते हैं, जिनकी कृपा से यह ब्रह्मपद प्रत्यक्ष होता है—वे श्रीगुरु हैं। केवल गुरु निष्क्रिय हैं; गुरुशक्ति श्रीगुरु के साथ अभिन्नरूप में वर्तमान रहे बिना गुरु जीवोद्धाररूप अनुग्रह-कार्य नहीं कर सकते। इसलिये केवल गुरु को प्रणाम न कर श्री-युक्त गुरु को प्रणाम करना विधेय है।"

❀ ॐ अखंडमंडलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥७८॥

अखंडमंडलाकारं (अखंडमंडलाकार में पूर्ण और ब्रह्मांडव्यापी सर्वभूत में पूर्णतः विराजमान) येन चराचरम् व्याप्तम् (जिनसे चराचर जगत् व्याप्त है अर्थात् जो चराचररूप में सब तत्त्वों में विराजमान रहते हुए भी तत्त्वातीत हैं) तत्पदं (भगवान के उस परम पद और उसकी प्राप्ति के उपाय को) येन दर्शितम् (जो दिखा देते हैं) तस्मै श्रीगुरवे नमः (उन श्रीयुक्त गुरुदेव को नमस्कार)।

अर्थात् अपनी अहंता दूरकर मैं उनको शरणापन्न हो गया। यहाँ मंडलाकार शब्द का तात्पर्य यह है :—वृत्त (circle) को मंडलाकार कहते हैं क्योंकि उसके केन्द्र (centre) से परिधि (circumference) तक जितनी सरल रेखाएँ खींची जाँय सब समान होती हैं। हमारे इस चराचर ब्रह्मांड के केन्द्र में भगवान अवस्थित हैं, वे सब विषय में पूर्ण हैं, उनसे जो ज्योति चारों तरफ़ फैली हुई है वह अनन्त प्रसारित है इसलिए समान है। अतः ब्रह्म एवं उनकी ज्योति से जो वस्तु बनेगी वह निश्चय मंडलाकार होगी।

❀ मन्नाथः श्रीजगन्नाथो मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः ।
ममात्मा सर्वभूतात्मा तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥७९॥

मन्नाथः (मेरे जो नाथ—अर्थात् विधाता और रक्षाकर्त्ता हैं) श्रीजगन्नाथः (वे श्रीजगन्नाथ हैं अर्थात् समस्त जीवों के विधाता और रक्षाकर्त्ता हैं), मद्गुरुः (मेरे गुरु) श्रीजगद्गुरुः (समस्त जगत् के गुरु—ज्ञान-दाता हैं), ममात्मा (मेरा आत्मा ही) सर्वभूतात्मा (सब भूतों का आत्मा—अन्तर्यामी चालक—है) तस्मै श्रीगुरवे नमः (उन गुरुदेव को नमस्कार)।

जिन गुरु के विषय में यह कहा गया है वे प्रत्येक जीव के गुरु हैं, समस्त जगत् के ज्ञानदाता-गुरु हैं। इसलिए मेरे गुरु और जगद्गुरु

इन दोनों में कोई भेद नहीं। गुरुतत्त्व अखंड है—यह धारणा सर्वदा करनी होगी। जो सबके भीतर बैठे मुझको और सबको पालन कर रहे हैं, जो सबके द्वारा मुझको और सबको शिक्षा दे रहे हैं, जो मेरे और सबके भीतर एक ही आत्मरूप में अवस्थित हैं, मैं उन सर्वव्यापी ज्ञानाधार आश्रयदाता गुरुदेव को नमस्कार करता हूँ। वे गुरु विश्वमय होते हुए भी विश्वातीत हैं, कर्म के नियन्ता होते हुए भी उदासीन हैं। वे 'अनासक्त अनुरागी, संसारी संसारत्यागी' हैं। वे क्षर के अतीत हैं एवं अक्षर से भी उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम कहलाते हैं। हम उन्हीं पुरुषोत्तम को प्रणाम करते हैं। याद रखना होगा कि जितने विभूतिमत् पदार्थ हैं वे सभी हमारे इष्ट की मूर्ति हैं। जब तक हम समस्त विभूतिमत् पदार्थों को, यहाँ तक कि समस्त जीवों को, प्रणाम न कर सकेंगे तब तक हमारा प्रणाम सार्थक नहीं होगा।

❀ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय परमात्मने।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे ब्रह्मसाक्षिणे ॥८०॥

सच्चिदानन्दरूपाय (सच्चिदानन्दस्वरूप) कृष्णाय (चित्ताकर्षणकारी) परमात्मने (परमात्मस्वरूप) वेदान्तवेद्याय (वेदान्तवेद्य) ब्रह्मसाक्षिणे (साक्षात् ब्रह्मस्वरूप, जिनको जानलेने से हम ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करने को बाध्य होते हैं) गुरवे नमः (श्रीगुरुदेव को, ज्ञानदाता को, नमस्कार)।

अर्थात् उनकी विधातारूप में भक्ति कर उनके विधानानुकूल चलने को दृढ़प्रतिज्ञ होऊंगा।

❀ कृष्णं स्मरामि ममैकवल्लभं, कृष्णं भजामि ममैकरक्षकम्।
कृष्णं जपामि ममैकसाधनं, कृष्णं नमामि ममैकजीवनम् ॥
सर्वस्वं मे कृष्णचन्द्रो दयालुः, नान्यं जाने नैव जाने न जाने ॥८१॥
(३ बार)

मम एकवल्लभं (मेरे एकमात्र प्रियतम) कृष्णं स्मरामि (श्रीकृष्ण को स्मरण करता हूँ) मम एकरक्षकम् (मेरे एकमात्र रक्षक) कृष्णं भजामि (श्रीकृष्ण को भजता हूँ) मम एकसाधनं (मेरे एकमात्र साधन) कृष्णं जपामि (श्रीकृष्ण का नाम जपता हूँ) मम एकजीवनम् (मेरे जीवन के एकमात्र पाथेय) कृष्णं नमामि (श्रीकृष्ण को नमस्कार करता हूँ)। दयालुः कृष्णचन्द्रः (परम दयालु श्रीकृष्णचन्द्र ही) मे सर्वस्वं (मेरे यथासर्वस्व हैं) अन्यं न जाने (श्रीकृष्ण के अतिरिक्त मैं और किसी को नहीं जानता) न एव जाने (मुझे और किसी को जानने की कोई जरूरत भी नहीं) न जाने (और किसी को जानने की शक्ति भी नहीं है।)

वल्लभं—अर्थात् प्रिय। जिनको एकबार देख लेने से ही प्रीति किये बिना, आत्मसमर्पण किये बिना, नहीं रहा जा सकता। रक्षकं—जो हमारे लिए समस्त प्रयोजनीय पदार्थों की व्यवस्था करते हैं (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः)। साधनं—जिनको प्राप्त करने के लिए उनको स्मरण करने के अतिरिक्त और किसी साधना की जरूरत नहीं होती। जीवनं—मेरे जीवनधारण के, मेरी चरम सार्थकता लाभ के, जो एकमात्र लक्ष्य ह।

ॐ कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमोनमः ॥८२॥ (३ बार)

[यहाँ हम अपने प्रियतम श्रीभगवान् को] कृष्णाय (रूप में, सौन्दर्य में, माधुर्य में, सर्वचित्ताकर्षक को) वासुदेवाय (जो हमारे विशुद्ध चित्त में आत्मप्रकाश करने के लिए सचेष्ट हैं उन वासुदेव को) हरये (जो अपने सौन्दर्य और माधुर्य से हमारा चित्त हरण कर हमको अपने पास ले जाने में तत्पर हैं उनको) परमात्मने (जो परमात्मरूप में हमारे हृदय में अधिष्ठित हुए हमारे देहयन्त्र को चला रहे हैं उनको) प्रणतक्लेशनाशाय (जो आश्रित भक्तों के समस्त क्लेश दूर करने के

लिए बेचैन हैं उनको) गोविन्दाय (जो हमारी इन्द्रियों को अपनी शक्ति से शक्तियुक्त कर, तद्भाव से परिभावित कर, हमारी सर्वेन्द्रिय द्वारा आस्वादित होने के लिए सचेष्ट हैं उनको) नमः नमः (बार बार प्रणाम करता हूँ) ।

कृष्णाय—जिनके रूप और गुण से मुग्ध होकर उनको प्राप्त करने के लिए हम लुब्ध हो जाते हैं । वासुदेवाय—जिनको प्राप्त करने के लिए हमें अपने सब तत्त्वों को विशुद्ध सत्त्व में परिणत करना आवश्यक है । हरये—जिन्होंने अपने सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणों से हमारे चित्त को ऐसा हरण किया है कि और कुछ सोचने की क्षमता ही नहीं रही । परमात्मने—जो हमारे प्रकृत चालक अन्तर्यामी हैं, जिनको देखने या सुनने के बाद साधक की इन्द्रियादि को और किसी तरफ़ जाने का सामर्थ्य नहीं रहता । प्रणतक्लेशनाशाय—जिनके नाम से सब दुःख निवृत्त हो जाते हैं । गोविन्दाय—जो हमारी प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा आस्वादित हैं ।

* हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते ।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तु ते ॥८३॥ (३ बार)

हे कृष्ण (हे सर्वचित्ताकर्षक) करुणासिन्धो (हे दयासागर) दीनबन्धो (हे अनाथ-शरण) जगत्पते (हे सम्पूर्ण जगत् के विधाता, पालनकर्त्ता) गोपेश (हे गोपों के ईश्वर—सब जीवों के ईश्वर) गोपिकाकान्त (मधुरभावापन्न भक्तों के वरणीय-रमणीय तत्त्व) राधाकान्त (जो कृष्णसुखैकतात्पर्या कृष्णगतप्राणा श्रीराधिका के वल्लभ हैं) ते (तुमको) नमः अस्तु (मेरा नमस्कार हो) ।

अर्थात् मेरा तन-मन-धन तुम्हारे प्रीति-सम्पादन में, तुम्हारे प्रियकार्य साधन में, नियुक्त रहे । याद रखना होगा कि गोपी अथवा राधातत्त्व केवल स्त्री-देह में सीमाबद्ध नहीं हैं । जो साधक कृष्णसुखैकतात्पर्य है, जो भगवत्-भाव का रक्षाकर्त्ता और सहायक है, वही गोपी है । 'गोपायति आत्मानं परमात्मानं या सा गोपी' । जिस साधक के भीतर आश्रयतत्त्व का पूर्ण विकास

साधित होता है, जो साधक जीवन का पूर्ण आदर्श है, वही श्रीराधा है। 'कृष्णमयी कृष्ण जार अन्तरे बाहिरे। जाहाँ जाहाँ नेत्र पड़े ताहाँ कृष्ण स्फुरे'॥ जिनको आश्रय कर श्रीकृष्ण पूर्णतया आत्मप्रकाश करने में, लीलारस विस्तार करने में, समर्थ हैं—वे ही श्रीराधा हैं (Perfect medium for the manifestation of God)।

❀ श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे।
हे नाथ नारायण वासुदेव ॥ ८४ ॥ (३ बार)

श्रीकृष्ण (तुम सर्वचित्ताकर्षक हो) गोविन्द (तुम इन्द्रियों के चालक एवं इन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य हो) हरे (तुम अपने माधुर्य से जीव का चित्त हरण करते हो) मुरारे (तुम जीव के शत्रुओं के विनाशकारी हो, भगवत्प्राप्ति की सब बाधा दूर कर जीव की भगवत्-प्राप्ति में सहायक हो) हे नाथ (तुम जीव के यथासर्वस्व हो) हे नारायण (तुम जीव के एकमात्र आश्रय हो) हे वासुदेव (तुम जीव के विशुद्ध चित्त में आविर्भूत होकर उसका जीवन सार्थक करते हो) [तुम को नमस्कार]।

पूजा के समय असीम भगवान को अपनी धारणा की सुविधा के लिए ससीम इष्ट में आवाहन कर, पूजा कर, फिर उनका सीमाबद्ध भाव दूर कर उनको असीम भाव में उपलब्ध करने की व्यवस्था की गई है। जिससे कोई भूल से भगवत्तत्त्व को अपने इष्ट में सीमाबद्धकर साम्प्रदायिक भाव की सृष्टि न कर बैठे इसलिए सबको अपने इष्ट का सर्वव्यापी भाव हृदयंगम करने की, सब भूतों में उनका दर्शन करने की, सब भूतों में उनकी उपलब्धि करने की चेष्टा की गई है। इसी कारण सम्भवतः महाप्रभु श्रीगौरांगदेव तीर्थभ्रमण के बहाने सब सम्प्रदायों के मन्दिरों में इष्टदर्शन और इष्ट का गुणानुकीर्त्तन करते घूमते थे।

❀ यस्त्वां पश्यति सर्वत्र सर्वंच त्वयि पश्यति।
वासुदेवः सर्वमिति यः पश्यति स पश्यति ॥८५॥ (३ बार)

यः (जो) त्वां (तुमको) सर्वत्र (सब भूतों में) पश्यति (देखता है) सर्वं च (और सब कुछ) त्वयि (तुम में) पश्यति (देखता है), यः (जो) वासुदेवः सर्वं इति (सब कुछ एकमात्र वासुदेव ही हैं—इस प्रकार) पश्यति (देखता है) सः पश्यति (वही प्रकृतरूप में देखता है अर्थात् उसी का दर्शन सार्थक है) ।

जिस अहं-बुद्धि ने अखंड तत्त्व को खंडितरूप में बोध कराके समस्त अनर्थ की सृष्टि करी थी उस अहं-तत्त्व के सम्पूर्णतः दूर हो जाने के कारण साधक सर्वत्र भगवद्दर्शन कर एक अखंड अद्वय तत्त्व में निमज्जित हो जाता है ।

"इस स्थल में सर्वत्र आत्मदर्शन एवं तदनन्तर आत्मा में सर्व दर्शन निर्देश किया गया है । सर्वत्र आत्मदर्शन पहले होता है । सब भूतों में आत्मदर्शन के साथ सब भूतों का दर्शन भी होता है । यह सर्व दर्शन ही भेद-दर्शन है और आत्मदर्शन अभेद-दर्शन है । बाह्यचक्षु की सहायता से घट-वृक्ष-मनुष्य आदि का दर्शन और अन्तर्दृष्टि के द्वारा आत्मदर्शन सिद्ध होता है । बहिर्दृष्टि एवं अन्तर्दृष्टि दोनों खुली होने से सब भूतों में आत्मदर्शन होता है । बहिर्दृष्टि किंचित अन्तर्मुखी हुए बिना अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती । बहिर्दृष्टि जितनी अन्तर्मुखी होगी अन्तर्दृष्टि उतनी ही जागरित होगी । बहिर्दृष्टि पूर्ण निरुद्ध हो जाने पर पूर्ण आत्मदर्शन—शुद्ध चैतन्यरूपी आत्मा का दर्शन—होता है । इस अवस्था में केवल आत्मदर्शन ही होगा । ये विशुद्ध चैतन्य हैं । बाह्यदर्शन का संस्कार भोग या ज्ञान द्वारा क्षीण हो जाने पर एकमात्र आत्मदर्शन ही रहजाता है । यह निर्विकल्प दर्शन है । इस ज्ञान का भी निरोध हो जाने पर आत्मस्वरूप में स्थितिलाभ होती है, तब आत्मदर्शन भी नहीं होता । अतएव, सर्वत्र आत्मदर्शन से शुद्ध आत्मदर्शन उदित होता है और चरमावस्था में वह भी नहीं रहता । आत्मा में सर्वदर्शन तब किस प्रकार होगा क्योंकि इन्द्रियाँ तो निरुद्ध हो गई ।

रहस्यविद् इन्द्रियों का निरोध नहीं करते—निरोध करने की इच्छा भी नहीं करते। इन्द्रियों की मलिनता दूर कर उनको चिच्छक्तिरूप में परिणत करने की चेष्टा करते हैं। इस से इन्द्रियों का दोष कट जाता है किन्तु उनका वैशिष्ट्य अथवा गुण रह जाता है। शुद्ध इन्द्रियों की निवृत्ति कभी नहीं होती। नित्य लीला में भी शुद्ध इन्द्रियों का कार्य देखा जाता है। अन्तर्दृष्टि जैसी सत्य है वहिर्दृष्टि भी वैसी ही सत्य है, मिथ्या केवल आगन्तुक मलिनता है। अन्तर्दृष्टि में जो एक हैं वहिर्दृष्टि में वे ही अनन्त हैं। एक ही अनन्त हैं; अनन्त ही एक हैं। इसमें कोई मिथ्या नहीं। इन्द्रियाँ शुद्ध हों तो वृत्तिहीन नहीं होना पड़ता। शुद्ध वृत्ति चिन्मय है। इस अवस्था में आत्मा में सर्वभूत दर्शन होता है क्योंकि सर्वभूत आत्मा की ही चिच्छक्ति का खेल हैं; 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' एवं 'सर्वंच मयि पश्यति'—एक ही अवस्था की अनुभूति नहीं हैं। प्रथम अनुभूति में इदं-रूप में प्रतीति रहती है। यह असंस्कृत इन्द्रियों के वृत्तिजन्य ज्ञान के साथ उदित होती है। ब्रह्म ज्ञानाभास का निदर्शन है। द्वितीय अनुभूति, आत्मसाक्षात्कार के पश्चात्, विशुद्धचैतन्यरूप में, विशुद्धचिच्छक्तिरूप में, अनन्त वैचित्र्य का साक्षात्कार है। यह आत्मा द्वारा आत्मा का ही साक्षात्कार है। एक अपने को ही बहुरूप में देखते हैं, इदं-रूप में नहीं, आत्म-रूप में। भगवद्दर्शन के पूर्व जो जगत् दिखाई देता है वह प्राकृत जगत् है। भगवद्दर्शन के पश्चात् जो जगत् दिखाई देता है वह अप्राकृत धामस्थित जगत् है। इसको जगत् नहीं कहा जाता, यह आत्मा का घनीभूत अप्राकृत धाम और परिकरतत्त्व सहित दृश्यतत्त्व है।"

श्रीराधा कृष्णदर्शन के पश्चात् जो कुछ देखतीं थीं वह सब कृष्णमय दिखाई देता था—"जाहाँ याहाँ नेत्र पड़े ताहाँ कृष्ण स्फुरे।" "यो मां पश्यति सर्वत्र" में हम 'नेति नेति' साधना का प्रभाव, सोने को तपाकर खोट दूर करने की विधि, मूलाधार से सहस्रार की ओर ऊपर उठने की व्यवस्था देखते हैं। "सर्वंच मयि पश्यति" में हम खरे सोने की विविध

विभूति की, परिकर और धामादि की, अप्राकृत लीला आस्वाद करने की योग्यता लाभ करते हैं।

❀ ॐ यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥८६॥

यः देवः अग्नौ (जो देवता अग्नि में हैं) यः अप्सु (जो जल में हैं) यः विश्वं भुवनम् आविवेश (जो विश्वभुवन को व्याप्त किये हुए हैं) यः ओषधिषु (जो ओषधि में हैं) यः वनस्पतिषु (जो वनस्पति में हैं) तस्मै देवाय नमः नमः (उन देवता को बार बार नमस्कार करता हूँ)।

अर्थात् जीवजगत् को श्रीभगवान की मूर्त्ति जानकर मैं सब के भीतर उनका दर्शन, ध्यान और सेवा करने की चेष्टा करता हूँ—मैं सबके आगे नत हूँ।

❀ ॐ यस्मिन् सर्वे यतः सर्वः यः सर्वः सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो देवस्तस्मै सर्वात्मने नमः ॥८७॥

यस्मिन् सर्वे (जिनमें सब हैं) यतः सर्वे (जिनसे सब हैं) यः सर्वः (जो सब हैं) सर्वतः च यः (और जो सर्वत्र हैं) यः च सर्वमयः देवः (और जो सर्वमय देवता हैं) तस्मै सर्वात्मने नमः (उन सर्वात्मा श्रीभगवान को नमस्कार)।

अर्थात् जो स्वरूपतः अविभक्त होते हुए भी सब विभक्तियों में विभक्त और लीलारत हैं उन लीलामय की अनन्त लीला द्वारा हम उनके अखंड अद्वय ज्ञान-स्वरूप को आस्वाद करने की चेष्टा करते हैं।

खं वायुमग्निं सलिलं महींच
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ॥८८॥

खं (आकाश) वायुं (वायु) अग्नि (अग्नि) सलिलं (जल) महीं च (एवं पृथ्वी) ज्योतींषि (सब ज्योतिर्मय पदार्थ) सत्त्वानि (समस्त प्राणी) दिशः (सब दिशाएँ) द्रुमादीन् (वृक्षादि) सरित्-समुद्रान् च (नदी समुद्र आदि) यत् किंच भूतं (और जो कुछ है तत् समुदय को) हरेः शरीरं (श्रीहरि की विभूति या अंश है) अनन्यः (अन्य कुछ नहीं है—ऐसा मन में निश्चयकर) प्रणमेत् (विधिपूर्वक प्रणाम करता हूँ)। अर्थात् जीव-जगत् को परमात्मा की मूर्त्ति मानकर सबके निकट नत रहना चाहिए।

अवकाश हो तो श्रीमूर्त्तिदर्शन के श्लोक जो पीछे दिये गये हैं इस स्थल में पाठ कर लिये जाँय।

स्तनन्धयानां स्तनदुग्धपाने मधुव्रतानां मकरन्दपाने।
दाने दयालोरथ भक्तगाने पश्यामि मूर्तिं करुणामयीं ते ॥८९॥

स्तनन्धयानां (दूध पीनेवाले बच्चों को) स्तनदुग्धपाने (मातृस्तन-दुग्ध पीते देखकर) मधुव्रतानां मकरन्दपाने (भ्रमर आदि को पुष्पों का मकरन्द पान करते देखकर) दयालोः दाने (दयालु व्यक्ति को दान करते देखकर) अथ भक्तगाने (और भगवद्भक्तों को श्रीभगवान का नाम गान करते देखकर) ते करुणामयीं मूर्त्तिं पश्यामि (तुम्हारी करुणा-मयी मूर्ति को मैं देखता हूँ)।

वनस्पतौ भूभृति निर्झरे वा कूले समुद्रस्य सरित्तटे वा।
यत्रैव चित्ते समुदेति भक्तिस्तत्रैव पश्यामि तवैव मूर्त्तिम् ॥९०॥

वनस्पतौ भूभृति निर्झरे वा (वनस्पति, पर्वत अथवा झरने में) समुद्रस्य कूले (समुद्र के किनारे) सरित्तटे वा (अथवा नदीतट में), यत्र एव (और जहाँ भी) चित्ते भक्तिः समुदेति (चित्त में भक्ति का आविर्भाव होता है) तत्र एव (वहाँ ही) तव एव मूर्तिं पश्यामि (तुम्हारी मूर्त्ति देखता हूँ)।

अर्थात् भगवान सर्वभूत में विराजमान हैं; चित्त शुद्ध और शान्त होने से उनका दर्शन लाभ हो जाता है। जगत्-सृष्टि आत्मप्रकाश के लिए है। जगत् का सब सौन्दर्य, माधुर्य और आनन्द उन्हीं परम सुन्दर के विभिन्न गुण और विभिन्न भाव के आत्मप्रकाश हैं। इसी प्रकाश के भीतर से हमें मूल प्रस्रवण की ओर जाना होगा। मूर्ति अवलम्बन कर हम अमूर्त की तरफ़ जायँगे। पृथिवी का सौन्दर्य हमें परम सुन्दर की याद दिलाकर परम सुन्दर की ओर ले जायगा। तभी सृष्टि के भीतर स्रष्टा को जानने का और प्राप्त करने का अधिकार लाभ होगा।

❀ नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्त्ते,
नमस्ते नमस्ते हरेऽचिन्त्यशक्ते।
नमस्ते नमस्तेऽखिलाश्चर्यसिन्धो,
महादेव शम्भो नमस्ते नमस्ते ॥६१॥

विभो विश्वमूर्त्ते (हे विभो, हे विश्वरूपधारी) ते नमः ते नमः (तुमको बारंबार नमस्कार) हरे (हे चित्तहरणकारी हरि) अचिन्त्यशक्ते (हे अचिन्तनीय शक्तिमान् पुरुष) ते नमः ते नमः (तुमको बारंबार नमस्कार) अखिलाश्चर्यसिन्धो (हे सर्व आश्चर्य के समुद्र) ते नमः ते नमः (तुमको बारंबार नमस्कार) महादेव शम्भो (हे महादेव, हे मंगल-विधानकारी) ते नमः ते नमः (तुमको बारंबार नमस्कार)।

जो भगवान भुवनमोहन रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं, जिनकी सौन्दर्य-माधुर्यादि शक्ति ने हमारे चित्त को सम्पूर्णतः हरण कर लिया है, जिनकी कृपा से असम्भव भी सम्भव हो जाता है, ऐसे देवादिदेव परम दयालु प्रेममय भगवान के चरणों में हमारा बारंबार नमस्कार।

साधक पहले सर्वभूत में भगवद्दर्शन लाभ करता है। इसके बाद समाधियोग द्वारा अपने सब तत्त्वों में भगवान के सब तत्त्व अनुभव कर, अपने भीतर इष्ट को विसर्जन कर, इष्टमय हो जाने पर, भीतर और बाहर

का एकत्व स्थापन हो जाने के फलस्वरूप, साधक एक अखंड अद्वैत तत्त्व में प्रतिष्ठित हो जाता है। तत्पश्चात् यह अखंड तत्त्व मानो लीला के हेतु अप्राकृत धाम-परिकररूप में प्रकाशित होता है। तब भगवान के भीतर अप्राकृत जीव-जगत् का आत्मप्रकाशरूप लीलारस उपलब्ध कर साधक स्वयं भी उस लीला में योगदान करता है।

इस पूजा में हमें तीन तत्त्व उपलब्ध करने का सुयोग मिला। प्रथम इष्ट का आवाहन, द्वितीय इष्टभाव में स्थिति, तृतीय इष्ट का विसर्जन। असीम तत्त्व अव्यक्त, अचिन्त्य एवं जीव की धारणा के अतीत हैं; उनको जानने के लिए, प्राप्त करने के लिए, हम ससीम इष्ट के भीतर, पुरुषोत्तम तत्त्व के भीतर, उनका आवाहन करते हैं। तब असीम तत्त्व अपने सब भाव ससीम देह में धारण कर ससीम देह में हमारे निकट उपस्थित होते हैं। तदनन्तर उस ससीम देह में असीम की पूजादि साधन के फलस्वरूप वे इष्ट अपने ससीम भाव सहित मानो हमारे भीतर विसर्जित होते हैं। इस विसर्जन क्रिया के द्वारा हम इष्ट का तादात्म्य-भाव लाभकर इष्ट का प्रकृत असीम भाव उपलब्ध करने का सुयोग पाते हैं। ससीम आते हैं असीम से असीम भाव लेकर। जब आते हैं तभी हम उनके भीतर असीम को आस्वाद करने का सुयोग पाते हैं। इसके बाद ससीम को असीम में मिलाकर हम एक अखंड, अद्वय, अनन्त, असीम भाव में निमज्जित हो जाते हैं।

इष्ट को विसर्जन किया जाता है ज्ञान-गंगा में। ससीम पुरुषोत्तम को असीम तत्त्व से आवाहन करके ले आते हैं। विसर्जन के फलस्वरूप इष्ट को अपने भीतर के प्रत्येक तत्त्व में अनुभवकर, स्वयं इष्टमय होकर, हम भी इष्ट के सहित असीम अखंड तत्त्व में निमज्जित हो जाते हैं। याद रखना होगा कि इष्ट का ध्यान करने का अर्थ ही है इष्ट के प्रत्येक तत्त्व को अपने अनुरूप तत्त्वों में चिन्तनकर अपने सब तत्त्वों को इष्ट भाव से परिभावित करना। मनुष्य जैसा सोचता है उसमें तन्मयता लाभ कर

वैसा ही हो जाता है। इष्ट का ध्यान करते करते हमारे भीतर के सब तत्त्व, लोह-चुम्बक स्पर्श की भांति, इष्टमय हो जाते हैं। जनश्रुति है कि मृग के बच्चे का चिन्तन करते करते एक साधक मृगमय हो गया था। हम इष्ट का ध्यान करने से इष्टमय हो जाते हैं। जैसे कमला के रोगी को सब पदार्थ पीले दिखाई देते हैं इसी प्रकार इष्टमय साधक को जगत् इष्टमय अनुभव होता है। 'जाहाँ जाहाँ नेत्र पड़े ताहाँ कृष्ण स्फुरे'।

अन्तःप्रसुप्तस्य तवैव तत्त्वमिष्टे समारोप्य प्रपूजितंच।
दृष्ट्वा पूजान्ते वपुषि स्वकीये विसर्जनात् प्राप्तं तादात्म्यरूपम् ॥६२॥

अन्तःप्रसुप्तस्य तव तत्त्वं (भीतर सुप्त भाव में अवस्थित तुम्हारे तत्त्व को) इष्टे समारोप्य (अपनी इष्ट मूर्त्ति में सर्वतः आरोप कर) प्रपूजितं च एव (ध्यान-धारणा की सहायता से वहाँ इष्ट का स्वरूप उपलब्ध कर—इष्टमय होकर) पूजान्ते (पूजा के अन्त में) स्वकीये वपुषि दृष्ट्वा (अपनी देह के प्रत्येक तत्त्व में उनका रूप और तत्त्व साक्षात्कार कर) विसर्जनात् (ज्ञानगंगा में विसर्जन के फलस्वरूप) तादात्म्यरूपं प्राप्तं (तादात्म्यरूप प्राप्त किया अर्थात् मैं मानो इष्टमय हो गया)।

अपने सब तत्त्वों में अवस्थित श्रीभगवान को जानने के लिए पहले उनको शास्त्र, गुरु एवं विवेक की सहायता से इष्ट-मूर्त्ति में आरोप किया गया; तब इष्टमूर्त्ति हमारे देह के भीतर अवस्थित चिन्मय श्रीभगवान की जीवन्त विग्रह हो गई। इसके बाद उस सम्मुखस्थ इष्टमूर्त्ति में भगवान के प्रकृत रूप और गुणादि का ध्यान करने से मैं ऐसा तन्मय हो गया कि मेरा अस्तित्व अनेकांश लोप हो गया अर्थात् मैं इष्टमय हो गया। इष्ट वस्तुतः समष्टिगत भगवत्-मूर्त्ति हैं। अपने भीतर उनकी अनुभूति की चरमावस्था में मैं अपना व्यष्टि-भाव परित्याग कर समष्टिगत पूर्ण-सत्ता में डूब गया। चिकित्सा-विद्या प्राप्त करने के लिए देह-तत्त्व का ज्ञान अपरिहार्य है। देह-तत्त्व की उपलब्धि के लिए पहले एक शुष्क नरकंकाल की सहायता लेनी पड़ती है। उसकी अस्थियों के ज्ञान से हम अपनी देह की

अस्थियों का ज्ञान लाभ करते हैं। फिर उन अस्थियों में उनके मांस-पेशी-स्नायु एवं उनके कार्य-कलाप के चिन्तन से हम यह आभास लाभ करते हैं कि वे अस्थियाँ जीवित नर में किस प्रकार होंगी। इस क्रिया का नाम है प्राण-प्रतिष्ठा। प्रतिमा में मिट्टी के प्रलेपादि द्वारा हमारा प्राण-प्रतिष्ठा का कार्य अंशतः साधित होता है। तत्पश्चात् ध्यान द्वारा अनुभव करना चाहिए कि यह मूर्त्ति आदर्श मानव की मूर्त्ति है; आदर्श पुरुषोत्तम इसके भीतर जागरित-बोधित होकर हमारे सामने जीवन्त रूप में प्रकटित हैं। तभी हमारा बोधन-कार्य साधित होगा। इसके बाद पूजा की सहायता से, धारणा-ध्यान-समाधि की सहायता से, उस पुरुषोत्तम विग्रह को आत्मनिवेदन कर, अपना पृथक् अस्तित्व लोप कर, उसमें तन्मय हो जाने से अनुभव में आयेगा कि वे विग्रहस्थ पुरुषोत्तम मानो हमारी इस देह में प्रकट हो रहे हैं। उनके पूर्ण विकास से हम सम्पूर्णतः इष्टमय हो जाते हैं। तब बाहर की मूर्त्ति का ध्यान भी नहीं रहता। इसी का नाम है "विसर्जनात् प्राप्तं तादात्म्यरूपं"।

साधक पहले 'नेति नेति' साधना के द्वारा वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती आवरण भेद कर आत्मदर्शन लाभ करता है। इसके बाद कुछ समय इस आत्मभाव में स्थित रहकर, स्वरूपशक्ति के वैभव-रूप आत्मा के भीतर अप्राकृत धामतत्त्व, परिकरतत्त्व, अप्राकृत जीव-जगत्तत्त्व आस्वाद करने का सुयोग पाकर भगवान के लीला-सागर में डूब जाता है।

यहाँ तक विचार करके अपना पृथक् अस्तित्व धीरे धीरे भूल जाने की चेष्टा की जाती है। तब भेदभाव दूर होकर एक अभेदभाव प्रस्फुटित होने लगता है। तब समझ में आता है कि इस पार और उस पार सभी पूर्ण-स्वरूप है। पूर्ण में जो कुछ अर्पित होता है वह भी पूर्ण है, पूर्ण से जो कुछ पृथक्कृत होता है वह भी पूर्ण है, जो कुछ अवशिष्ट रह जाता है वह भी पूर्ण है, जो कुछ निर्गत होता है वह भी पूर्ण है। पूर्ण के राज्य में योग का फल भी पूर्ण है और वियोग का फल भी पूर्ण है। उसमें

आविर्भाव और तिरोभाव, उत्थान और पतन, सुख और दुख, दूर और निकट, अतीत और अनागत सर्वत्र अखंड भाव में पूर्णतया विराजित हैं। इस पूर्ण भाव की स्वाभाविक स्फूर्ति है सर्वत्र अपनी आनन्दधारा को प्रत्यक्ष करना। प्रकृति के सौन्दर्य में, वायु के प्रवाह में, सूर्य की किरण में, चन्द्र के आलोक में, मनुष्य के कर्म और भाव में, समस्त व्यापार में, एक असीम अनन्त महानन्द की तरंग खेल रही है। इस चिदानन्दमय नित्य-लीला-निकेतन में अपने आपको प्रतिष्ठित अनुभव करना होगा।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥६३॥

अदः पूर्णम् (जो दूर दिखाई देता है वह पूर्ण है) इदं पूर्णम् (जो समीप उपस्थित है वह भी पूर्ण है) पूर्णात् पूर्णम् आदाय (पूर्ण से पूर्ण के पृथक्कृत हो जाने पर) पूर्णम् एव अवशिष्यते (जो बाक़ी रह जाता है वह भी पूर्ण है)।

जो पूर्ण है वह कभी देश-काल-पात्र द्वारा खंडित नहीं हो सकता। जब उसके अतिरिक्त और न स्थान है, न काल है, न पात्र है तो उसको कौन खंडित करेगा? किसके द्वारा वह खंडित होगा? खंडांशों के बीच में अवकाश कहाँ से आयेगा? अखंड पूर्ण कभी खंडित नहीं हो सकता। हम अज्ञानतावश जब उसको खंडित समझते हैं तो वह खंडन केवल हमारी कल्पनामात्र है, एक छाया अथवा प्रतिबिम्बमात्र है। प्रतिबिम्ब बिम्ब की ही छाया है। बिम्ब का पूर्णत्व भी उसमें प्रतिबिम्बाकार रूप में वर्त्तमान है। अतएव वह (छाया) भी पूर्ण है। प्रतिबिम्ब द्वारा बिम्ब का कोई अंग हीन नहीं होता; सुतरां प्रतिबिम्बित होकर भी बिम्ब का पूर्णत्व स्थिर रहता है। इसीलिए शंकर ने कहा है "अखंडं खंड्यते कथम्।" यहाँ छिन्नमस्ता-तत्त्व, अविभक्त का विभक्त तत्त्व, आस्वादनीय है। याद रखना होगा कि स्वरूपतः अविभक्त पूर्ण को खंडित नहीं किया

जा सकता। हम बुद्धि के दोष से अथवा संस्कारवशत: जब उसको खंडित समझते हैं तो उसका अस्तित्व हमारे संस्कार और अज्ञानता पर ही निर्भर करता है। वास्तव में नित्य अखंड तत्त्व सर्वदा अखंडरूप में ही अवस्थान करता है। इस अवस्था में साधक जिस अखंड आनन्द-सागर में डूब जाता है वह वाक्य-मन के अगोचर है ; उसको भाषा में प्रकाश करने की चेष्टा करने से ही भाषा का सीमाबद्ध भाव असीम को सीमाबद्ध कर देता है।

❀ अहो निमग्नस्तवरूपसिन्धौ
पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिम्।
अवाक् च निःस्पन्दतरो विमूढ़:
कुत्रास्मि कोऽस्मीति न वेद्मि देव ॥६४॥

अहो (अहा—हा) तव रूपसिन्धौ निमग्नः (तुम्हारे रूपसागर में डूब गया हूँ) न अन्तं न मध्यम् आदिं च पश्यामि (न आदि, न मध्य और न अन्त—कुछ नहीं देखता)। देव (हे देव) निःस्पन्दतरः (जड़वत् के भाँति) अवाक् विमूढ़: च (वाक्शून्य और विमूढ़ हो गया हूँ) कुत्र अस्मि (मैं कहाँ हूँ) क: अस्मि इति (मैं कौन हूँ इत्यादि कुछ) न वेद्मि (नहीं जान पारहा हूँ)। अर्थात् मैं तुम्हारे रूपसागर में निमज्जित होकर आनन्द में मुग्ध हो गया हूँ।

इस अवस्था में अखंडरूप समुद्र में निमग्न हो जाने से उसका आदि-मध्य-अन्त कुछ नहीं दिखाई देता ; अपनी वाक्शक्ति रहित हो जाती है ; यह अत्याश्चर्य अपूर्व अवस्था भाषा में वर्णित होने योग्य नहीं। इस अवस्था में अपना स्वरूप ढूँढ़ने से नहीं मिलता—मैं कहाँ हूँ, क्या कर रहा हूँ, इसका भी ज्ञान नहीं रह जाता। एक अपूर्व तन्मयता में अपना स्वरूप निमग्न हो जाता है।

त्रिशरण

॥ कृष्णं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि ॥९५॥

कृष्णं शरणं गच्छामि (कृष्ण को आश्रयरूप में ग्रहण करता हूँ), धर्मं शरणं गच्छामि (धर्म को आश्रयरूप में ग्रहण करता हूँ), संघं शरणं गच्छामि (संघ को आश्रयरूप में ग्रहण करता हूँ)।

मैं पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को अपने आदर्श इष्टरूप में वरण करता हूँ; मैं उनके प्रदर्शित धर्म को अपने आश्रयरूप में ग्रहण करता हूँ; वे जो सब जीवों को एकता-बंधन में बांधकर एक अखंड अद्वय ज्ञान में आबद्ध करने के इच्छुक हैं, मैं उसी संघ के कार्य में जीवन उत्सर्ग करता हूँ।

इस आनन्दमय महासागर में अवगाहन कर, स्वयं इस आनन्द से एकता प्राप्तकर, भगवान के मंगलमय निर्देश से, उन्हीं की शक्ति के प्रभाव से, फिर अपनी व्यक्तिगत-सत्तासहित जाग उठना होता है। इस अवस्था में एकमात्र भगवदिच्छा का पूरण, जगत्सेवा अर्थात् विश्व-मंगल साधन ही उद्देश्य रहता है। तब उनको स्मरण कर एवं उनको प्रणाम कर स्वाभाविकरूप से विश्व के मंगल-कार्य में व्यापृत हो जाना होता है। इस दिव्य जीवन के मूल में भगवत्-स्वरूप, भगवत्-प्रचारित धर्म एवं भगवद्भक्त—इन तीनों रत्नों की शरणागति विद्यमान है। श्रीकृष्ण स्वयं पुरुषोत्तम हैं; उनको आश्रय कर, उनका धर्म पालन कर, समस्त जीवों में एकता स्थापन करने की चेष्टा करने के लिए चित्त दृढ़-प्रतिज्ञ हो जाता है।

इस समय साधक सब जीवों को आत्मभाव में एक सूत्र में गुंथा हुआ देखकर ("सूत्रे मणिगणा इव"—गी० ७—७) सब को संघ-बद्ध करने में—सब एक ही अखंड अद्वय तत्त्व के पूर्ण प्रकाश, विभूति अथवा लीला-स्वीकृत विग्रह हैं, यह स्मरण करते हुए—बहुत्व में एकत्व स्थापन करने के लिए बद्धपरिकर होता है। समस्त कल्पित धर्मों में गीतोक्त परम भागवत धर्म का गूढ़ रहस्य हृदयंगम कर उस धर्म पालन में दृढ़प्रतिज्ञ होता है। "यो मां पश्यति सर्वत्र" श्लोक की अनुभूति के फलस्वरूप बहु में एकत्वानुभूति साधित होती है। "सर्वंच मयि पश्यति" भाव के द्वारा एक के भीतर बहुत्व की—लीलार्थ कल्पित बहुत्व की—उपलब्धि होती है। इन दोनों भावों के मिलन से "वासुदेवः सर्वमिति" तत्त्व की—निर्गुण-सगुण की—एकत्वानुभूति लाभ होती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हरिः ॐ तत् सत् ॥

नोट—नित्य पाठ में (❀) चिह्नित श्लोक ही पढ़े जाते हैं।

[श्रद्धेय स्वामीजी ने सब की सुविधा के लिए पूजा के तत्त्वों को साधारणतः सात भागों में विभक्त किया है : (१) शुद्धितत्त्व (२) धामतत्त्व (३) स्वरूपतत्त्व व भगवत्तत्त्व (४) न्यासतत्त्व (५) उपचार-समर्पण (६) प्रार्थना व प्रणाम (७) सर्वभूत में भगवद्दर्शन। इन सब तत्त्वों की पूर्णानुभूति से ही पूजा सर्वांग सम्पूर्ण होती है। इन तत्त्वों की पूर्णानुभूति के लिए प्रत्येक तत्त्व पृथक् पृथक् भाव में साधन करना आवश्यक है। इसलिए श्रीस्वामीजी सप्ताह के एक एक दिन एक एक तत्त्व की साधना और उपलब्धि करने के लिए ज़ोर देते हैं। जो दिन जिस तत्त्व की साधना और उपलब्धि के लिए नियत किया गया है उस दिन उस तत्त्व के भावोद्दीपक सब श्लोक पाठ करने चाहिए और तदनुकूल संगीत की व्यवस्था करना भी रुचिकर होगा।

सोमवार—शुद्धितत्त्व ; मंगलवार—धामतत्त्व ; बुधवार—स्वरूपतत्त्व व भगवत्तत्त्व ; बृहस्पतिवार—न्यासतत्त्व ; शुक्रवार—उपचार-समर्पण ; शनिवार—प्रार्थना व प्रणाम ; रविवार—सर्वभूत में भगवद्दर्शन। निर्दिष्ट दिन उस भाव के सब श्लोक पाठ करने चाहिए। विशेष विशेष रविवार को यदि समय हो तो सर्वभूत में भगवद्दर्शन के ८६–६० तक श्लोक केवल न पढ़के श्रीमूर्तिदर्शन के सब श्लोक पाठ कर लिये जाँय। उस दिन उपचार-समर्पण एवं भगवत्-स्वरूप के सब श्लोक पाठ करना भी लाभदायक होगा।]

श्रीमूर्त्ति-दर्शन

वासन्तचूतमुकुलेष्वलिझङ्कृतेपु
कुंजेपु मञ्जुकलकोकिलकूजितेषु ।
सम्पूर्णशारदसुधाकरमण्डलेषु
सौंदर्यसागर हरे तव मूर्तिमीक्षे ॥१॥

हे अनन्तसौन्दर्यरत्नाकर ! हे मनप्राणहरणकारी हरि ! भ्रमरगुंजन से नन्दित नव वसन्त के आम्र वृक्षों की मंजरी में, कलकोकिल-कूजित मनोहर कुंजों में, परिपूर्ण शरच्चन्द्रमंडल में, मैं तुम्हारे अलौकिक रूप को देखता हूँ ।१।

प्रफुल्लपद्मेषु सरोवरेषु, ताराविचित्रेषु नभःस्थलेषु ।
मातुः स्तने कारुणिकस्य चित्ते, गोविन्द पश्यामि तवैव मूर्त्तिम् ॥२॥

विकसित कमलों से सुशोभित सरोवर में, दीप्त तारकावलि-खचित नभःस्थल में, (प्रेम-करुणा के अपूर्व निर्झर) मातृस्तन में, कारुणिक के पवित्र हृदय में, हे गोविन्द ! मैं तुम्हारी ही मूर्ति देखता हूँ । २ ।

विचित्रपुष्पासु वनस्थलीषु, सुगन्धमन्दानिलवीजितासु ।
विहंगसंगीतनिनादितासु, गोविन्द पश्यामि तवैव मूर्त्तिम् ॥३॥

सुगन्ध मन्द वायु से वीजित, विचित्र पुष्पों से परिपूर्ण, पक्षियों के मधुर कलनाद से शब्दायमान वनस्थलीयों में, हे गोविन्द ! मैं तुम्हारी ही मूर्त्ति देखता हूँ । ३ ।

शिखण्डिकेका नवमेघशब्दे, भेकालिकण्ठाश्च नवाम्बुपाते ।
झिल्लीरवाः सुप्तजने निशीथे, उद्बोधयन्त्यंग तवैव मूर्त्तिम् ॥४॥

नवमेघ शब्द के श्रवण से उन्मत्त मयूरों की केकाध्वनि, प्रथम धारापात से उत्फुल्ल मेंढ़कों का कोलाहल, निद्रा से स्तब्ध रात्रि का झिल्लीरव, हे अंग (हे समस्त रूपों के एकमात्र आकर) ! यह मेरे मन में तुम्हारे रूप का उद्बोधन करते हैं ।४।

माणिक्यखण्डैरिव दीप्यमानैः, खद्योतपुंजैर्निचितानगण्यैः ।
बहुद्रुमान् वीक्ष्य घनान्धकारे, स्मरामि ते रूपमपूर्वरूपम् ॥५॥

घने अन्धकार में मणि-माणिक्यों के भाँति प्रकाशमान अगणित खद्योतों से समालंकृत वृक्षों को देखकर, हे अपूर्वरूप ! मैं तुम्हारी रूप-माधुरी को स्मरण करता हूँ ।५।

प्रत्यग्रसिन्दूररसैरिवार्द्रे, बालातपैर्विच्छुरितेऽन्तरिक्षे ।
पश्यामि सन्ध्याम्बुदविभ्रमेषु, प्रेमाभिरामां तव कृष्णमूर्त्तिम् ॥६॥

अम्लानसुन्दर सिन्दूररस से अभिषिक्त नवोदित-अरुणच्छटा से विच्छुरित आकाश में, सन्ध्या की मेघमाला के अपूर्व विलास दर्शन में, हे कृष्ण ! तुम्हारी प्रेमसुन्दर मूर्त्ति मैं देखता हूँ ।६।

उद्भिन्नगारुत्मतसुप्रकाशैः, क्षेत्रेषु कीर्णेषु नवीनशस्यैः ।
स्निग्धेषु पश्यामि च पल्लवेषु, विश्वाभिरामं तव कृष्णरूपम् ॥७॥

मरकत-मणि की भांति सुशोभित उद्गतशीर्ष नवीन शस्य से परिपूर्ण क्षेत्रों में और स्निग्ध-श्याम पल्लवों में मैं तुम्हारी विश्वविमोहन कृष्णमूर्त्ति देखता हूँ । ७ ।

कंकालमालाबहुलेऽतिरौद्रे, श्मशानदेशे शवधूमधूम्रे ।
प्रचण्डवातक्षुभितेऽर्णवे च, प्रेक्षे महारुद्र तवैव मूर्त्तिम् ॥ ८ ॥

अनेक कंकाल मालाओं से परिवेष्टित, भयावह शव-धूम से धूमित श्मशान देश में, प्रचंड वायु से विक्षोभित सागर में, हे महारुद्र ! मैं तुम्हारी ही रुद्रमूर्त्ति देखता हूँ । ८ ।

गाढ़ान्धकारासु कुहुत्तपासु, दिग्व्यापिघोराभ्रघटासु चैव ।
दम्भोलिभीमध्वनितेषु वीक्षे, महाविराजस्य तवैव मूर्त्तिम् ॥९॥

अमावस्या की घोर अन्धेरी रात में जब सब ओर घनघोर घटा छाई हो और बिजली की भीषण वज्रध्वनि बारंबार हो रही हो, हे सर्वत्र विराजमान महादेव ! उस भीषणता में भी मैं तुम्हारी ही मूर्त्ति देखता हूँ । ९ ।

शशांकताराप्रतिबिम्बगर्भान, तोयाशयान् स्वच्छजलान् समीक्ष्य ।
उदेति चित्ते तव कापि मूर्त्तिरनन्तवैचित्र्यमयी मुकुन्द ॥१०॥

हे मुकुन्द (भक्ति मुक्ति-प्रेमदातृ) ! निर्मल जल से परिपूर्ण सरसी और उसमें चन्द्र-तारों के प्रतिबिम्ब देखकर तुम्हारी वैचित्र्यमयी मूर्त्ति मेरे अन्तःकरण में भासमान हो जाती है ।१०।

पुण्यानि तीर्थानि तपोवनानि, दृष्ट्वा सरित्सागरसंगमांश्च ।
नामावशेषांश्च पुराणदेशान् , पुरातनं त्वं पुरुषं स्मरामि ॥११॥

समस्त पुण्य तीर्थ, पवित्र तपोवन, सरित्-सागर-संगम, पुराणनामावशेष प्रसिद्ध देश दर्शन करके, हे चिर-पुरातन ! मैं तुमको स्मरण करता हूँ ।११।

लीलाः शिशूनां गृहचत्वरेषु, गवां प्रचारेषु च वत्सलीलाः ।
जले च पश्यन् जलपक्षिलीलाः, स्मरामि लीलामयविग्रहं त्वाम् ॥१२॥

गृह—आँगन में शिशुओं की क्रीड़ा, गोष्ठों में गो-वत्स-लीला, जल में जल-पक्षियों का विहार, ये सब देखकर तुम्हारो लीलामय विग्रह मेरे स्मृति-पथ में उदित हो जाती है ।१२।

स्तनन्धयानां स्तनदुग्धपाने, मधुव्रतानां मकरन्दपाने ।
दाने दयालोरथ भक्तगाने, पश्यामि मूर्त्तिं करुणामयीं ते ॥१३॥

स्तनपायी शिशुओं को मातृस्तन पान करते देखकर, मधुकरों को मकरन्द पान करते देखकर, पर-दुःख-कातर दयालु को आर्त्त की व्यथा

विमोचन करते देखकर, प्रेमिक भक्तों को समस्त मन-प्राण से भगवद् भजन करते देखकर, हे भगवन! मैं तुम्हारी ही करुणामयी मूर्ति उसमें देखता हूँ ।१३।

सतीषु नारीषु च सर्वभूत-प्रकामसन्तर्पणदीक्षितासु ।
पूर्णान्नपूर्णास्विव लक्षयेऽहं, मूर्त्तिं हरे सत्त्वमयीं तवैव ॥१४॥

सती नारी, सब भूतों का तृप्तिविधान जिसके जीवन का व्रत है और अन्नपूर्णा की भांति जो अन्नदान में मुक्तहस्ता है ऐसी नारीयों के भीतर मैं तुम्हारी ही सत्त्वमयी मूर्त्ति देखता हूँ । १४ ।

वनस्पतौ भूभृति निर्झरे वा, कूले समुद्रस्य सरित्तटे वा ।
यत्रैव चित्ते समुदेति भक्तिस्तत्रैव पश्यामि तवैव मूर्त्तिम् ॥१५॥

वनस्पति, पर्वत, निर्झर, समुद्रतट, नदीतीर और जहाँ जहाँ भी मेरे चित्त में भक्तिरस उदय होता है, वहीं मैं तुम्हारी परम मूर्त्ति देखता हूँ । १५ ।

कीटे पतंगे च सरीसृपे च, मीने पशौ पक्षिणि मानवे च ।
स्थूले च सूक्ष्मे च जले स्थले खे, पश्यामि ते रूपमनन्तरूप ॥१६॥

कीट में, पतंग में, सरीसृप में, मीन में, पशु में, पक्षी में, मानव में, स्थूल में, सूक्ष्म में, जल में, स्थल में, आकाश में, मैं सर्वत्र ही तुम्हारा अनन्तरूप देखता हूँ । १६ ।

भूतेषु सर्वेषु चराचरेषु दूरे समीपे च पुरश्च पश्चात् ।
विलोकयाम्यूर्ध्वमधश्च तिर्यक्, हे कृष्ण ते रूपमनन्तरूप ॥१७॥

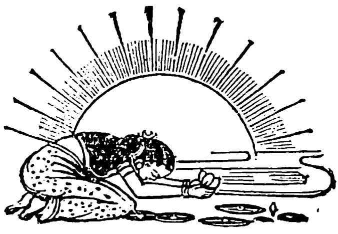
सर्वभूत में, चराचर में, दूर और निकट, सामने एवं पीछे, ऊपर नीचे अथवा पार्श्व में, हे कृष्ण! मैं तुम्हारा आनन्द रूप ही देखता हूँ ।१७।

अहो निमग्नस्तव रूपसिन्धौ, पश्यामि नान्तं न च मध्यमादिम् ।
अवाक् च निःस्पन्दतरो विमूढः, कुत्रास्मि कोऽस्मीति न वेद्मि देव ॥
॥१८॥

अहा–हा ! मैं तुम्हारे रूपसागर में डूब गया हूँ ; आदि-मध्य-अन्त कुछ नहीं देखता; वाक्यहीन, निःस्पन्द, विमूढ़ हो गया हूँ; मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे कुछ स्मरण नहीं होता । १८ ।

नमस्ते नमस्ते विभो विश्वमूर्त्ते, नमस्ते नमस्ते हरेऽचिन्त्यशक्ते ।
नमस्ते नमस्तेऽखिलाश्चर्यसिन्धो, महादेव शम्भो नमस्ते नमस्ते ॥ ६॥

प्रणाम, प्रणाम, हे विश्वमूर्त्ति ! हे विभो ! तुमको प्रणाम; हे अचिन्त्यशक्ते हरि ! तुमको प्रणाम ; हे अखिल-विस्मय के सागर ! तुमको प्रणाम ; हे महादेव ! हे शम्भो ! तुमको प्रणाम प्रणाम । १६ ।



परिशिष्ट

भगवत्-तत्त्व

आजकल बहुत लोगों के मुख से सुना जाता है कि 'हम भगवान को नहीं मानते।' यदि पूछा जाय कि भगवान किसको कहते हैं और प्राचीन ऋषि-मुनि भगवान के सम्बन्ध में क्या कह गये हैं तब वे उत्तर देते हैं कि 'हमें नहीं मालूम।' 'जिसको जानते नहीं उसको मानते नहीं'——इस प्रकार की उक्ति को बुद्धिमान का कार्य नहीं कहा जासकता। अवश्य हमारे समाज में साधारण लोगों के लिए भगवान की जिस प्रकार वर्णना की गई है उसका अनुमोदन हम भी नहीं करते। संस्कार के वश, बुद्धि के दोष से और स्वार्थ के प्रभाव से हमने 'भगवान' शब्द को बहुत विकृत कर दिया है। परन्तु इस कारण हम प्रकृत भगवान को अस्वीकार नहीं कर सकते। यदि कोई अच्छी वस्तु काल के प्रभाव से विकृत होगई है तो उसकी विकृति को दूरकर उसको प्रकृत स्वरूप में प्रतिष्ठित करना हमारा कर्त्तव्य है। मन्दिर में यदि मल जमा होजाय तो मन्दिर को ध्वंस न कर मल को परिष्कार करना और मन्दिर की पवित्रता की रक्षा करना ही उचित है। हम संस्कार पसन्द करते हैं, ध्वंस के पक्षपाती नहीं हैं। इसीलिए भगवान के सम्बन्ध में ऋषिमुनियों की अनुभूति को ठीक भाव में ग्रहण करना ही कल्याणप्रद समझ में आता है।

ऋषियों ने चित्त को शून्यकर अर्थात् पूर्णरूप से संस्कार वर्जित होकर परम तत्त्व को जानने की योग्यता लाभ की। शून्य चित्त में एक शान्त भाव (state of perfect equilibrium) उपलब्धि में आया। वहाँ समाहित होने पर क्रमशः एक शक्ति का खेल अनुभूति

में आने लगा। इस शक्ति का स्वरूप जानने की चेष्टा में शक्ति का सच्चिदानन्द भाव आविष्कृत हुआ। तब उन्होंने इस शक्ति को माँ कहकर सम्बोधन किया। फिर अनुभव में आया कि शक्ति में शक्तिमान को प्रकाश करने का सामर्थ्य है। शक्तिमान स्वरूपतः आनन्दस्वरूप हैं, वे शक्ति के खेल के भीतर से प्रकाशित होते हैं। इस शक्तियुक्त अवस्था को सगुण ब्रह्म, परमात्मा, भगवान, इत्यादि नाम दिये गये। शक्तियुक्त ब्रह्म सृष्टि-स्थिति-लयकर्त्ता, अन्तर्यामी विधाता, दुष्टों का दमन और शिष्टों का पालन करने में तत्पर हैं। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"—येही सगुण ब्रह्म हैं। तत्पश्चात् शक्ति के भीतर से शक्तिमान ने अपने स्वरूप को अनेकांश पूर्णरूप में प्रकट किया। तब वे "आनन्दरूपममृतम् शान्तं शिवमद्वैतम्" कहलाये। इसके अनन्तर शक्ति शक्तिमान में लीन होजाने पर एक अखण्ड, अद्वय, समरस तत्त्व रहगया।

परमात्मतत्त्व एवं भगवत्तत्त्व में भी इन तीनों भावों का सन्धान पाया जाता है किन्तु भक्तगण भगवान को केवल आनन्दमय भाव में पर्यवसित करने की वृथा चेष्टा करते हैं। इसके परिणामस्वरूप वृन्दावन के कृष्ण, मथुरा के कृष्ण और द्वारका के कृष्ण इन तीन कृष्णों का उल्लेख देखने में आता है। एक ही कृष्ण प्रयोजनानुसार युद्धक्षेत्र में सारथी, विचारक्षेत्र में अद्वितीय पण्डित एवं रनिवास में आदर्श प्रेमिक होसकते हैं यह बात हम भूल जाते हैं। याद रखना होगा कि सत्ता एवं चैतन्य की पूर्ण परिणति लाभ होने के पूर्व आनन्द का पूर्ण विकास होना असम्भव है। हम ज्ञान द्वारा उनको जानें, प्रेमद्वारा उनसे मनोनीत होकर उनसे तन्मयता लाभ करें एवं कर्म द्वारा उनकी मङ्गलमयी इच्छा को पूर्णसफल करें—यही हमारी साधना का लक्ष्य होना चाहिए। "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते"—यह श्लोक एक ही परम एवं चरम तत्त्व का त्रिविध भाव दृष्ट करता है। इसके द्वारा कोई भेदभाव पैदा होता है यह हम विश्वास करने में असमर्थ हैं।

सृष्टि के प्रारम्भ में—ऊपर से नीचे उतरने के समय, अवरोहण के समय—ब्रह्म से जगदभिमुखी गति के भीतर पहले आनन्द का, फिर चित्-शक्ति का और अन्त में सत्-शक्ति का विकास लक्ष्य में आता है। किन्तु साधना के भीतर—ऊर्ध्वगति लाभ करते समय, आरोहण के समय अर्थात् जगत् से जगन्नाथ के निकट जाते समय—हमारी साधना पहले सत्, फिर चित् और तत्पश्चात् आनन्द-शक्ति के अवलम्बन द्वारा आरम्भ होती है। साधक की साधना आनन्द में पर्यवसित हो जाने पर भी वह आनन्द कर्म एवं ज्ञान द्वारा सफलता लाभ करता है। हिन्दु ऋषिगण समाधि-आनन्द-रस में डूबे रहने को सर्वश्रेष्ठ अवस्था नहीं मानते थे। वे आनन्द को ज्ञान और कर्म द्वारा ग्रहणकर कर्ममय जगत् में सफलीकृत करना ही श्रेष्ठ अवस्था समझते थे। हम रामचन्द्र श्रीकृष्णादि के जीवन की प्रथमावस्था में आनन्द का विकास देखकर मुग्ध होजाते हैं किन्तु प्रकृत योगी देखता है कि पर-जीवन में उन्होंने ज्ञान और कर्म द्वारा पूर्ण सफलता लाभकर अपना पुरुषोत्तमत्व किस प्रकार सप्रमाण किया। जो आनन्द कर्म और ज्ञान द्वारा पूर्णत्व लाभ नहीं करता वह आनन्द अनेक समय विकृतरूप धारणकर देश का प्रभूत अकल्याण कर बैठता है इसमें सन्देह नहीं। इसीलिए हम पुरुषोत्तम को केवल आनन्द में पर्यवसित न कर उनमें सत्ता, चैतन्य और आनन्द की पूर्ण परिणति तथा अपूर्व समन्वय देखना पसन्द करते हैं।

उपनिषदादि ग्रन्थों में परम तत्त्व के निर्गुण और सगुण दोनों भावों का उल्लेख पाया जाता है। वे परम तत्त्व (ब्रह्म) शक्ति की सहायता से जहाँ तक हमारी—विशेषतः ऋषिमुनियों की—अनुभूति में आते हैं उसी अवधि तक उनका सगुण भाव है और उसके ऊपर वाक्य-मन के अगोचर उनके अज्ञात भाव को लक्ष्य कर निर्गुण तत्त्व का आभास देने की चेष्टा की गई है। दुःख की बात यह है कि इस निर्गुण-सगुण भाव को लेकर दार्शनिक पण्डितों ने साधन-राज्य में

अनेक अनर्थों की सृष्टि करदी है। केवल यही विचार होता है कि प्रतिष्ठा-मोह रहते हुए प्रकृत तत्त्व हृदयङ्गम करना कठिन है और प्रतिष्ठा-मोह पूर्णतया दूर होजाने पर सम्प्रदाय स्थापन करना सम्भव नहीं। प्राचीन ऋषि साम्प्रदायिक भाव के ऊपर रहते थे—वे प्रतिष्ठा-त्यागी तत्त्वदर्शी थे, इसीलिए उनके आर्षग्रन्थ भगवान का स्वरूप निर्द्धारण करने में एकमात्र सहायक हैं। पहले कहा गया है कि चरम-तत्त्व शक्तियुक्त होकर सगुण रूप धारण करने पर ही हमारे अवलम्ब-नीय अर्थात् उपास्य तत्त्व में परिणत होने योग्य होते हैं। शक्ति की सहायता के अतिरिक्त उस चरमतत्त्व को उपलब्ध करने का और कोई उपाय नहीं। वह शक्ति, माँ के समान प्यारकर, हमको चरमतत्त्व के निकट पहुँचा देने के लिए तथा पुरुषोत्तम की परिणति प्रदान करने के लिए कितनी सचेष्ट हैं—यही विचारकर हम माँ आद्याशक्ति की इतनी भक्ति करते हैं। हम शक्तिपूजा का माहात्म्य स्वीकार करने को बाध्य हैं। यहाँ विचारने योग्य है कि वृन्दावन की गोपियाँ पुरुषोत्तम को लाभ करने के लिए किस प्रकार कात्यायिनी देवी के शरणापन्न हुई थीं; हमारे महाप्रभु राधा-भाव में कैसे विभोर रहते थे और 'राधा' 'राधा' रटते-रटते समाहित होजाते थे। अधीर मन से माँ आद्याशक्ति के शरणापन्न होने से ही माँ दया करके सगुणब्रह्मतत्त्व—पुरुषोत्तम तत्त्व—का पूर्ण विकास हमारे सम्मुख उपस्थित करेंगी और हमें 'होना' और 'पाना' तत्त्व की पूर्ण सार्थकता प्रदान करेंगी।

सगुणब्रह्म को समझने के लिए शक्तितत्त्व को अच्छी तरह जानना आवश्यक है। विद्युत्-शक्तिकेन्द्र (electric power house) के रहस्य से इस विषय को समझने में सहायता मिलती है। केन्द्र के साथ जब तक योग रहे तब तक बल्ब जलता है, पङ्खा घूमता है, मशीन चलती है। ठीक इसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ जब तक प्राणशक्ति के साथ युक्त हैं तब तक आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, मन चिन्तन करता है—

तभी तक हम जीवित हैं—और यह योग छिन्न होजाने से ही हमारा अस्तित्व लोप हो जाता है। इसीलिए सगुण ब्रह्म को "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः" कहा गया है। समस्त साधन-भजन का मूल उद्देश्य है इस शक्ति को जानना और अपने भीतर अबाधित भाव से इसको प्रस्फुटित करना। शक्ति का पूर्ण विकास साधित हुए बिना शक्तिमान को भली प्रकार जानने की सम्भावना नहीं। जिनके भीतर यह शक्ति पूर्ण विकसित है वे ही हमारे उपास्य पुरुषोत्तम हैं।

कहना अनावश्यक होगा कि प्रकृत भक्त शास्त्र के तर्क-वितर्क में जाना पसन्द नहीं करते। उनके भगवान एक ऐसी वस्तु हैं जिनके बिना उनका काम चल ही नहीं सकता और जिनको प्राप्त किये बिना वे जीवित नहीं रह सकते। 'मैं भगवान को देख नहीं पाता', यह कहने का मेरा साहस नहीं होता है; विचार होता है कि यह कहना मिथ्या होगा। क्योंकि किसी को भी देखने का अर्थ ही है उसके भीतर से आंशिक रूप में भगवान को देखना। उसको देखना जब पूर्ण रूप में परिणत होगा तब वह देखना भगवद्दर्शन में परिणत होकर चरम सार्थकता लाभ करेगा। हम जो कुछ विचारते हैं या प्राप्त करते हैं उसके द्वारा आंशिक-सीमाबद्ध-भाव में भगवान को विचारना या प्राप्त करना साधित होजाता है। इस भाव से भगवान को देखना या प्राप्त करना हम साधारणतः भगवान को देखना या प्राप्त करना नहीं मानते इसलिए कि भगवान पूर्णस्वरूप हैं और किसी वस्तु को पूर्णतया देखना या प्राप्त करना ही भगवान को देखना या प्राप्त करना माना जाता है। किन्तु वास्तव में पहले का देखना या प्राप्त करना भी भगवान को ही देखना या प्राप्त करना है यद्यपि पूर्णरूप में नहीं। मेरा स्वयं खाना या किसी दूसरे को खिलाना पूर्णरूप में साधित कर भगवान को खिलाने में परिणत करना ही मेरी समस्त साधना और चेष्टा है। हमारे सब कार्य पूर्णता को प्राप्त

होने पर भगवत्-कार्य—भगवत् उपासना—में पर्यवसित होजाते हैं। भगवान ही हमारे सब कुछ हैं। हमारे हाथ के उपकरण भगवान की सत्ता से आये हैं, भगवत्-शक्ति द्वारा गठित हैं और हाथ के सब कार्य भगवत्-शक्ति द्वारा साधित होते हैं। अपने हाथ को पूर्ण परिणति दानकर अर्थात् पूर्णरूप से इसका सद्व्यवहार करसकने पर ही हमारे हाथ द्वारा भगवान पूर्णतया कार्य करने का सुयोग पायंगे। तब हमारे हाथ का कार्य भगवान का कार्य होगा। अपने सब दृश्यों को भगवद्-विग्रह में, सब कार्य को भगवत्-कार्य में, सब भावना को भगवद्ध्यान में परिणतकर, भगवन्मय होकर—सब को भगवत्भाव से परिभावित रूप में अनुभव करना ही साधन-भजन का प्रधान उद्देश्य है। कहना अनावश्यक होगा न्यासतत्त्व पूर्णरूप से अनुभव में आये बिना भगवद्दर्शन, भगवल्लीलानुभूति, सम्भवपर नहीं होती।

साधकगण केवल मुख से भगवान का अस्तित्व स्वीकारकर और भाव तथा व्यवहार में उनको वर्जनकर भगवत्-शून्य भाव में, भगवद्-विहीन देश में, वास करने में असमर्थ हैं। वे जानते हैं कि भगवान बिना उनका काम नहीं चलता, न चल सकता है और न कभी चलेगा। इसी लिए वे कहते हैं—'हे भगवान, पंडितगण तुमको अव्यक्त-अचिन्त्य निर्गुण-निष्क्रिय-निराकार कहकर, वाक्य-मन से अगोचर समझकर, ध्यान-धारणा के अतीत जानकर निश्चिन्त रहें इसमें हमें कुछ कहने या चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं किन्तु हम तुम्हारे बिना नहीं रह सकते! तुम अनन्त हो इसमें भी हमारी कोई हानि नहीं। तुमको जानना, ध्याना, भावना, देखना और उपलब्ध करना कभी समाप्त नहीं हो सकता ये हम भी जानते हैं। किन्तु इससे क्या हम यह समझें कि जो कुछ हम देखते हैं उसके भीतर तुम तनिक भी नहीं हो अथवा जो कुछ हम प्राप्त करते हैं उसके द्वारा तुम्हारी प्राप्ति ज़रा भी नहीं होती अथवा हम जो कुछ आनन्द करते हैं वह सब तुमसे पृथक् है। कौन

वीर पुरुष, ज्ञानी अथवा प्रेमिक मातृस्नेह अथवा दाम्पत्य-प्रेम का मान कर सकता है ? तुमको जानना, ध्याना और उपलब्ध करना शेष नहीं हो सकता इसीलिए तो तुम इतने मधुर हो। तुम अनन्त होकर ही तो इतने लोभनीय, इतने स्पृहनीय, इतने वरणीय हो। इसीसे तो तुम अनन्तकाल से अनन्त ज्ञानियों को, अनन्त प्रेमिकों को, अनन्त साधकों को अपने नाम, अपने गुण व अपने प्रेम से मोहित कर अपनी अनन्त लीला के सहायभूत किये हुए हो। हे अरूप, हे अमूर्त्त, तुम ही तो जगद्व्यापी विश्वमूर्ति हो। यह जगत् तुम्हारी ही प्रकटित अथवा व्यक्त अवस्था है। तुम ही तो "विश्वरूप, विश्वनाथ, विश्वजीव-विग्रह" हो। तुम अरूप होकर भी अनन्त रूप ग्रहणकर, अनन्त वेष धारणकर, अनन्त भाव से अनन्तलीला-रस विस्तार किये हुए हो। तुम जो सर्व-व्यापी हो इसीलिए तो सबके भीतर तुम्हारा दर्शन करना, सब के भीतर तुम्हारा ध्यान करना, सबके भीतर तुम्हारी पूजा करना और सबके भीतर तुम्हारी सेवा करना हमारी प्रधान साधना है। हे ठाकुर, तुम ही तो सृष्टि-स्थिति-लय-कर्ता हो—हम आए हैं तुम्हारे पास से, जीवित हैं तुम्हारे द्वारा और अन्त में उस चरम दिन तुम ही में मिलकर हमारा लय होगा। तुम ही तो "श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचम् स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्चक्षुः" हो। तुम हमारी आँखों के भीतर हो इसीलिए तो हमारी आँखें देख सकती हैं, कानों के भीतर हो इसीलिए तो हमारे कान सुन सकते हैं, मन के भीतर हो इसीलिए तो हमारा मन चिन्ता कर सकता है, तुम ही को लेकर तो हम "हेले-दुले-हेसे-खेले बेड़ातेछि कुतूहले" (हँसते खेलते झूलते कुतूहल करते हैं)। तुमको वर्जन करके तो हमारा कुछ भी नहीं रह सकता, यहाँ तक कि हम भी नहीं रह सकते। जिनको छोड़कर हमारा व्यापार नहीं चलता, जिनको छोड़कर हम जीवित नहीं रहते, जिनको छोड़कर हमारे कान नहीं सुनते, आँखें नहीं देखतीं, मन चिन्तन नहीं करता, उनको क्या वर्जन किया

जा सकता है। हे ठाकुर, तुम्हारा अभाव हमारे लिए कैसा अभाव है, तुमको उपलब्ध न करसकने में हमारी क्या हानि है—यह न समझने के तुल्य और अधिक अभाव हमारे लिए नहीं। तुम ही हमारे सर्वापेक्षा प्रिय हो; पुत्र से, वित्त से और जो कुछ हमारा है सबसे प्रिय हो—यहाँ तक कि आत्मा से भी प्रिय हो, इसीलिए तो परमात्मा हो। "प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात् यदेषः अन्तरतम आत्मा"।'

जिनको प्राप्त करके और कुछ प्राप्त करने को बाक़ी नहीं रहता, जिनको जान लेने से और कुछ जानने को बाक़ी नहीं रहता, उन ईप्सिततम, प्रेमाधार, प्राणाराम को वर्जनकर जो जीवन में चलते हैं या चलना चाहते हैं वे महा अन्ध हैं। जो 'प्रकृति' 'प्रकृति' (nature), 'विज्ञान' 'विज्ञान' (science) कहकर भगवान को वर्जन करना चाहते हैं वे एक बार भी विचारकर नहीं देखते कि प्रकृति का अन्तरात्मा कौन है। सब की सत्ता सुप्रतिष्ठित रखने के लिए, सब की पूर्ण-परिणति लाभ के लिए, सब की ज्ञान-वृद्धि के लिए और सबको आनन्द में विभोर रखने के लिए वे कैसे सचेष्ट हैं; प्रकृति देवी अपने प्राणाराम अन्तरात्मा के लिए, अपने परम पति की चरम तृप्ति के लिए, उनके पूर्ण विकास के लिए, कितनी व्यस्त हैं—वे एक बार भी इस विषय पर नहीं विचार करते। पुरुषचैतन्य के सान्निध्य के बिना, पुरुषचैतन्य को वर्जनकर, प्रकृति का अस्तित्व तक नहीं रहता। और पुरुषचैतन्य के सहित ही जो प्रकृति आनन्दमयी, चैतन्यमयी है उसको अचैतन्य कहने में ये लोग कुछ भी संकोच नहीं करते। जिस प्रकृति के विषय में ये लोग आलोचना करते हैं वह वास्तव में प्रकृति-पुरुष की युगल मूर्त्ति है—यह भी सोचने समझने का इनको अवकाश नहीं।

हे सत्-स्वरूप! आकाश की शोभा, समुद्र का गाम्भीर्य, पक्षियों का संगीत, कुसुमों का सौन्दर्य, बालकों की हँसी, माता का वात्सल्य, स्त्री का प्रेम—जो सर्वदा हमारा मन हरणकर हमको उल्लसित रखता है वह

तुम्हारी ही सत्ता का क्षणिक तथा आंशिक विकास है। हे ज्ञानस्वरूप ! राम, वशिष्ठ, बुद्ध, शंकर, सौक्रेटीज़, नियूटन, कैन्ट, हैगल, आदि का ज्ञान तुम्हारी चिद्विभूति का केवल कणमात्र है। हे आनन्दस्वरूप ! ईसा, मुहम्मद, चैतन्य, नानकादि का प्रेम तुम्हारे ही आनन्द की सामान्य विलास-विभूति है। जब तुम्हारे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं और न कुछ रह सकता है तो क्या तुमको वर्जन किया जा सकता है। हे "भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्", हे "गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्", हे पालक, हे रक्षक, हे विभु, हे प्रभु, हे भूतभर्त्ता, हे ग्रसिष्णु, हे प्रभविष्णु, हे नित्य, हे सर्वगत, हे स्थाणु, हे अचल, हे सनातन, हे "सर्वेन्द्रियगुणा भासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं", हे "विभक्तेषु अविभक्तं", हे सर्वव्यापी, हे चरम पति, हे परम गति, हे अजर, हे अमर, हे "शुद्धमपापविद्धम्", हे कवि, हे मनीषि, हे परिभू, हे स्वयम्भू, हे "याथातथ्यतोऽर्थ" के विधानकारी, हे "सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम्", हे शरण्यम्, हे वरेण्यम्, हे "शान्तं शिवं सुन्दरम्", हे "आनन्दरूपममृतं", हे हमारे यथा-सर्वस्व ! कृपाकरके अपने गुण से हमारे निकट प्रकट हो। तुम्हारे सत्य, ज्ञान और आनन्द की विभूति हमको सर्वदा उल्लसितकर आनन्द में विभोर रखे।

पुरुषोत्तम

"महाशक्ति की उपासना के फलस्वरूप पुरुषोत्तम का आदर्श हृदय में जागरित होता है। महाशक्ति विश्वजननी हैं। वे पुरुष की अथवा जीव की जननी हैं और पुरुषोत्तम की अथवा ईश्वर की भी जननी हैं— केवल यही नहीं, एक हिसाब से देखा जाय तो वे महाकाल की भी जननी हैं। पुरुषोत्तम एवं कालपुरुष एक ही महाशक्ति से आविर्भूत हुए हैं किन्तु दोनों का क्रियाक्षेत्र और कार्यकलाप भिन्न है। सृष्टि के पूर्व-काल में जब पुरुषोत्तम अर्थात् सत्यपुरुष का आविर्भाव होता है उसी समय कालपुरुष का भी आविर्भाव होता है। अखंड सत्ता खंडितवत्

होते समय सत्यपुरुष और कालपुरुष इन दो भागों में आत्मप्रकाश करती है। सत् एवं असत्, ज्योतिः एवं तमः, अमृत एवं मृत्यु, एक-शब्दमें—समस्त द्वन्द्व इन्हीं आपात-प्रतीयमान विरुद्ध तत्त्वों के विभिन्न प्रकाश हैं। खंडितवत् होते समय आत्मभिन्न जो अनात्म सत्ता अथवा जड़ सत्ता है उसका पहले स्फुरण होता है; इसको मूल अविद्या का आविर्भाव भी कह सकते हैं—इसी का नाम महाशून्य है। इस महाशून्य को आश्रयकर कालपुरुष ब्रह्मांडरूपी अपनी पुरी निर्माण करते हैं। पिंड और ब्रह्मांड, व्यष्टि व समष्टि रूप में, कालपुरुष के राज्य के ही अन्तर्गत हैं क्योंकि इन्हीं के भीतर काल का विचित्र खेल प्रकाशित होता है। मन, माया, पंचभूत और समस्त प्राकृत उपादान इसी कालपुरुष के राज्य में विद्यमान हैं। किन्तु सत्यपुरुष महाशून्यके अतीत हैं, इनके निर्मल चिदानन्दमय धाम में काल का प्रवेश नहीं, गुण की क्रिया नहीं, भूतों का संचार नहीं और किसी प्रकार का मल या पाप वहाँ दृष्ट नहीं होता। पुरुषोत्तम जैसे चिदानन्दमय हैं वैसे ही उनके धाम और परिकरादि भी अनन्त वैचित्र्यपूर्ण और चिदानन्दमय हैं। जीव अणु रूप में नित्य होते हुए भी इन्हीं पुरुषोत्तम का अंश है। सृष्टि के प्रारम्भ में, जीव की अनादि सुषुप्ति भंग हो जाने के पश्चात, जीव जब महाशक्ति की प्रेरणा से उद्‌बुद्ध होता है तब वह अपने स्वरूप और अपने परम उत्स को भूलकर, बहिर्मुख होकर, आत्मशोधन के लिए काल के अथवा महामाया के राज्य में निक्षिप्त होता है। यह परमपुरुष का ही मंगलमय विधान है। जीव बाह्यतः परमपुरुष से विच्छिन्न हो जाने पर भी वस्तुतः उनसे अलग नहीं होता। यद्यपि काल के राज्य में वह स्थूल, सूक्ष्म व कारण देह में आबद्ध है तो भी उसके हृदय के गुप्त अन्तस्तल में पुरुषोत्तम का आभास सूक्ष्म बीजरूप में निहित रहता है। यही अन्तर्स्थित चिदानन्दमय सत्ता काल के पूर्ण हो जाने पर जीव को पूर्ण पुरुषोत्तम की अनुभूति में समर्थ करती है। वस्तुतः पूर्ण पुरु-

षोत्तम जीव के आत्मोत्कर्ष का चरम आदर्श है। काल के राज्य में त्रिगुणों के अधीन होकर जीव अपने को जैसा समझने लगता है वस्तुतः वैसा नहीं है क्योंकि माया और अज्ञान का आवरण दूर हो जाने पर जीव अपने अन्तर्स्थित चिदानन्दमय स्वरूप को उपलब्ध करलेता है। बाह्य जगत् यद्यपि काल के राज्य में होने के कारण अविद्या से प्रभावित प्रतीत होता है तथापि यह सत्य है कि काल के राज्य में भी पुरुषोत्तम का निर्मल स्वरूप विद्यमान है। सुतरां जीव अपनी चेष्टा द्वारा एवं महाशक्ति की कृपा से निर्मल दृष्टि लाभ करने पर पुरुषोत्तम का अपरोक्ष दर्शन भीतर और बाहर लाभकर चरितार्थ होता है। पुरुषोत्तम निराकार परमतत्त्व के और तत्त्वातीत परमसत्य के भी साकार विग्रह हैं। सृष्टि के आदिकाल में एक तरफ़ जैसे आत्म-संकोच से 'अणु भाव' उदय होता है दूसरे तरफ़ उसका परिपूरक 'महान्' भाव भी उदय होता है। दोनों का आविर्भाव एक ही समय होता है। जीव स्वयं 'अणु' है, उसके आराध्य परम प्रीति के निदान पुरुषोत्तम 'महान्' हैं। दोनों ही चिद्रूप हैं। जीव अल्पज्ञ हैं, उसके उपास्य पुरुषोत्तम सर्वज्ञ हैं। जीव देश और काल द्वारा परिच्छिन्न है किन्तु उसके प्रेमास्पद पुरुषोत्तम साकार होते हुए भी देश और काल द्वारा अपरिच्छिन्न हैं। जीव जन्म से ही कामना वासना से जर्जर और चिर अतृप्त है किन्तु उसके आराध्य पुरुषोत्तम आप्तकाम, आत्माराम और नित्य-तृप्त हैं। जीव गुण और दोष का आधार है, उसका गुण भी दोष से मिश्रित है किन्तु पुरुषोत्तम अनन्त-कल्याणमय गुण के आधार हैं, उनमें दोष लेशमात्र भी नहीं एवं उनके अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण विशुद्ध और कल्याणप्रद है। जीव संसार में आकर पंचभूत एवं अनन्त प्रकार के भौतिक विषयों की आराधनाकर किंचित आनन्द लाभ करने की चेष्टा करता है किन्तु ठीक सफल-मनोरथ नहीं होता। क्योंकि विषयों के संस्पर्श से जो आनन्द लाभ होता है वह मलिन, अस्थायी एवं दुःख में समाप्त होनेवाला है।

नेत्र रूप के लिए लालायित हैं किन्तु चतुर्दश भुवन में भी ऐसा रूप नहीं जिसका दर्शनकर उसकी रूप-तृष्णा शान्त होसके। इसी प्रकार जीव की प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने रसास्वादन के लिए विषय की तरफ़ दौड़ती है किन्तु विषय के भीतर उसे ऐसा रस नहीं मिलता जिसको प्राप्तकर उसकी इन्द्रियों की रस-तृष्णा चिरकाल के लिए शान्त हो जाय। ऐसी स्थिति में ही पुरुषोत्तम की आराधना की सार्थकता सम्यक् रूप से समझ में आती है। पहले ही बताया जा चुका है कि पुरुषोत्तम निराकार के साकार विग्रह हैं। उनके रूप के एक कण की भी तुलना अनन्त विश्व में किसी के साथ नहीं की जासकती। उनके रूप का एक कण प्राप्त होजाने से कोटि कन्दर्प मोहित होजाते हैं। उनके रूप का दर्शन लाभ करने के लिए अपनी इन्द्रियों की सब मलिनता शुद्ध करनी होती है और अपने को भक्ति और प्रेम के अंजन से अनुरंजित करना होता है। तब उस दिव्य सामान्यतः अदृश्य रूप की अनन्त माधुरी की एक छटा आविर्भाव होती है। चकोर जैसे चन्द्र-किरण पान करता है उसी प्रकार जीव के नेत्र उस रूप-रस को पानकर अपनी सत्ता की सफलता अनुभव करते हैं। चक्षु रूप दर्शन के लिए रचे गये हैं यह सत्य है किन्तु जागतिक खंडित और मलिन रूप दर्शन के लिए नहीं। जैसे मधु का अभाव हो तो गुड़ से निर्वाह कर लिया जाता है वैसे ही अप्राकृत परम-रूप की आस्वादन शक्ति के अभाव से जीव जागतिक प्राकृत रूप से ही अपना काम चलाता है। लेकिन रूप-दर्शन की प्यास इससे नहीं मिटती। इसी तरह अन्य इन्द्रियों की स्वाभाविक आकांक्षा के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। एकमात्र पुरुषोत्तम को प्राप्त करने के अनंतर ही जीव की प्रत्येक इन्द्रिय चिरकाल के लिए तृप्ति लाभ करती है। यह अप्राकृत रूप-रस-आस्वादन का सौभाग्य लाभ होजाने पर प्राकृत रूप-रस फिर उसको आकर्षित नहीं कर सकता। साधना के प्रभाव से ऐसी भी अवस्था आजाती है जबकि प्राकृत रूप-रस जीव

की रागरंजित दृष्टि के सम्मुख अप्राकृत रूप-रस में परिणत होजाता है। यही आप्तकाम अवस्था है।

अवश्य यह इन्द्रियों के सम्बन्ध में कहा गया। इसी प्रकार जो गुण हमारे चित्त को आकर्षित करते हैं—जैसे, शील, औदार्य, गाम्भीर्य, प्रेम, दयालुता, क्षमा, वात्सल्य, आनुगत्य, प्रीति, सौहार्द्र, वीर्य, ओजः, प्रकाश—ये सब पुरुषोत्तम के स्वरूप में पूर्णतया चिर देदीप्यमान हैं। ये उनके स्वभावसिद्ध गुण हैं—ये कल्पना द्वारा उनमें आरोप किए जाते हैं। साधक में इन गुणों का किंचित प्रकाश होजाने से ही वह धन्य होजाता है। किन्तु वस्तुतः साधक का लक्ष्य परिच्छिन्न आदर्श नहीं है—परम पुरुष का विराट आदर्श है। इसलिए वह अल्प प्राप्ति से सन्तुष्ट नहीं होता। वह भूमन् को अपना करलेना चाहता है। पुरुषोत्तम ही भूमन्-पुरुष हैं। जब तक मनुष्य उनको प्राप्त न करले तब तक उसके हृदय की शून्यता चिरकाल के लिए विदूर नहीं होती। मनुष्य स्वयं जिनका अंश है उनके स्वरूप को क्रमशः आत्मविकास द्वारा पूर्णतया अनुभव किये बिना कैसे तृप्त होसकता है।

यह अनुभव सामान्यतः तीन प्रकार का होते हुए भी विशेषतः दो प्रकार का माना गया है। यह पहले ही बताया गया है कि पुरुषोत्तम निराकार ब्रह्म के साकार प्रकाश हैं। इसलिए साधक को भी निराकार ब्रह्मानुभूति की भित्ति पर इस साकार पुरुषोत्तम की अनुभूति को प्रतिष्ठित करना होगा। ऐसा न कर सकने से पुरुषोत्तम का अनुभव केवल माया का खेल प्रतीत होगा। ऊपर जो दो प्रकार का विशेष अनुभव बताया गया है उनमें एक अन्तर है और दूसरा बाह्य। अपने-अपने हृदयाकाश के अन्तस्तल में पुरुषोत्तम की जो चिदानन्द ज्योतिर्मय रूप में अनुभूति है वह आन्तरिक है क्योंकि वह एकाग्रीकृत और भक्तिरागरंजित अन्तर्मुख मन के द्वारा सम्पन्न होती है। इसीलिए इसको एकेन्द्रियवेद्य कहा गया है। इस अवस्था में उनका रूप, रस, शब्द, स्पर्श, गंध सभी

अनुभव किये जा सकते हैं और स्पष्टतया आस्वादन भी किये जा सकते हैं किन्तु मन के द्वारा हृदय के भीतर। उनका अपूर्व रूप दर्शन में आता है किन्तु बाह्य चक्षु से नहीं केवल अन्तर्मुख मन के द्वारा। उनका अपूर्व वाणी सुनी जाती है किन्तु बाह्य श्रोत्रेन्द्रिय से नहीं अन्तर्मुख मन के द्वारा। उनका रूप-रसादि प्रत्येक गुण आस्वादन होता है किन्तु अन्तर्मुख मन के द्वारा, बहिर्मुख इन्द्रियों से नहीं। यहाँ तक कि वार्त्तालाप भी की जा सकती है और प्रत्युत्तर में उनकी स्नेह-वाणी भी सुनी जा सकती है किन्तु यह भी एकमात्र मन के द्वारा ही सम्पन्न होती है क्योंकि यह सब भीतर का व्यापार है। परमात्मा-साधन की योगस्थ अवस्था में यह अनुभूति लाभ होती है। यह ब्रह्मानुभूति से विलक्षण है।

इसके पश्चात एक और विशेष अनुभूति है जो इससे श्रेष्ठ है। यह अनुभूति सब इन्द्रियों की सहायता से होती है। इस अनुभूति में पुरुषोत्तम का स्वरूप-दर्शन भीतर ही नहीं प्रत्युत बाहर भी होता है। नेत्र उनका रूप देखते हैं, कान उनका शब्द सुनते हैं, नासिका उनके अङ्ग की दिव्य गन्ध अनुभव करती है, रसेन्द्रिय उनका अमृत-रस आस्वादन करती है और सब अङ्ग उनका स्पर्श अनुभवकर पुलकित हो जाते हैं। इस अवस्था में वे सब इन्द्रियों के गोचर होकर बाहर प्रकाशित होते हैं और सब इन्द्रियों की चिरतृप्ति विधान करते हैं। अनादि काल से जीव के चक्षु इसी रूप के दर्शन के लिए तृष्णातुर थे। इसी रूप के दर्शन से अनादि तृष्णा चिर तृप्ति में विश्राम करती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। ज्ञान के पथ में ब्रह्मानुभूति से आत्मा की तृप्ति होती है, योग के पथ में परमात्मानुभूति से अन्तःकरण की तृप्ति होती है और भक्ति के पथ में भगवदनुभूति से बाह्येन्द्रियों की तृप्ति होती है और साथ-साथ देह शुद्ध होकर भावदेह रूप में परिणति लाभ करती है। इसका कारण यह है कि पुरुषोत्तम का स्फुरण बाहर होने से उसके अनुभवकर्त्ता साधक का भी तदनुरूप स्फुरण हो

जाता है। अर्थात् भावदेह में अधिष्ठित हो जाने से ही साधक भाव के ठाकुर अपने इष्टदेव को भक्ति-संस्कृत इन्द्रियों द्वारा बाहर आस्वाद कर लेता है।

योग के पथ में अन्तर के अन्तस्तल में पुरुषोत्तम का ज्योतिर्मय स्वरूप दर्शन होता है। तब योगी-साधक अपने मनोमय देह में यह अनुभूति लाभ कर लेता है। कारण, काया के अनुरूप भाव में ही भीतर अथवा बाहर पुरुषोत्तम का दर्शन सिद्ध होता है।

प्राकृत एवं अप्राकृत दोनों काया के अभिमान से मुक्तावस्था लाभ करने पर स्वयंप्रकाश ब्रह्म की अनुभूति होती है। यही पुरुषोत्तमानुभूति की भित्ति स्वरूप है।

पहले बताया गया है कि जीव अनादिकाल से काल के राज्य में विचरण कर रहा है। जब तक पुरुषोत्तम का पूर्णरूप में साक्षात्कार न हो तब तक काल से सम्बन्ध अनिवार्य है। पुरुषोत्तम का साक्षात्कार यदि पूर्णतया न होकर आंशिक हो तो काल से अव्याहति भी आंशिक ही होगी। काल का राज्य जैसा है ठीक वैसा ही रहता है। साधक अपने पुरुषोत्तम के दर्शन से उनके धाम में प्रवेश करने का सामर्थ्य लाभ करता है। जब प्रत्येक जीव साधक अवस्था प्राप्त कर इस प्रकार अपने अन्तर्निहित पुरुषोत्तम भाव को प्रस्फुटित कर सकेगा तभी यह काल का राज्य पूर्ण ब्रह्म-राज्य में परिणत होगा, इससे पहले नहीं। इसलिए पुरुषोत्तम भाव के साधक की आन्तरिक गम्भीर प्रार्थना एकमात्र इसी मंगलमय महालक्ष्य के लिए उठती है। परम पुरुष जैसे स्वयं स्वभावतः आप्तकाम होते हुए भी सब जगत् के कल्याण के लिए कर्म करते हैं वैसे ही परम पुरुष के भक्त-साधक, उन्हीं का आदर्श सामने रखकर, स्वयं आप्तकाम होकर, स्वयं पुरुषोत्तम को प्राप्त करके भी सब जीव जिससे उनको प्राप्त कर सकें इस विषय में चेष्टा करते हैं। यही महा करुणा है। अपने आप परमानन्द लाभकर जिससे तद्रूप परमानन्द

सब लाभ कर सकें इस विषय समग्र विश्व के मङ्गल के लिए वे व्याप्टत रहते हैं।"

भगवान, इष्ट और गुरु

"भगवान, इष्ट और गुरु के सम्बन्ध में साधक-सम्प्रदायों में विभिन्न मत प्रचलित हैं। इसी मतभेदानुसार साधकों के भावों में भी भेद पाया जाता है। जिससे इस विषय में सबके मन में एक स्पष्ट धारणा हो जाय इसलिए यहाँ इन तीन तत्त्वों के सम्बन्ध में दो एक बातें बताई जाती हैं।

भगवान चैतन्यमय आनन्दमय महासत्ता स्वरूप हैं। देश, काल अथवा निमित्त द्वारा सीमाबद्ध नहीं हैं। विश्वव्यापी एवं विश्वातीत हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार शक्ति का कार्य है। जीव उन्हीं का अंश है एवं उन्हीं से उद्भूत होकर माया के आवरण से आवृत होने के कारण अपने को उनसे पृथक् समझता है। माया का आवरण अपसारित हो जाने से ही यह भेदभाव दूर हो जाता है और जीव भगवान के साथ अपना एकत्व अनुभव करने में समर्थ होता है। माया भी वस्तुतः कोई पृथक् वस्तु नहीं है। यह भी श्रीभगवान के आत्मस्वरूप की आवरणकारिणी और जगत् की सृष्टि-स्थिति-संहार-विधायिनी शक्ति है।

इष्ट अथवा इष्टदेवता नित्यसिद्ध सर्वव्यापी भगवत्सत्ता के ही आंशिक प्रकाश हैं। आंशिक प्रकाश होने पर भी इष्ट की सत्ता भगवत्सत्ता से सम्पूर्णतः अभिन्न है। साधक-जीव का मायावरण जिस परिमाण में विदूरित होता है ठीक उसी परिमाण में इष्ट को भगवत्-स्वरूप भाव में ग्रहण करने का सामर्थ्य लाभ होता है। जो इच्छा अथवा अभिलाषा का विषयीभूत है उसी का नाम है इष्ट। मनुष्य आनन्द भिन्न और किसी वस्तु की साक्षात् रूप में कामना नहीं करता। दुःखजर्जरित, अनन्त प्रकार की तीव्र व्यथाओं और वेदनाओं से क्लिष्ट तथा विविध

लांछनाओं से लांछित मानव-हृदय स्वभावतः ही आनन्द के लिए लालायित होता है। वह जिस अवस्था में है वह दुःख-बहुल अनिष्ट संसार-मरुभूमि है। इस अनिष्ट में जो करुणा-परवश होकर इष्ट का प्रदर्शन अथवा इष्ट-प्राप्ति का संधान दान करते हैं उन्हीं का नाम 'गुरु' है।

पहले बताया गया कि इष्ट आनन्द का ही नामान्तर है। यह आनन्द स्वरूपतः भगवान के आनन्द से पृथक् न होते हुए भी दुःख-क्लिष्ट साधक के भावानुसार नाना प्रकार का होता है। इसीकारण आनन्द एक होते हुए भी उसकी प्रकाशमय मूर्ति अनेक रूप धारण करती है। सुनिपुण चिकित्सक जैसे प्रत्येक रोगी के लिए उसके रोगानुसार योग्य औषधि की व्यवस्था करता है ठीक उसी प्रकार गुरु ताप-क्लिष्ट जीव को उसकी रुचि, प्रकृति तथा संस्कारानुसार अनुरूप इष्ट प्रदान करते हैं। यद्यपि इष्ट मूल में एक ही है एवं सब ही इष्ट उन्हीं परम-इष्ट श्रीभगवान अथवा परमात्मा के अंशस्वरूप हैं तथापि भाव के वैचित्र्यानुसार इस प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ती है। इष्ट का साधनकर अर्थात् अपनी प्रकृत्यानुसार व्यक्तिगत आदर्श का अनुसरण-कर सिद्धिलाभ के पश्चात्, साधक अभाव से अथवा प्राकृतिक दुःख-क्लेश से मुक्ति लाभ करता है। तब साधक इष्टबल से बलिष्ठ होकर भगवान का पूर्णस्वरूप धारण करने के लिए साधन पथ पर अग्रसर होता है। जब तक इष्टसिद्धि प्राप्त न हो तब तक साधक दुर्बल एवं हीनवीर्य रहता है किन्तु इष्टलाभ के पश्चात् साधक की शक्ति और आनन्द पूर्ण विकास प्राप्त करते हैं। उस समय भगवान को पूर्णतया धारण करने की योग्यता उत्पन्न होती है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि इष्ट अंशस्वरूप हैं और भगवान अंशिस्वरूप हैं किन्तु वस्तुतः भगवत्-स्वरूप गुरु का ही तात्विक रूप है क्योंकि गुरु श्रीभगवान से अभिन्न हैं। भगवान जैसे आनन्द अथवा

इष्टरूप में उसके निकट आविर्भूत होते हैं साधक भी आनन्द प्राप्तकर जिस मूलप्रस्रवण से वह आनन्द निःसृत हुआ है उन्हीं गुरुरूपी भगवत्-स्वरूप को धारण करने की चेष्टा करता है। आनन्दलाभ के पूर्व इन महाचैतन्यरूपी गुरु का संधान पाना दुर्घट है। कारण पहले गुरु का जो स्वरूप देखने में आता है वह आनन्द से संश्लिष्ट होता है किन्तु आनन्द प्राप्ति के पश्चात् गुरु का परम रूप जो आनन्द के भी अतीत है साधक को दृष्टिगोचर होता है। गुरु का गुरुभाव तभी उसको हृदयंगम होता है और तभी वह अपने आप को लघु समझ पाता है। उसका समस्त अहंकार चूर्ण हो जाता है और विशुद्ध आनन्द भोग करने की वासना भी चिरकाल के लिए उन्मूलित हो जाती है। यही उसके आत्मसमर्पण की अवस्था है। साधक-शिष्य इस प्रकार गुरु को महान एवं अपने को अणु बोधकर जब श्रीगुरु के चरणों में अपने आप को अकातर भाव से अर्पण करता है और स्वयं सम्पूर्णतः रिक्त होजाता है तब वे 'महतो महीयान्' गुरु भी अपने को साधक के निकट निःशेषतः अर्पण करते हैं जिसके फलस्वरूप वह रिक्तस्थान पूर्ण होकर प्रस्फुटित हो उठता है। एक तरफ़ साधक-शिष्य के एवं दूसरी तरफ़ गुरु के आत्मसमर्पण के फलस्वरूप एक अखंड स्वयंप्रकाश आत्मा स्वतः उज्ज्वल रूप में जाग उठती है। उस समय गुरु शिष्य का भेद नहीं रहजाता। तब एकमात्र आत्मा ही अपनी महिमा में विराज करत है। तभी समझ में आता है कि जो भगवान हैं, वे ही इष्ट हैं, वे ही गुरु हैं और वही अपनी आत्मा है। परोक्ष ज्ञान की अवस्था में भगवान समझकर जिनको बहुत दूर स्थापन किया था आत्मदर्शन के पश्चात् उनको निकट से भी निकटतर रूप में, अपने आत्मस्वरूप में, उपलब्ध करलिया। यहीं साधक की साधना की परिसमाप्ति है।

पहले, गुरु साधक को इष्ट दानकर दुःख के भीतर उसको नित्या-नन्द का सन्धान प्रदान करते हैं। तत्पश्चात् शिष्य की योग्यता वृद्धि

के फलस्वरूप गुरु के परम अनुग्रह से भगवत्-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। वास्तव में यही गुरु का साक्षात्कार है। इसके अनन्तर एक ओर गुरुभाव अथवा भगवद्भाव कट जाता है और दूसरी ओर जीव-भाव भी जाता रहता है। उस समय एकमात्र अद्वैत परमात्मतत्त्व की ही स्फूर्त्ति रहजाती है। तब भक्त-जीव, आराध्य-भगवान, मध्यवर्ती इष्ट एवं पथ-प्रदर्शक गुरु सभी अखण्ड ऐक्यसूत्र में ग्रथित दिखाई देते हैं। इस अवस्था में कर्त्तव्य रूप में कुछ नहीं रहजाता। तब जो कुछ स्फुरित होता है उसको स्वभाव की लीला समझना चाहिए"।

गुरुतत्त्व

'गिरति अज्ञानं इति गुरुः'—जो अज्ञानरूपी अन्धकार दूर करते हैं वे गुरु हैं। कोई-कोई कहते हैं 'गु' शब्द का अर्थ है अन्धकार, 'रु' का अर्थ है आलोक। जो अन्धकार से आलोक में लेजाते हैं, जो अन्ध को दिव्य दृष्टि दानकर—स्वरूप-विस्मृत को आत्मस्वरूप दिखा-कर—उसको स्वरूप में स्थिति लाभ करने की योग्यता दान करते हैं, जो स्वभाव के पथ पर प्रवृत्त करदेते हैं, जो साधक के भीतर का स्रोत उसको धारण करादेते हैं अर्थात् जो साधक को स्रोतापन्न करदेते हैं, जो अवान्तर धारा को परित्यागकर स्वाभाविक धारा में प्रतिष्ठित कर-देते हैं, जो प्रज्ञानेत्र खोल देते हैं—वे ही गुरु हैं। इस प्रसङ्ग में यह श्लोक तुलनीय है :—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

गुरु शिष्य के चित्त को शुद्ध और शान्तकर उसको विशुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करते हैं। शिष्य सत्-शक्ति प्रधान है, गुरु चित्-शक्ति प्रधान हैं, इष्ट आनन्द-शक्ति प्रधान हैं; भगवान् में सत्ता, चैतन्य और आनन्द का अपूर्व समन्वय है। गुरु का प्रकृत स्वरूप

तत्त्वातीत है। गुरु भगवान् की चित्-विभूति हैं। मुख्य गुरु चैतन्यमय ईश्वर हैं। ईश्वर की अनन्त शक्तियों में अनुग्रहशक्ति ही गुरु हैं। अतः गुरु कृपाशक्तियुक्त श्रीभगवान् हैं। गुरु वे हैं जो नीचे उतरकर बद्धजीव के ग्रहणयोग्य होते हैं, उसको आकर्षित करते हैं, धाम में लेजाते हैं, उसकी पूर्वस्मृति जगाकर उसको स्वरूप-प्रतिष्ठित करते हैं। गुरु का मुख्य कार्य है पतित का उद्धार अर्थात् शिष्य को ज्ञान दानकर घर के लड़के को अपने घर वापस पहुँचा देना।

जहाँ कहा गया है 'मद्गुरुः श्रीजगद्गुरुः', उसका तात्पर्य यह है कि जगत् में जो भी प्रकृत ज्ञान प्रचार कर गये हैं वे सभी गुरु हैं। सब सम्प्रदाय गुरु की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

साक्षात् परमेश्वर ही सद्गुरु हैं अथवा उनके अनुग्रहप्राप्त तत्त्व-धर्मापन्न जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुष गुरु हैं। भगवान् ही आचार्यदेह में अधिष्ठित हुए सब बन्धन छिन्नकर मोक्षदान करते हैं। वे एकाधार में ज्ञानी और योगी हैं। वे जीव का पशुत्व दूरकर उसको सर्वज्ञत्व, सर्व-कर्तृत्व और शिवत्व तक दान करसकते हैं। गुरु में शिष्य को उद्धार करने का सामर्थ्य होना चाहिए। इसीलिए कहा है :—

इष्टदेव-स्वरूपो यः सच्चिदानन्दविग्रहः।
शुद्धो बुद्धः प्रमुक्तश्च गुरुरादर्शमानवः॥

शक्ति नाम की भगवदिच्छा की प्रेरणा से सद्गुरु लाभ करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। सद्गुरु प्राप्ति का मूल कारण है भगव-दिच्छा। शिष्य का स्वभाव ही भगवत्-कृपा आकर्षण करलेता है— "शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणम्"।

मन्त्रदान—साधक का काम है भगवत्-इच्छा के आगे आत्म-समर्पण करना; गुरु ऐसा पुरुष होना चाहिए जो जानता हो कि हमारे जीवन में भगवदिच्छा क्या है। शिष्य का काम है गुरु की इच्छा के आगे आत्मसमर्पण करना। गुरु का काम है शिष्य के जन्मजन्मा-

न्तरीण संस्कार, माता-पिता का सम्पूर्ण इतिहास और शिष्य के पूर्व-जन्म के समस्त परिचय से अवगत होकर शिष्य का कर्मपथ निर्णय कर देना और जिससे उसके जीवन में भगवदिच्छा पूर्ण सफलता लाभ कर सके उस विषय चेष्टा करना। गुरुदत्त (मन्त्र) बीज में ये सब तत्त्व निहित रहते हैं। शिष्य का काम है उस बीज से एक पूर्ण परिणत वृक्ष उत्पन्न करना। गुरु को शिष्य का सब भार लेना होता है। दीक्षा का अभिप्राय है भगवत्-कृपा लाभ की प्रणाली दिखा देना। जिससे प्रसुप्त चैतन्य जागरित हों उसी का नाम दीक्षा है। गुरु शिष्य को दिव्यदेह—सिद्धदेह—दान करते हैं; गुरु इष्टलाभ में सहायक होते हैं; इष्ट-देवता उन्हीं के स्फुरण हैं। इष्टतत्त्व की अपेक्षा भी गुरुतत्त्व की प्रधानता है। इष्ट केवल चिन्मय हैं किन्तु गुरु चिन्मय और क्रियामय दोनों हैं। गुरु ही स्वरूपप्रतिष्ठकरके शिष्य की इष्टप्राप्ति में सहायक होते हैं।

हमारी साधना—हमको भगवान् जैसे चलाना चाहते हैं, हमारे भीतर भगवदिच्छा जिस प्रकार पूर्ण सफलता लाभ करे, जिससे हम भगवान् से तन्मयता लाभकर उनकी इच्छापूर्णता में केवल निमित्त कारण होसकें यही हमारी साधना है। मैं भगवदिच्छा नहीं जानता किन्तु जो उसको जानते हैं और मुझको समझाकर भगवदिच्छा पूरण करने का इच्छुक और समर्थ करसकते हैं वे ही मेरे गुरु हैं। अतएव गुरु को आत्मसमर्पण का अर्थ है भगवान् को आत्मसमर्पण करना। गुरु ऐसा होना चाहिए जो अपने स्वार्थ के लिए भगवदिच्छा को विकृत न करें।

तन्त्र शास्त्र में चार गुरुओं का उल्लेख पाया जाता है :—(१) गुरु (उपदेष्टृगण), (२) परम गुरु (मन्त्रद्रष्टा ऋषि), (३ मन्त्र-शक्ति (जिससे मन्त्र अभिव्यक्त होता है), (४) अनादिनाथ महाकाल (गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु, परात्पर-गरु)। स्मरण रहे कि सद्गुरु पृथ्वी पर

दुर्लभ है। अनधिकारी, व्यवसायी, कपटी, स्वार्थपर गुरुओं के कारण ही भारतवर्ष आज इस दुर्दशा में पहुँच गया है। इसलिए सर्वसाधारण को प्रकृत गुरु का स्वरूप समझा देना होगा। गुरु होना चाहिए इष्ट पुरुषोत्तम की मूर्त्ति—संयत, शुद्ध, निर्लोभी, आत्मदर्शी, ज्ञानी तथा आदर्श नेता। इष्ट होना चाहिए पुरुषोत्तम (Perfect in every Perfection)—ससीम देह में असीम का पूर्ण प्रकाश (Purer than Purity itself)। भगवान् के सम्बन्ध में समस्त विकृत धारणा दूरकर उनका प्रकृत स्वरूप यथासम्भव सुन्दर रूप में संसार के सामने रखना होगा।

इष्टतत्त्व

जो इच्छा का विषय है, जिसको प्राप्त करने की मनुष्य इच्छा करता है उसी का नाम इष्ट है। इष्ट की प्राप्ति साधन-भजन का ही नहीं प्रत्युत जीवन का भी लक्ष्य है। जिसके द्वारा साक्षात् अथवा परोक्ष रूप से इष्ट की प्राप्ति में बाधा पड़े—जिसको मनुष्य परिहार करने की चेष्टा करता है, उसी को अनिष्ट कहते हैं। अतएव 'इष्ट' का अर्थ है अभिलषित अथवा प्रार्थित विषय। इष्ट वरणीय, लोभनीय और स्पृहनीय वस्तु है। आत्मा का स्वरूप आनन्द है, आत्मा के लिए ही आनन्द है; मेरे लिए ही तो सब है, मैं न होऊँ तो आनन्द कौन करेगा? "आत्मार्थं सर्वं प्रियं भवति"। आत्मा सच्चिदानन्द है इसीलिए हम जीवित रहना चाहते हैं, जानना चाहते हैं, आनन्द करना चाहते हैं।

यद्दृष्ट्वा नापरं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः।
यज्ज्ञात्वा नापरं ज्ञेयं तदिष्टमवधारय॥

(जिसको देखकर और कुछ देखने को बाक़ी नहीं रहता, जो होजाने पर और कुछ होना बाक़ी नहीं रहता, जिसको जानकर और

कुछ जानना बाक़ी नहीं रहता ऐसे इष्ट की निश्चयकरके धारणा करनी चाहिए।)

परमात्मा ही परम इष्ट वस्तु हैं। वे गम्भीरता में भी परम हैं (परम in intensity) एवं व्यापकता में भी परम (परम in extensity) हैं। अर्थात् वे अनन्त हैं उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ सार वस्तु कोई नहीं है और वे ब्रह्म--सर्वव्यापी--हैं। ऋषियों ने गहरी डुबकी लगाकर नेति नेति साधन द्वारा उनकी गम्भीरता उपलब्ध की और उनको सर्वव्यापी कहकर घोषण किया। ये परमात्मा ही हमारे परम इष्ट वस्तु हैं। वे एक अखंड अद्वय तत्त्व हैं। जीव-जगत् उनकी उपाधि हैं। वे जीव-जगत् वेष से आवृत हैं। इसी आवरण के कारण हम अखंड को खंडित समझते हैं। अज्ञान की आवरणशक्ति ने उनको ढक रखा है और विक्षेपशक्ति ने उनको अनन्त देहादिरूप में कल्पना कर, जीव को देहादि में आबद्ध कर, देहात्म-बुद्धि दान करदी है।

सच्चिदानन्द वस्तुतः एक वस्तु होते हुए भी हम सत्ता, चैतन्य और आनन्द को त्रिधा विभक्त भाव में अनुभव करने के लिए बाध्य हो गए हैं। सदंशप्रधान भाव में वे विशुद्ध सत्ता हैं, चिदंशप्रधान भाव में वे स्रष्टा और भोक्ता हैं और आनन्दांशप्रधान भाव में वे भोग्य, दृश्य, इष्टरूप बने बैठे हैं। शिष्य सत्-प्रधान, गुरु चित्-प्रधान, इष्ट आनन्द-प्रधान हैं और भगवान सत्ता-चैतन्य-आनन्द के अपूर्व समन्वय हैं।

शिष्य एक देहावच्छिन्न जीव है, उसके भीतर भगवत्-कृपा से देहादि की आसक्ति कम होकर प्रकृत 'मैं' के संधान की प्रवृत्ति उत्पन्न होगई है। तब गुरु उसके कामना, वासना, अहंकार, निजसुखस्पृहादि दूरकर उसको प्रकृत द्रष्टास्वरूप में लेजाने की चेष्टा करते हैं। उसके भीतर की आगन्तुक मलिनता दूरकर, उसके चित्त को शून्य में परिणत-कर, उसको विशुद्ध सत्ता स्वरूप में स्थित करने का प्रयत्न करते हैं और

जिससे उसके भीतर आत्मतत्त्व का स्फुरण आरम्भ हो इस विषय सचेष्ट रहते हैं। उसके ज्ञाननेत्र खोलकर उसको प्रकृत द्रष्टा बना देते हैं। तब शिष्य अपने देह में आत्मा को प्राप्तकर आत्मभाव में ऐसा विभोर होजाता है कि 'ध्रुव की भाँति इस भय से कि कहीं यह भाव जाता न रहे' उसकी आँख खोलने की इच्छा नहीं होती। किन्तु जो वस्तु सर्व-गत है उसको केवल अपने भीतर प्राप्त करने से पूर्ण रूप में प्राप्त करना नहीं होता—उसका सर्वत्रदर्शन करना होगा, सर्वत्र उपलब्ध करना होगा। इतने दिन जो शरीर से प्रीति करता था उसका हेतु न जानने के कारण देहादि में आसक्त होगया था। सद्गुरु की कृपा से अब उसे मालूम होगया कि उसकी देह के भीतर उसका प्रियतम आत्मा है। इसीलिए अज्ञातरूप से वह उसको देहप्रीति रूप में अनुभव होता था। और आत्मा का स्वरूप सर्वव्यापी होने के कारण जिसके भीतर वह अपने आत्मा को जितना अधिक अनुभव करता था उतना ही वह व्यक्ति उसको अधिक आत्मीय मालूम होता था अर्थात् उतनी ही वह उससे अधिक प्रीति करता था। अब गुरु ने आत्मा के संधान का कौशल उसको बता दिया, फलतः 'यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्' होने लगा। अब धीरे-धीरे सब पदार्थ उसको प्रिय मालूम होने लगे—सब पदार्थ उसके प्रिय इष्टरूप में प्रतीयमान होगये। कालान्तर में जब सब पदार्थ उसको अपने आत्मा की विभूतिरूप में अनुभव होने लगे तब उसके भीतर इष्टतत्त्व का स्फुरण आरम्भ हुआ जिसने क्रमशः आकृति लाभ की। वह मूर्त्ति चंडी के 'अशेषदेवगण-समूह-मूर्त्ति, एकैकस्थां नारीमूर्ति' के समान होगई। वह मूर्ति एका-धार में उसकी समस्त इन्द्रियों तथा आत्मा की पूर्ण तृप्ति विधान करने लगी। वह मूर्त्ति समस्त रूपों की चरम परिणति होगई। तब सब रूपों की चरम परिणति आरम्भ हुई और सब रूपों में उनका दर्शन होने-लगा। "कृष्णमयी कृष्ण जार अन्तरे बाहिरे, जाहाँ जाहाँ नेत्र पड़े ताहाँ

कृष्ण स्फुरे ।" 'जित देखौं तित श्याममयी है ।' समस्त इन्द्रियाँ तथा आत्मा उनके सौन्दर्य-माधुर्य के सागर में डूबगये ।

इस अवस्था में भूत की ओर दृष्टि की तो भूत, चित्त की कल्पना मुक्त होने के कारण, शुद्धसत्व में परिणत दिखाई दिया । चित्त की ओर देखा तो चित्त, भूत की कामना-वासना से मुक्त होजाने के कारण, शुद्धचित्स्वरूप में परिणत प्रतीत हुआ । सभी पदार्थ स्वरूप-प्रतिष्ठ, ब्रह्मभावापन्न, प्रतीत होने लगे ।

सद्गुरु जब साधक का दिव्य दर्शन खोल देते हैं तब वह सब दृश्यों में आत्मा तक देखने लगता है । अतएव जिनको उसने इष्टरूप में भीतर देखा था उनका बाहर सर्वत्र दर्शनकर साधक स्वयं इष्टमय होजाता है । इष्ट का यह सर्वव्यापी भाव ही भगवद्-भाव है ।

ऊपर से नीचे उतरते समय—अवरोहण के समय (सृष्टि के समय)—पहले भगवान, पीछे इष्ट और अन्त में गुरु रहते हैं । परन्तु ऊपर जाते समय—आरोहण के समय (लय के समय)—पहले गुरु, पीछे इष्ट और सर्वशेष में भगवान रहते हैं । अतः साधनराज्य का आश्रय गुरु हैं किन्तु यह गुरु सद्गुरु होना चाहिए ।

इष्ट एक ऐसी वस्तु होना चाहिए जिसके द्वारा हमारी समस्त इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा आत्मा तक की पूर्ण तृप्ति साधित होसके-- जिनको जानकर और कुछ जानना बाक़ी न रहे, जिनको प्राप्तकर और कुछ प्राप्त करने को बाक़ी न रहे और जिनके अनुकूल होजाने पर और कुछ होने को भी बाक़ी न रहे । पुरुषोत्तम ही ये इष्ट हैं---ऋषिगण पुरुषोत्तम की इसी प्रकार वर्णना करगये हैं । इस इष्ट का दर्शन होजाने पर और कुछ भी देखने की इच्छा नहीं रहती यद्यपि इस देखने की पूर्णता समय और साधना पर निर्भर करती है । जितना ही मिले उतनी ही प्राप्ति की इच्छा बढ़ती है और प्रतिदिन नवीन मालूम होता है । परम विरह की अवस्था में भी इष्ट के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा

नहीं होती। उनके विरह में मृत्यु को भी उल्लासपूर्वक आलिंगन किया जासकता है। चातक क्या मेघ-जल के अतिरिक्त अन्य जल पान करसकता है।

इष्ट ऐसे रूप और गुण से विभूषित होकर आते हैं कि साधक की बाह्येन्द्रिय, अन्तरिन्द्रिय तथा आत्मप्रकृति तक पूर्णतृप्ति लाभ कर लेती हैं। उनके प्रत्येक अङ्ग में समस्त अङ्गों के सब तत्त्व पूर्णतया विराजित रहते हैं। उनका दर्शन मिलने पर किसी इन्द्रिय को पूर्ण तृप्ति लाभ करने के लिए अन्य किसी वस्तु के निकट जाने की आवश्यकता नहीं होती। ये इष्ट अपने अलौकिक गुण और महिमा द्वारा साधक के चित्त को पूर्णतया आकर्षित कर पूर्ण तृप्ति दान करने में समर्थ हैं। ये इष्ट हैं परमात्मभावापन्न पुरुषोत्तम। समस्त वस्तुओं के भीतर जो भाव गम्भीरता और व्यापकता में परम है अर्थात् जो चरम सारतत्त्व पूर्णानन्दस्वरूप हैं, उसको व्यापकता में परम कर—सब भूतों में अनुभवकर—सब भूतों के समष्टिगत सारतत्त्व द्वारा इस इष्ट मूर्त्ति को गठन करना होगा। स्मरण रहे कि इष्ट-गठन का अभिप्राय है इष्ट की धारणा करना। सब इन्द्रियों को पूर्ण परिणति दान करना ही साधन-भजन का उद्देश्य है अर्थात् पूर्णत्व की यथासम्भव धारणा करना और उसकी उपलब्धि के लिए समस्त इन्द्रियों को विशुद्ध तथा पूर्ण परिणत करना। इस हेतु साधक की अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति इस प्रकार सृष्टि हुई हैं कि उनमें इष्ट वस्तु को पूर्णतया प्राप्त करने की—आस्वाद करने की—योग्यता निहित है। समस्त इन्द्रियों की पूर्ण परिणति लाभ होने के फलस्वरूप साधक की सब इन्द्रियों के भीतर दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्यदर्शन, आदि की शक्ति आविर्भूत होती है। तभी साधक इष्ट तत्त्व को पूर्णतया प्राप्त करने में समर्थ होता है। सब इन्द्रियों की इस प्रकार पूर्ण परिणति लाभ करना ही समस्त साधन-भजन का उद्देश्य है।

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होगा कि इष्ट का गठन अर्थात् इष्ट को आकृति दान करना एवं इष्टोपलब्धि की योग्यता लाभ करना ही साधनभजन का प्रकृत उद्देश्य है। इष्ट जब हमारे निकट जीव-जगत् रूप में उपस्थित हैं तब जीव-जगत् के भीतर से ही हमें इष्ट के निकट जाना होगा अर्थात् जीव-जगत् को अवलम्बनकर के इष्ट को ग्रहण करना होगा। साधक जिससे इष्ट की धारणा कर सके इसीलिये इष्टदेव अनन्त हैं—साधकों के लिए ही उन्होंने अनन्त रूप धारण किये हैं। उनके रूप और गुण तथा उनकी सत्ता, चैतन्य और आनन्द जगत् के अनन्त स्तरों में विन्यस्त हैं। इष्ट को पूर्णतया गठन करने के लिए आवश्यकता है विस्तृत भावों को एकैकस्थ करने की, व्यष्टि को समष्टि में मिला देने की अर्थात् अंश को पूर्णता दान करने की। इस प्रसङ्ग में चण्डी का शक्तिचयन तत्त्व चिन्तनीय है। इसी अवस्था में शंकर ने कहा है, "यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्"। जिस वस्तु की ओर मन जाय उसी वस्तु को पूर्णता दानकर उसी के भीतर ब्रह्मानुभव करने की चेष्टा करनी चाहिए; वह वस्तु किसका अवतार है, किसको प्रकाश कर रही है—यह अनुभवकर उसको पूर्णतया प्रस्फुटितकर ब्रह्मरूप में दर्शन करना चाहिए। वैष्णवों का भी यही कथन है—"जाहाँ जाहाँ नेत्र पड़े ताहाँ कृष्ण स्फुरे" 'जित देखौं तित श्याममयी है'। समस्त जीव-जगत् कृष्ण का विकास, कृष्ण की ही विभूति है। साधन द्वारा ग्रहण योग्यता लाभकर अप्राकृत इन्द्रियों की सहायता से सब भूतों में कृष्ण-दर्शन लाभ करना होगा। सब वस्तुओं को भगवत्-विभूतिरूप में उपलब्धकर, सबको पूर्णतया विकसितकर, सर्वत्र पूर्णस्वरूप में सत्ता, चैतन्य और आनन्द आस्वाद करने के फलस्वरूप श्रीभगवान का समष्टिगत भगवद्भाव उपलब्ध कर जो समष्टिगत चिन्मयरूप प्रस्तुत होगा वही इष्टविग्रह है। "एकस्थं तदभून्नारी व्याप्तलोकत्रयं त्विषा"।

भगवान्

इष्टतत्त्व के विवेचन में बताया गया कि इष्टतत्त्व (पुरुषोत्तम) असीम का ससीम भाव है अर्थात् सीमाबद्ध देह में असीम की घनीभूत मूर्त्ति है। साधना के परिणामस्वरूप जब यह इष्टतत्त्व सर्वभूत में उपलब्ध होकर असीमत्व में पुनः प्रतिष्ठा लाभ करता है तब साधक को भगवत्तत्त्व आस्वादन की योग्यता प्राप्त होती है। तभी इष्टतत्त्व भगव-त्तत्त्व में पर्यवसित होता है।

मान लीजिए कि चरम सारतत्त्व लीला के निमित्त, एक माया की चादर ओढ़कर, अपने स्वरूप को ढककर, जीव-जगत् रूप में परिणत अथवा विवर्त्तित होगये। फलतः हम केवल जीव-जगत् ही देख पाते हैं। तो भी जीव-जगत् के भीतर छिपे हुए जगन्नाथ की आनन्द विभूति थोड़ी-थोड़ी प्रकाश होती है। हम इसी खण्डित आनन्द में आसक्त होजाते हैं और आनन्द खोजते-खोजते मरजाते हैं। आनन्द की खोज में जब किसी ऐसे पुरुष का सन्धान मिलता है जिसका माया-वरण स्वच्छ होजाने के कारण भीतर के छिपे हुए सच्चिदानन्द की ज्योति बाहर कुछ प्रकाशित होती है तब हम उसकी तरफ़ आकृष्ट होते हैं। ये ही सद्गुरु हैं। तत्पश्चात् उनके प्रदर्शित पंथ पर चलते-चलते जब गुरुतत्त्व का स्वच्छ आवरण भी दूर होजाता है तब वे ही इष्ट होजाते हैं। इष्ट सीमाबद्ध आवरण-मुक्त ससीम देह में असीम का प्रकाश हैं। इसके अनन्तर, साधना के प्रभाव से एवं भगवत्कृपा से जब हमारा आवरण बिलकुल दूर होजाता है तब उसी चरमतत्त्व को आवरणमुक्त भाव में उपलब्ध करलेते हैं। तभी समझ में आता है कि वास्तव में वे आवृत नहीं होते, हम ही मायावरण से आवृत थे—माया की विक्षेप शक्ति के प्रभाव से विभ्रान्त थे। भगवान् सर्वव्यापी हैं—वे सब जीवों में हैं। गुरु में उनके सात्त्विक आवरण के भीतर

का प्रकाश था, इष्ट तत्त्व में वे आवरणमुक्त होकर किन्तु ससीम भाव में प्रकाशित हुए और भगवत्तत्त्व में पहुँचकर उनके असीम सर्वव्यापी भाव को उपलब्ध कर लिया। अर्थात् गुरु के भीतर उनको स्वच्छा-वरण से आवृत रूप में उपलब्ध किया, इष्ट के भीतर उनके आवरण-मुक्त ससीम प्रकाश को प्राप्त किया और भगवान में उनके आवरणमुक्त असीम स्वरूप को अनुभव किया।

भगवत्-कृपा से शिष्य का चित्त शुद्ध होजाने के फलस्वरूप वह सत्-शक्तिप्रधान होगया। उसके भीतर गुरु की चित्-शक्ति आविर्भूत होजाने के पश्चात् उसके ज्ञाननेत्र खुल गये और वह गुरु के समान चित्-शक्ति-प्रधान होगया। इसके बाद अपने भीतर भगवान् की आनन्द-शक्ति का स्फुरण उपलब्ध करने के फलस्वरूप उसने इष्ट की आनन्द-शक्ति उपलब्ध करने की योग्यता लाभ की। अन्त में साधनो-त्कर्ष के परिणामस्वरूप वह इष्ट में ससीम भाव त्यागकर, असीम के स्फुरण के फलस्वरूप सर्वत्र इष्ट दर्शनकर, समस्त जीव-जगत् को इष्टमय उपलब्ध करलेने के कारण इष्टतत्त्व के द्वारा भगवत्तत्त्व में पर्यवसित होगया।

ऋषि-छन्द-देवता-विनियोग

'ऋषि'—(ऋष् = अपरोक्षदर्शन) जिनका अपरोक्ष दर्शन खुल गया है वे ऋषि हैं। भगवान् अनन्त हैं और उनके सृष्ट पदार्थ भी अनन्त हैं। जीव असंख्य हैं, जीव के जीवन के लक्ष्य भी असंख्य हैं और उस लक्ष्य सिद्धि के उपाय भी असंख्य हैं। भिन्न-भिन्न उद्देश्य-सिद्धि की साधन-प्रणाली विभिन्न हैं। जिस साधक ने जिस उद्देश्य से जिस साधन-प्रणाली द्वारा सिद्धि लाभ की है वह उस निर्दिष्ट तत्त्व का, उस निर्दिष्ट साधन प्रणाली का, ऋषि है। "ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः स्मारका न तु कारकाः"।

वेद नित्य अपौरुषेय हैं। वेद भगवान् की चिद्विभूति हैं। ऋषिगण उनके स्रष्टा नहीं हैं। उन्होंने साधना के प्रभाव से चित्त शुद्धकर प्रकृति के कलेवर में भगवान् के हाथ से लिखे वेद दर्शन किये। वे मन्त्र के सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं—द्रष्टा अथवा स्मारक मात्र हैं।

तत्त्व नित्य है, प्रकृति का विधान भी नित्य है। जिस विधान द्वारा जो तत्त्व साक्षात्कार होता है वह प्रणाली भी नित्य है। ऋषियों ने साधन-बल द्वारा मन्त्रसाधन-प्रणाली केवल आविष्कार की—वे मन्त्र के सृष्टिकर्त्ता नहीं हैं।

'छन्द'—जिस प्रणाली द्वारा जिस छन्द से जिस भाव का कम्पन उत्पन्नकर उद्देश्य सिद्ध होता है, वह छन्द उस निर्दिष्ट साधन-प्रणाली का छन्द है।

'देवता'—देवता शब्द द्योतनार्थक व क्रीड़ार्थक 'दिव्' धातु से साधित होता है। प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों में, विभिन्न स्तरों में, चैतन्य-परमात्मा किस प्रकार प्रकाशित और लीलारत हैं, यह देवता-तत्त्व के अन्तर्गत है। भगवत्-चैतन्य के विभिन्न प्रतिबिम्ब अथवा विभूति—विभिन्न भाव के लीलाभाव—का नाम देवतातत्त्व है।

'विनियोग'—कौन साधना किस भाव से अनुष्ठित हुई और उससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ, यह विनियोग-तत्त्व के अन्तर्गत है।

पहले ठीक करना होगा कि हम क्या चाहते हैं—हमारा लक्ष्य क्या है। इसके बाद पता लगाना होगा कि यह लक्ष्य किसी के जीवन में सिद्ध हुआ है या नहीं। जिन्होंने इस लक्ष्य में सिद्धि लाभ की है वे ही इस लक्ष्य-सिद्धि के, इस मन्त्र के, ऋषि होंगे। जिस उपाय से सिद्धि लाभ की है वह होगा उस मन्त्र का छन्द। जिस स्नायुकेन्द्र में वह शक्ति निहित है, उस स्नायुकेन्द्र में प्राणवायु और मनन शक्ति को एकाग्रकर, वहाँ की सुप्त शक्ति को जगाकर, उस केन्द्र में उस शक्ति के प्रकाश तथा कार्यप्रणाली को उपलब्ध करना कहलायेगा उस साधन-

प्रणाली का देवतातत्त्व। तत्पश्चात् उस जाग्रत शक्ति को उद्देश्य साधन में नियुक्तकरके उद्देश्य सफल करना विनियोग तत्त्व है।

पहले यह निश्चित करना होगा कि मैं यथार्थ रूप से क्या चाहता हूँ। इसके बाद उस पथ के हेतु आदर्श सिद्ध गुरु के उपदेश, कृपा और सहायता की आवश्यकता होगी। तत्पश्चात गुरु की आदिष्ट प्रणाली को अवलम्बन कर साधन करना होगा, फलतः उद्देश्य सिद्धि अथवा उस देवता का दर्शन लाभ होगा।

ऋषि—तत्त्वदर्शी गुरु; छन्द—साधन-प्रणाली; देवता—अपूर्व सुप्त आराध्य शक्ति; विनियोग—उस शक्ति को साधन बल से जागरित कर, निर्दिष्ट रूप से चलाकर, कार्यक्षेत्र में पूर्ण सिद्धिलाभ अर्थात् उद्देश्य की सफलता (Application of the method).

यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र रहस्य

'यन्त्र' शब्द 'यम्' धातु से निष्पन्न होता है। 'यम् धातु' का साधारण अर्थ है 'संयम करना, नियन्त्रण करना, विस्तृत शक्ति को केन्द्रीभूत करना'। सूर्य की किरणें जगत् में व्याप्त हैं। इन विस्तीर्ण किरणों को केन्द्रीभूत करने पर प्रभूत शक्ति संचारित होती है जिससे अलौकिक कार्य किये जा सकते हैं--इसके अनेकों दृष्टान्त जगत् में मिलते हैं। इस शक्ति को एकत्रितकर और विधानानुसार विकीरणकर इसके द्वारा भीषण परिणाम भी साधित हो सकता है यह हमें पिछले युद्ध के आणविक बम्ब (Atomic Bomb) के कार्यकलाप से ज्ञात होता है।

भगवान के सृष्टि-रहस्य का चिन्तन करते समय सबसे पहले हमारा ध्यान एक बीज की तरफ़ जाता है जिसके भीतर एक पूर्ण परिणत वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति निहित है। इसी के साथ 'सर्वं सर्वात्मकं' उक्ति स्मरण होती है। प्रत्येक परमाणु के भीतर भगवान ने अनन्त

शक्ति निहित रखी है और इस सुप्त शक्ति को जागरित, विकसित तथा कार्यक्षम करना ही समस्त साधनभजन का उद्देश्य है। जहाँ यह शक्ति बीजाकार रूप में निहित है और जहाँ से यह बीजशक्ति पूर्णतया प्रकटित होती है उस आधार का नाम 'यन्त्र' है। हमारे स्थूल शरीर के—विशेषतः मेरुदंड के—अन्तःस्थित केन्द्र एक-एक यन्त्र हैं। विविध केन्द्रों में मन स्थिरकर साधकगण अलौकिक शक्ति लाभ कर सकते हैं, यह बात हम किसी तरह अस्वीकार नहीं कर सकते। हम दर्शन-यन्त्र के केन्द्र (optic centre) में मन स्थिरकर दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्यदर्शन लाभ कर सकते हैं, प्रकृत साधक यह स्वीकार करने को बाध्य है। भगवान का दर्शन करने के लिए यही दिव्यदर्शन करनेवाले ज्ञानचक्षु की आवश्यकता है। उनका वचन सुनने के लिए दिव्यश्रवण की ज़रूरत है। अर्थात् एक-एक अनुभूति लाभ करने के लिए तत्तत् केन्द्रों में मन स्थिरकर वहाँ की गुप्त शक्ति को जागरित करने की व्यवस्था देखी जाती है। सब यंत्र पूर्णतया विकसित हुए बिना पूर्ण-स्वरूप को पूर्णरूप में आस्वाद करना असम्भव है। साधकगण विश्वास करते हैं कि पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के सब यंत्र पूर्णतया विकसित थे; उनकी प्रत्येक इन्द्रिय में समस्त इन्द्रियों की शक्ति विकसित थी। 'अंगानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति', यह श्लोक इसी रहस्य को प्रकाश करता है। अणुवीक्षण और दूरवीक्षणादि यंत्रों की सहायता से हम जैसे सूक्ष्म और दूरस्थ पदार्थ देखते हैं इसी प्रकार योगीगण एक-एक स्नायुकेन्द्र में प्राणशक्ति को चालितकर और वहाँ मन स्थिरकर अनेक अतीन्द्रिय तत्त्व प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। प्राणशक्ति को चालित करने की प्रणाली 'तंत्र तत्त्व' का विषय है और मननशक्ति को केन्द्रीभूत करने की प्रणाली 'मंत्रशास्त्र' का विषय है। निर्दिष्ट स्नायुकेन्द्र खराब होजाने से हम दर्शन-श्रवणादि शक्ति से वंचित होजाते हैं यह बात विज्ञानसम्मत है। साधनराज्य में ये विभिन्न स्नायुकेन्द्र ही यंत्रविशेष हैं। विभिन्न

मन्त्रसाधना के लिए—विभिन्न विषयों में सिद्धि लाभ के लिए—पृथक् पृथक् केन्द्र निर्दिष्ट हैं।

मेरुदंडस्थ चक्रादि योगियों के प्रधान अवलम्बन हैं। ये साधन-राज्य के यंत्रविशेष हैं। इन सब यंत्रों में प्राणशक्ति को चालितकर एवं मन को स्थिरकर अनेक अलौकिक कार्य साधित होसकते हैं। हमारे देहस्थ विविध केन्द्र (विशेषतः स्नायुकेन्द्र–nerve centres) विभिन्न यंत्रों में परिणत होसकते हैं। चक्षु जैसे देखने का यंत्र है उसी प्रकार कान सुनने का निर्दिष्ट यंत्र है। इन पाँच विषयों के भाँति सूक्ष्म विषय अनुभव करने के लिए अनेक सूक्ष्म यंत्र भी हैं। दूरवीक्षण के व्यवहार में तीन तत्त्व लक्ष्य में आते हैं। प्रथम दूरवीक्षण यंत्र, द्वितीय उसको केन्द्रगत (focus) करने की प्रणाली, तृतीय उसमें मन स्थिर करके देखना। इसमें पहला यंत्र है, दूसरा तंत्र और तीसरा मंत्र। प्राचीन ऋषियों ने पहले देहस्थ प्रधान प्रधान केन्द्रों (यंत्रों) को आविष्कार किया। इसके बाद उन यंत्रों में प्राणशक्ति को चालितकर वहाँ की गुप्त शक्ति को किस प्रकार जागरित किया जासकता है, तंत्र तत्व के भीतर ये सब रहस्य विवृत किये। तत्पश्चात्, उन सब केन्द्रों में मन स्थिरकर भगवान की अलौकिक शक्ति किस प्रकार प्रत्यक्ष की जा-सकती है एवं भगवल्लीला दर्शन करने की योग्यता लाभ की जासकती है इसकी अतिसुन्दररूप से व्याख्या की। कुंडलिनी जागरण और षट्चक्रभेदादि प्रक्रिया द्वारा ये सब तत्त्व सुन्दररूप से समझाने की चेष्टा की। पुराणों के विविध भगवत्-धाम इन्हीं यंत्रों की महिमा प्रकाश करते हैं।

कालीपूजा और दुर्गापूजा के समय जो रंग-बिरंगे चित्र बनाये जाते हैं ये सब चित्र हमारे भीतर के विभिन्न यंत्रों के प्रतीक हैं। यंत्र-निहित शक्ति को जागरित करने के लिए प्राणप्रतिष्ठा-बोधनादि अनुष्ठान की व्यवस्था है। हमारी पूजा के सब अवयव यंत्र-तंत्र-मंत्र की महिमा

प्रचार करते हैं। बाहर के इन यंत्रादि प्रतीकों के द्वारा भीतर के तत्त्वों में प्रवेश करने की व्यवस्था थी। अब हम भीतर के तात्त्विक भावों और योगप्रणाली को भूलकर केवल प्रतीक में सीमाबद्ध होगये हैं एवं अनेक समय प्रकृत तत्त्व को विकृत करदेते हैं और कहते हैं कि कलियुग में देवदर्शन, इष्टदर्शनादि असम्भव हैं।

उपर्युक्त विवेचन से मालूम हुआ कि यंत्र हमारे देहस्थ—विशेषतः मेरुदंडस्थ—विभिन्न चक्रविशेष हैं। प्रत्येक चक्र में बीजाकाररूप में साधनराज्य के अनेक तत्त्व छिपे हुए हैं। तंत्र वह प्रणाली है जिसके अवलम्बन द्वारा हम यंत्रों के भीतर की गुप्त शक्ति को प्रकटकर नाना प्रकार की अलौकिक शक्ति की सहायता से सृष्टिरहस्य के—भगवल्लीला-रहस्य के—ज्ञान-विज्ञानसम्मत अनेक गूढ़ रहस्यों को जानसकते हैं। यंत्र और तंत्र तत्त्व के स्वरूप को न जानने के कारण हम साधनराज्य के अनेक तत्त्वों से वंचित रहते हैं किन्तु मंत्र तत्त्व का प्रकृत स्वरूप जाने बिना तो साधन-राज्य में प्रवेश करना ही असम्भव है। इसलिए हम मंत्रतत्त्व के सम्बन्ध में कुछ विस्तारपूर्वक आलोचना करना चाहते हैं। मंत्रतत्व का प्रकृत साधक नाम और नामी का अभेद-रहस्य जानकर नाम के साथ नामी को प्रत्यक्ष करने की योग्यता लाभ करता है। यशोदा के तुल्य मातृस्नेह से परिभावित होजाने पर गोपाल कहकर पुकारने से ही गोपाल प्रकट होने को बाध्य हैं, यह बात मंत्रसाधक अस्वीकार नहीं कर सकता।

मंत्र—मन् धातु के उत्तर ड–प्रत्ययान्त त्रै धातु जोड़ने से मंत्र शब्द साधित होता है (मन्+त्रै+ड्=मन्त्र)। "मननात् त्रायते यस्मात् तस्मात् मंत्र उदाहृतः"—जिसके मनन द्वारा चिन्तन द्वारा ध्यान द्वारा संसार-सागर से उत्तीर्ण होकर दुःख-कष्ट से मुक्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है उसी का नाम मंत्र है। प्रत्येक मंत्र में तीन तत्त्व निहित रहते हैं—(१) प्रणव अथवा व्याहृति—परमतत्त्व के निकट

जाना (२) बीज—परमतत्त्व का दर्शन करना, परम तत्त्व को उपलब्ध करना (३) देवता—लौटते समय अपने सब तत्त्वों को तद्भाव से परिभावित करना। एकाक्षर मंत्र में भी ये तीनों तत्त्व पाये जाते हैं।

'प्रणव'—सर्वव्यापी भगवत्तत्त्व को प्रकाश करता है। प्रणव में शक्तिमान और शक्तितत्त्व के सब रहस्य वर्त्तमान हैं। प्रणव (ॐ) के अकार-उकार-मकार शक्तितत्त्व के, काली-आदि तत्त्व के द्योतक हैं। अर्द्धमात्रा "शान्तं शिवं अद्वैतम्" की महिमा प्रकाश करती है। "अर्द्धेन एकांशेन मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते अनया इति अर्द्धमात्रा"—जिसके अर्द्ध में (एकांश में) जीवजगत् सीमाबद्ध परिणत अथवा विवर्त्तित है (एकांशेन स्थितं जगत् इति)। यही पूर्ण अखंड अद्वय तत्त्व अर्द्ध-मात्रा शब्द का लक्ष्य है। जगत् के सब रहस्य एवं जगत् के अतीत रहस्य, भगवान के विश्वमय एवं विश्वातीत तत्त्व, प्रणव के भीतर निहित हैं। प्रणव के अकार, उकार और मकार के द्वारा हम स्थूल, सूक्ष्म और कारण तत्त्व भेदकर गुणातीत अखंड अद्वय तत्पदार्थ के निकट जाने का सुयोग पाते हैं।

'बीज'—एक बड़ के बीज के भीतर जैसे एक पूर्ण-परिणत फल-फूल से सुशोभित बड़ वृक्ष में परिणत होने की शक्ति निहित है ठीक उसी प्रकार मंत्र के बीज के भीतर भी व्यक्तिविशेष के अतीत जीवन की कथा, माँ-बाप का इतिहास एवं उसके भविष्य जीवन के पूर्ण परिणति लाभ करने की सम्भावना निहित देखने में आती है।

'देवतातत्त्व' में किस प्रकार हमारे भीतर की अन्तरेन्द्रिय, बहि-रिन्द्रिय एवं देहादि के सब तत्त्वों के द्वारा भगवत्-चैतन्य को पूर्णतया परिणतकर उस विशिष्ट जीव को पुरुषोत्तम में परिणत किया जा सकता है, इसका रहस्य और इसकी सम्भावना निहित रहती है। भगवत्-चैतन्य प्रकृति के सब स्तरों में प्रतिबिम्बित होकर किस प्रकार प्रकाशित होते हैं, किस प्रकार लीला करते हैं, इस विषय का समावेश देवता-तत्त्व में है।

देवता को साक्षात् करने का अर्थ है इन सब तत्त्वों में, व्याष्ट-समष्टि भाव में, भगवत्-चैतन्य को अबाधितरूप से प्रस्फुटित करना और उपलब्ध करना, एकशब्दमें साधक का देवमय होजाना।

प्रणव के भीतर भगवान का विश्वमय और विश्वातीत रहस्य निहित है। बीज-तत्त्व से मालूम होता है कि हमारा प्रकृत स्वरूप क्या है, हमारा भगवान के साथ क्या सम्बंध है, भगवान ने किस उद्देश्य से हमको सृष्ट किया है और हमारे भीतर कौन शक्ति अव्यक्तरूप में निहित हुई व्यक्तित्व लाभ करने की चेष्टा कररही है। देवतातत्त्व से हम जान सकते हैं कि किस उपाय से हमारे द्वारा भगवान की इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करने में समर्थ होगी।

मन्त्रतत्त्व के साथ शब्दविज्ञान रहस्य, मन्त्र में निहित शक्तितत्त्व एवं उस शक्ति को जागरित करने का रहस्य विचारणीय है। यहाँ विज्ञानानुसार भगवद्विधान को जानकर और उसको पालनकर भगवद्विधान पर जय प्राप्त करने की व्यवस्था देखने में आती है—Study the law of Nature, follow it and you will be Master of it. चण्डी का यह श्लोक यहाँ चिन्तनीय है—"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति। यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति"। शब्दविज्ञान रहस्य में शब्दब्रह्म का तत्त्व अर्थात् शब्द की परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी भाव के भीतर कारण, सूक्ष्म, स्थूल और जगत्-रूप में आत्मप्रकाश का तत्त्व, निहित है। शब्द के भीतर अचिन्त्य शक्ति निहित है—यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। सपेरों के उच्चारित मन्त्र द्वारा किसप्रकार विष उतरजाता है यह यहाँ विचारने योग्य है। यह भी मन्त्रनिहित शक्ति की महिमा प्रचार करता है। मन्त्रनिहित शक्ति स्वाभाविक प्रणाली द्वारा आत्मप्रकाश करने की चेष्टा करती है यह हम मानने को बाध्य हैं; निमित्तकारण तो केवल शक्ति के प्रकाश में बाधा दूर करदेता है। मन्त्र के

केवल उच्चारण से भी कुछ लाभ होजाता है यह स्वीकार करके ही सम्भवतः प्रचलित विश्वास है कि अश्रद्धया उच्चारित मन्त्र भी कुछ काम करता है। अजामिल के नारायण-स्मरण की कथा इसकी साक्षी है। अनजान में विष खा लेने से भी शरीरान्त होसकता है, गङ्गा की महिमा में विश्वास न करते हुए भी गङ्गास्नान से लाभ होसकता है, यह हम मानने को बाध्य हैं। किन्तु मन्त्र वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा ठीक साधित होजाने पर अत्यन्त फलदायक होता है इसमें सन्देह नहीं। गुरुदेव किसप्रकार मन्त्र में शक्ति सञ्चारकर शिष्य में शक्तिपात करदेते हैं यह रहस्य भी चिन्तनीय है। मन्त्र की अपनी अन्तर्निहित शक्ति, मन्त्रदाता गुरु की सञ्चारित शक्ति एवं मन्त्र-ग्रहीता साधक की साधन शक्ति, यह प्राधानतः तीनों शक्तियाँ सम्मिलित होकर मन्त्र-सिद्धि की पूर्णता सम्पादन करती हैं। मन्त्रशक्ति एवं गुरुशक्ति अनुकूल होने पर भी साधन के बिना सम्यक् फल लाभ नहीं होता। साधक रामप्रसाद का यह पद "एमन गुरु-आराधित मन्त्र ताओ हारालाम साधन बिने" इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है। सिद्ध महात्माओं के उच्चारित शब्द में, सिद्ध पुरुषों के प्रदत्त मन्त्र में, प्रभूत शक्ति निहित रहती है—यह अस्वीकार नहीं किया जासकता।

इसके उपरान्त मन्त्र के पुरश्चरण और मन्त्र-चैतन्य का प्रसङ्ग सुन्ने में आता है। मन्त्र के अर्थ और भाव को देहपुरी के सब तत्त्वों में सञ्चालितकर देह को परिभावित करने का नाम है 'मन्त्र का पुरश्चरण।' मन्त्र, मन्त्र का अर्थ और उसके देवता (अनुभूति) का एकीकरण 'मन्त्र-चैतन्य' कहलाता है। मन्त्र का पुरश्चरण और चैतन्य साधित हुए बिना सिद्धिलाभ नहीं हो सकती यह बात शास्त्रसङ्गत है।

"मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं यो न जानाति साधकः।
शतलक्षप्रजप्तोऽपि तस्य मन्त्रो न सिध्यति"॥

मन्त्रचैतन्य के फलस्वरूप माँ शब्द के उच्चारणमात्र से ही मातृ-

स्नेह साधक को अभिषिक्त करदेता है। साधक तब मातृसान्निध्य अनुभवकर, माँ-मय होकर, मातृमन्त्र की चैतन्य-सम्पादन-क्रिया प्रत्यक्ष करता है। भूत के भय से भूत का दर्शन, भूतग्रस्त होजाना एवं भूत की भाँति बातें करना या काम करना—इस प्रकार के मन्त्र-चैतन्य के दृष्टान्त सुनने में आते हैं। श्रीमन्महाप्रभु नाम और नामी को एककरके मन्त्र उच्चारण करने का उपदेश करते थे। मन्त्र इस प्रकार उच्चारण होना चाहिए जिसके फलस्वरूप मन्त्र के देवता स्वयं आने को बाध्य हों। श्रीकृष्ण जब यशोदा को माँ कहकर पुकारते थे तब यशोदा का इतना सामर्थ्य नहीं रहता था कि बिना आये स्थिर रहसकें। यशोदा के मुख से गोपाल शब्द ऐसे भावापन्नरूप से निकलता था कि उनके हृदयगोपाल तत्क्षण आकर उपस्थित होते थे। अवश्य विरह-भाव की पुष्टिसाधन के लिए लक्ष्य पदार्थ की प्राप्ति में विलम्ब होना दूसरी बात है। हमारा विश्वास है कि मन्त्र यदि शुद्धरूप से उच्चारण किया जाय तो मन्त्र जाग्रत होकर अपने लक्ष्य पदार्थ को खींचकर लासकता है। शब्द सुप्रयुक्त होने पर अर्थात् शब्द के वैखरीभाव में यदि उसके सब तत्त्व, पराभाव पर्यन्त, निहित हों तो शब्द अमोघ शक्ति लाभ करता है। हृदय से निकली हुई टेर हृदयगत हुए बिना नहीं रुकती। शब्द जिस स्तर से उच्चारित होता है उसी स्तर तक पहुँचने में समर्थ होता है। देवता का स्वाभाविक नाम ही है मन्त्र; अर्थात् जिस नाम से बुलाने से देवता अनन्तसत्ता की गर्भ से आविर्भूत होकर भक्त की अभिलाषा पूर्ण करदेते हैं—यही देवता का आविर्भाव तत्त्व है। साधक-भक्त विश्वास करते हैं कि माँ ने स्वयं कन्यारूप में आविर्भूत होकर रामप्रसाद का बाड़ा घेरने के काम में सहायता की थी। मन्त्र चिच्छक्ति का विशिष्ट प्रकाश है। मन्त्र चैतन्य की घनीभूत मूर्त्ति अथवा देवता का आत्मप्रकाश है। मन्त्र और देवता अभिन्न हैं। बीज ही मूलमन्त्र है—बीज में सब शक्ति निहित है।

यद्यपि एक अणु में निहित सुप्त शक्ति को जागरित कर अनेक महत् कार्य किये जासकते हैं, (तुलनीय—आणविक बम्ब—Atomic Bomb) तो देहस्थ यन्त्रों में निहित गूढ़ शक्ति को उपयुक्त साधन-प्रणाली द्वारा प्रकट करके कौन सा महत् कार्य नहीं किया जा सकता, यह अस्वीकार करना केवल मूर्खता मालूम पड़ती है। परन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अशिक्षित और स्वार्थपर लोगों के हाथ में पड़कर, अपप्रयोग के कारण, स्वार्थसिद्धि के हेतु अतिरञ्जित होकर, साधन-रहस्य ने समाज और देश में अनेक अनर्थ पैदा करदिये हैं। अप-प्रयोग के लिए संस्कार की आवश्यकता है विनाश की नहीं। मन्दिर का अपव्यवहार होते देखकर यदि उसका शोधन न करके उसके ध्वंस की व्यवस्था कीजाय तो हम वञ्चित हो जायँगे इसमें सन्देह नहीं। मन्त्र से शक्ति सञ्चार की जासकती है, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक ही शब्द विभिन्न व्यक्ति द्वारा विभिन्न भाव से उच्चारित हुआ विभिन्न समय में विभिन्न फल उत्पन्न करता है।

सिद्ध महापुरुषों के मुख से उच्चारित शब्दों में विशेष शक्ति निहित रहती है इसमें सन्देह नहीं। उच्चारण-प्रणाली के ऊपर भाव-प्रकाश करने की शक्ति, अनुभूति जाग्रत करने की शक्ति, निर्भर करती है, यह भी अस्वीकार नहीं किया जासकता। मन्त्र साधन-प्रणाली का एक चुम्बकरूपी साङ्केतिक चिह्न है। कृष्णादि मन्त्र जपने के फलस्वरूप साधक कृष्णमय होजाता है इसमें सन्देह नहीं।

जो स्त्रियों को दीक्षा देते समय मन्त्र से ॐकार वर्जनकर दीक्षा प्रदान करते हैं वे अनेक समय भूल जाते हैं कि मैत्री, गार्गी, वाचक्नवी, प्रभृति वैदिक ऋषिगण भी स्त्रियाँ थीं। दुर्गा, काली, सरस्वती, लक्ष्मी, प्रभृति स्त्री-देवता हैं। कोई-कोई कहते हैं कि स्त्री-जाति को दबाकर रखने के लिए बहुपत्नीत्व प्रचलन के समय इस तरह की प्रथा आविष्कृत हुई थी।

अधिकारी-विचार

'एक' जब बहु हुए तो जगत् में नानात्व की सृष्टि हुई। जगत् में कोई दो पदार्थ या दो जीव ऐसे नहीं जो सर्वप्रकार एक भावापन्न हों (No two individuals are exactly alike)। प्रत्येक मानो अपना निर्दिष्ट कार्य करने के लिए आया है। एक का कार्य दूसरे के द्वारा सम्पन्न होना सहज नहीं। पूर्वजन्मगत, उत्तराधिकारीरूप में प्राप्त अथवा भगवद्दत्त शक्ति अनुसार मनुष्य का गुण निर्धारित होता है एवं शिक्षा-दीक्षा द्वारा भी हम किसी निर्दिष्ट कार्यसाधन की योग्यता लाभ करसकते हैं। जो काम हम आज करने में असमर्थ हैं कालान्तर में सम्भवतः वह कार्य करने की क्षमता लाभ करलेंगे, जैसे निम्न श्रेणी का छात्र उच्च श्रेणी में जाने की योग्यता लाभ करलेता है। निम्नश्रेणी का छात्र यदि उच्चश्रेणी के ग्रन्थों में विव्रत रहे तो न वह उच्चश्रेणी का पाठ समझ पायगा और न अपनी श्रेणी की शिक्षा लाभकर उन्नति करसकेगा। साधनराज्य में भी सब लोग सब कार्य करने में समर्थ नहीं होते। इसीलिए साधनराज्य में भी नानाविध श्रेणी विभाग देखने में आते हैं। आज हमारे लिए जो करना या समझना असम्भव है कुछ समय पश्चात् हम कदाचित् वह कार्य करने की योग्यता लाभ करलें। ऐसी अवस्था में भी उन्नतिलाभ के साथ-साथ साधन-प्रणाली के किसी-किसी विषय में परिवर्त्तन की आवश्यकता होजाती है।

सब कार्य में एक नित्य और एक नैमित्तिक भाव देखने में आत है। नैमित्तिक भाव देश-काल-पात्र भेदानुसार परिवर्त्तन लाभ करता है। नित्य भाव प्रायः एक समान ही रहता है। गुणकर्म के विचार को त्यागकर एवं क्रमोन्नति के पथ को भूलकर हम अपने जीवन को अनेक समय नीरस कर देते हैं। अधिकारी–विचार यथार्थरूप में अनुष्ठित होने से और जातिभेद एवं कर्मविभाग केवल वंशगत न मानकर गुणकर्मगत

समझने से हमारा उन्नतिलाभ अनेकांश स्वाभाविक होजाता है और जीवन इतना नीरस बोध नहीं होता। वैष्णवमत के विधिमार्ग और रागमार्ग, तंत्रमत के पश्वाचार और वीराचार तथा प्राचीन जातिभेद प्रथा अधिकारी-विचार के प्रधान दृष्टान्त हैं।

प्रायः सभी सम्प्रदाय के साधकों में अधिकारी-विचार का भाव देखा जाता है। सब सम्प्रदायों के साधकगण अधिकारी-विचार की ओर प्रधान लक्ष्य रखते थे। हमने अधिकारी-विचार के लक्ष्य को भूलकर और अपने को सब कार्य का अधिकारी मानकर साधनराज्य में एक महान उपद्रव पैदा कर दिया है। किसी विद्यालय के सब छात्र यदि अपने आपको एम० ए० क्लास में भरती होने के उपयुक्त समझकर छल-बल-कौशल द्वारा उस क्लास में प्रवेश करने की चेष्टा करें तो विद्यालय में जैसी अराजकता हो जाएगी, साधनराज्य की अराजकता इसके अपेक्षा और भी भयावह है। तांत्रिकों के चालक यदि पश्वाचार की तरफ़ अधिक दृष्टि रखते तो 'तांत्रिक' शब्द को 'मद्यप' 'व्यभिचारी' आदि नाम पाने की इतनी सम्भावना न होती। सहजिया साधकगण यदि 'प्रवर्त्तक', 'साधक', 'सिद्धादि' भेद की तरफ़ विशेष दृष्टि रखते तो सहज साधन को कठिन, घृणित और पतन का कारण अनुमान करने का किसी को सुयोग न मिलता। दुःख का विषय है कि यह भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदाय के साधकगण अधिकारीतत्त्व की मर्यादा की यथार्थरूप से रक्षा करते हैं।

"उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमो भावो बाह्यपूजाधमाधमः॥

तंत्रशास्त्र के इस श्लोक में एक उत्तम रहस्य छिपा हुआ है। साधनराज्य में बाह्य पूजा को निम्नस्तर में स्थापित करने पर भी उन्नतस्तर में जाने में यह सहायक है यह बात अस्वीकार नहीं की जाती।

किन्तु दुख की बात यह है कि हमारे सामाजिक गुरुगण बिलकुल भूल गये हैं कि साधनराज्य में भी एक क्रमोन्नति (Promotion) का पथ है। प्राचीनकाल में गुरुगण अन्ततः वर्ष में एकबार शिष्य के घर जाकर और साधनराज्य में वह कितना अग्रसर हुआ है इसका विचार-कर उसको साधन के उच्चस्तर में ले जाने की चेष्टा करते थे। किन्तु शोक है कि आजकल के गुरुदेवों का शिष्य के घर जाना केवल वार्षिक प्राप्य वसूल करने में पर्यवसित हो गया है। प्रत्येक साधक के लिए सर्वोच्चभूमि प्राप्त करने का द्वार उन्मुक्त रहना चाहिए यह बात हम बिलकुल भूल गए हैं। मूर्त्तिपूजा में सुदक्ष साधक को भगवान के स्तव-स्तुति और जपादि द्वारा धीरे-धीरे ध्यान-राज्य में ले जाकर सर्वशेष में उसको भगवद्भाव से परिभावितकर सब जीवों के भीतर भगवद्ध्यान, भगवद्दर्शन और भगवत्-सेवा की योग्यता दान करनी चाहिए—यह बात हमारे आधुनिक गुरुदेव बिलकुल भूल गए हैं। फलतः अनेक लोग कहते हैं कि आजकल गुरुआई एक बड़ा व्यवसाय होगई है। यह व्यवसाय आजकल समाज का विशेष अनिष्ट कर रहा है। भागवत-पाठ से ज्ञात होता है कि भगवान अपने मुख से बार-बार कहगए हैं कि जो लोग सब जीवों में अधिष्ठित मुझको अना-दरकर सब जीवों का सम्मान और सेवा करना भूल गए हैं और केवल मूर्त्तिपूजा में व्यस्त हैं वह मूर्त्तिपूजा भस्म में घी डालने के समान निरर्थक है। अब भी यदि हम अधिकारी-विचार की तरफ़ दृष्टि न देंगे तो साधनराज्य और भी विकृत हो जाएगा इसमें सन्देह नहीं। अनधि-कारी गुरु को दीक्षा देने से वंचित करना अत्यावश्यक है। तंत्रशास्त्र का भूमिलाभ इस स्थल में स्मरणीय है। पूर्व साधना द्वारा जिसने जो भूमि लाभ की है उसको उस भूमि से ऊपर उठने की चेष्टा करनी होगी। जो जिस स्टेशन पर पहुँचकर विश्राम कर रहा है उसको उसी स्टेशन से रवाना होना होगा।

गुरुवाद और दीक्षा

सभी कामों में गुरु—उपयुक्त शिक्षक—की आवश्यकता होती है। जिसने जिस विषय में सिद्धि लाभ की है वह उस विषय का सुदक्ष शिक्षक है—वह उस कार्य का प्रकृत कुलगुरु है। विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए जगदीश बोस के समान वैज्ञानिक की सहायता लेना श्रेष्ठ है यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साधनराज्य में भी जो मुझको देखकर मेरी अवस्था को समझ सकते हैं, मेरे प्रति स्नेहशील हैं एवं मेरे द्वारा अपना स्वार्थसिद्ध करने की चेष्टा न कर मेरी उन्नति और शान्तिविधान में समधिक सचेष्ट हैं और जिन्होंने मेरे गन्तव्य पथ में स्वयं अग्रसर होकर सिद्धि लाभ की है वे संयत शुद्ध दक्ष प्रेमिक ज्ञानी तत्त्वदर्शी पुरुष मेरे गुरु—मेरे चालक—होने के उपयुक्त पात्र हैं। अनुपयुक्त लोगों का गुरु का आसन ग्रहण करने के फलस्वरूप देश का बहुत अनिष्ट होगया है।

सभी विषयों में सिद्धि लाभ करने के लिए दीक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। कार्य में व्रती, दीक्षित, तीव्र संकल्पयुक्त हुए बिना सिद्धिलाभ अनिश्चित है। प्राचीन काल में त्रिजाति बालक गुरु के आश्रम में जाकर गायत्री मंत्र की दीक्षा लाभ करते थे। गुरु उनके जीवन का लक्ष्य तथा उनकी साधनप्रणाली निर्धारण कर देते थे और उनकी उन्नति एवं शान्ति-लाभ में सहायक होते थे। जो करने के लिए आए हैं उसको उत्तमरूप से सम्पन्न करने की सहज, सुन्दर और स्वाभाविक प्रणाली हम दीक्षा द्वारा लाभ करते हैं।

हमारा प्रकृत वासस्थान भगवत्-धाम था; वहाँ हम अपने-अपने अधिकारानुसार भगवत्-सेवा में विभोर रहते थे। यहाँ आकर हम अपने प्रकृत स्वरूप को, भगवान के स्वरूप को, उनके साथ अपने सम्बन्ध को तथा अपने जीवन के कर्त्तव्य को भूल गये। सद्गुरु हमको इस

भूल से चेतनकर हमारा प्रकृत स्वरूप और कर्त्तव्य निर्धारण कर देते थे। दीक्षालाभ के फलस्वरूप हम भगवान के होजाते थे। हमारा सब कार्य हो जाता था परकीय अर्थात् परमात्मा सम्बन्धीय; संसार होजाता था भगवत्–धाम; जीव मालूम पड़ता था वेषधारण किया हुआ शिव; कर्म होजाता था यज्ञ; सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मानुभूति, ब्रह्मसेवा होजाता था हमारे जीवन का लक्ष्य। स्वयं उन्नति और शान्ति लाभकर सबको उन्नत करने की और शान्ति के पथ पर ले जाने की चेष्टा होजाती थी हमारा स्वाभाविक कर्म। दीक्षा से हम भगवान के हो जाते थे; आत्मीय-स्वजन होजाते थे भगवद्विभूति और स्वार्थ-भाव की जगह एक प्रेम का भाव आजाता था। हमारे समस्त सम्बन्ध और समस्त कार्य शान्त, पवित्र, मधुर और अति सुन्दर हो जाते थे।

षट्चक्रभेद

षट्चक्रभेद का अर्थ है—हमारे देह के मेरुमार्ग-मध्यस्थ छः यंत्रों के भीतर के स्रोत का अस्वाभाविक वक्रभाव दूरकर उनके भीतर सरल अबाधित मन और प्राण की गति लाभ करना। तंत्र और योगशास्त्र के अनुसार सुषुम्ना मार्ग में छः केन्द्र हैं जहाँ जीव संस्कारवश चक्कर खाता रहता है और नानाविध भोग और आकर्षण में फँस जाता है। भारत के प्राचीन ऋषि केवल अपनी उन्नति, अपनी मुक्ति, के लिए ही विव्रत नहीं रहते थे। साधन-भजन के फलस्वरूप उन्होंने परमात्म-दर्शन लाभ कर लिया था। उनका आत्मतत्त्व का ज्ञान गम्भीरता तथा व्यापकता की परम अवस्था में पहुँच गया था। आत्मा सारतत्त्व है एवं सर्वव्यापी है—इस उपलब्धि के परिणामस्वरूप वे अपने आपको एक सामान्य ससीम देह में सीमाबद्ध रखने में तृप्ति बोध नहीं करते थे। किसप्रकार सर्वव्यापी को सर्वभूत के भीतर से विकसित करें, सब के भीतर उनका दर्शन करें—इस ओर उनका प्रधान लक्ष्य था। अन्तर्दृष्टि

शुद्ध होने के कारण उन्होंने समझ लिया था कि साधन द्वारा दूरदर्शन, सूक्ष्मदर्शन, दिव्यदर्शन लाभ किया जा सकता है एवं दिव्यदर्शन लाभ किये बिना इस चक्षु से भगवान का विश्वरूप नहीं देखा जा सकता और न दिव्यश्रवण लाभ किये बिना उनकी वाणी सुनी जा सकती है। जिससे सब दिव्यदर्शन, दिव्यश्रवणादि लाभ कर सकें इस विषय में वे सचेष्ट रहते थे। उन्होंने आविष्कार किया "सर्वं सर्वात्मकं" अर्थात् सब स्थान में, प्रत्येक परमाणु में, सब तत्त्व नित्य वर्तमान हैं। (What is true of the whole universe is also true of every atom of the universe). एक ऋषि ने मुक्तकंठ से घोषणा की "एके विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति"। बहुत्व में एकत्वानुभूति उनकी ब्रह्मानुभूति में सहायक हो गई थी। तब उन्होंने विचार किया कि देह-तत्त्व का पूर्णज्ञान लाभ कर लेने से जगत्-तत्त्व का पूर्णज्ञान लाभ करना सहज हो जायगा। समस्त जगत् में जितने तत्त्व वर्तमान हैं वे सब प्रत्येक जीवदेह में प्रत्येक परमाणु में भी वर्तमान हैं। तब वे देह-तत्त्व के अनुसंधान में व्यस्त हो गये। फलतः दिव्यदर्शन के प्रभाव से आविष्कृत हुआ कि देह का समस्त सारतत्त्व मेरुदण्ड और मस्तिष्क के मध्यस्थित केन्द्रों (यंत्रों) में है; अन्य जो कुछ है इसका सहकारी-मात्र है। उन्होंने देखा कि सब सारतत्त्व सुषुम्ना में अवस्थित हैं।

ऋषिगण सुषुम्नास्थ एक-एक केन्द्र में मन समाहितकर विविध अद्भुत तत्त्व आविष्कार करने लगे। सर्वशेष में समझ गये कि जो कुछ जानने, करने या प्राप्त करने का विषय है वह सब सुषुम्ना के अन्तःस्थित यंत्रों में है। इसके फलस्वरूप अनेक योगी-साधकों ने साधनराज्य के अनेक तत्त्वों को षट्चक्र के अन्तर्गत विचार करना आरम्भ किया। सुना जाता है कि पाश्चात्य विज्ञान की दृष्टि भी इस तरफ़ आकृष्ट होने लगी है। प्राचीन बौद्ध योगाचारी साधकगण इसी सुषुम्ना के भीतर का स्रोत आविष्कार कर साधकगण को स्रोतापन्न करने

की चेष्टा करते थे। यही सुषुम्ना शाक्तों की गङ्गा नदी, वैष्णवों की यमुना नदी कहलाती है। प्रायः सब साधक सम्प्रदायों ने सुषुम्ना के माहात्म्य को स्वीकार किया है। तंत्रशास्त्र और योगशास्त्र तो सुषुम्ना के अन्तर्गत केन्द्रों (चक्रों) में विभोर हैं। अनेक सम्प्रदाय सुषुम्ना-स्रोत के अनुकूल मंत्र-जप साधन करने का उपदेश करते हैं। सुषुम्ना मार्ग के चित्र को देखने से मालूम होगा कि मूलाधार से सहस्रार तक का विस्तृत पथ ही साधनराज्य का एक प्रधान अवलम्बन है—भगवद्-धाम जाने की प्रधान व एकमात्र सीढ़ी है। यहाँ तक कि ज्ञानभूमि के स्तर (अर्थात् शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्तापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभाविनी एवं तूर्यगा) सुषुम्ना के अन्तर्गत चक्रों में विन्यस्त हैं। अनेक सम्प्रदायों के साधकगण मूलाधार में मन स्थिरकर मेरुमध्यस्थ स्रोत को साक्षात् करने की चेष्टा करते हैं एवं इस स्रोत के चढ़ने-उतरने की तरफ़ लक्ष्य रखकर जपादि कार्य निष्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं।

सुषुम्ना मार्ग साधारणतः छः केन्द्रों में विभक्त है और इसके प्रत्येक केन्द्र में एक-एक चक्र निर्दिष्ट किया गया है। इसी पथ के भीतर विविध देह के, पंच तत्व के, पंचकोश के, सप्तलोक के तथा ज्ञानराज्य की सप्त भूमि के स्थान भी निर्धारित हैं। इसके एक-एक केन्द्र में चित्त समाहित करने से उस केन्द्रस्थ तत्त्व के सब रहस्य स्वतः प्रकट होने लगते हैं। यहाँ तक कि चित्त में यदि कोई विशेष भाव लाना हो तो उस भाव के निर्धारित केन्द्र में मन स्थिर करने से उस भाव के समस्त तत्त्व अपने आप स्फुरित होने लगते हैं। प्रत्येक चक्र मानो एक यंत्र है जिसके केन्द्र में भगवान अथवा उनके प्रतिनिधि और उनके चारों तरफ़ उनके परि-करादि अवस्थित हैं। सर्वोच्चकेन्द्र (सहस्रार) में सब सम्प्रदायों के निर्धारित भगवान (पुरुषोत्तम) विराजमान हैं एवं निम्नस्तरों में विविध सम्प्रदायानुकूल विभूति-कायव्यूह (प्रतिनिधि) गण स्थित हैं—इस प्रकार चिन्तन करना होता है। प्रकृत भगवद्धाम चक्र नहीं है—सहस्रार

चक्रातीत है। वहाँ कर्मभोग नहीं है, वक्रगति भी नहीं है—केवल लीला-रस आस्वादन है। वह कालातीत है।

नाद बिन्दु से निकलकर प्रत्यावर्त्तन के समय फिर बिन्दु में विलीन हो जाता है। यह बिन्दु ही स्थितिस्थान अथवा धाम है। नाद ऊर्ध्व और अधः बिन्दुद्वय का योजक है। नाद की धारा ऊपर की तरफ़ एवं नीचे की तरफ़ प्रसारित है। अधोबिन्दु मूलाधारस्थ त्रिकोण का मध्य-बिन्दु है एवं ऊर्ध्व बिन्दु सहस्रारस्थ त्रिकोण का मध्यबिन्दु है। बौद्ध-तंत्र का यह श्लोक इस प्रसंग में तुलनीय है—"एकाराकृति यद्दिव्यं मध्ये वंकारभूषितम्। आलयः सर्वसौख्यानां बुद्धरत्नकरंडकम्॥" (एकार = त्रिकोण = नाद; वंकार = बिन्दु)। ऊर्ध्वधारा में धाम का एवं अधोधारा में जगत् का प्रकाश है। नादस्रोत मूलाधार से सहस्रार तक प्रवाहित है। मूलाधार से ऊपर के पाँच चक्रों के केन्द्र ही पाँच बिन्दु हैं। साधकगण अपने अपने अधिकारानुसार सब बिन्दु भेदकर ऊर्ध्व गमन करते हैं अथवा किसी बिन्दु में आबद्ध होकर रुद्धगति हो जाते हैं। आज्ञाचक्रस्थित बिन्दु ही मुख्य बिन्दु है—यहाँ नीचे के पाँचों चक्रों का समन्वय है।

चक्रोत्पत्ति—ब्रह्म की शक्ति जब अव्यक्त अप्रकटित अननुभूत होती है तो उस अवस्था को 'निर्गुण' कहते हैं एवं वही शक्ति जब प्रकाश की तरफ़, सृष्टि की तरफ़, धावित होती है अर्थात् शक्ति जब लीलारत होती है तब वह अवस्था 'सगुण' कहलाती है। शक्ति जब सृष्टि, परिणति अथवा विवर्तन की ओर धावित होती है तो शक्तिमान का स्मरण और आकर्षण अनुभव करने के कारण बीच बीच में शक्ति-मान की ओर लौटना चाहती है—इस लिए शक्ति के भीतर केन्द्रा-तिग और केन्द्रानुग ये द्विविध गति लक्षित होती है। इसके फलस्वरूप शक्ति की गति अल्प समय के लिए किंचित वृत्ताकार (चक्राकार) धारण करती है। यही चक्राकार अवस्था योगशास्त्र का चक्रतत्त्व है।

परमाणु का उत्पत्ति-रहस्य यहाँ विचारणीय है—'Matter is the concentrated form of energy.' शक्ति की स्वाभाविक प्रवणता सरल गति की ओर होती है किन्तु क्रमशः विरुद्ध शक्ति की क्रिया के फलस्वरूप गति कुछ वक्र होजाती है। कहना अनावश्यक होगा कि यह विरुद्ध शक्ति भी मूलस्थान से ही प्रकट होती है। हम जिसको मनुष्य का मन कहते हैं वह भी तब वक्रभावापन्न होजाता है और नाना प्रकार की कामना-वासना से आच्छन्न होजाता है। मन की वक्रता के कारण जिस आधार को आश्रयकर मन क्रिया करता है वह आधार भी वक्रभावापन्न होजाता है। बहिर्मुखीगति (प्रवृत्ति) प्रबल होते होते जिस स्थान पर पराकाष्ठा प्राप्त करती है उसी स्थान से फिर अन्तर्मुखीगति (निवृत्ति) आरम्भ होती है। सब चक्र आज्ञाचक्र से लेकर मूलाधार तक, शक्ति के परिणाम और विवर्तन पथ में, स्थूल देह में विस्तृत है। ये मानो रास्ते की विश्राम भूमि (halting stations) हैं। प्रकृति अथवा बहिर्मुखीगति के अवसान पर जब निवृत्ति-अभिमुखी अथवा अन्तर्मुखीगति आरम्भ होती है तब आध्यात्मिक जीवन का सूत्रपात होता है। साधक तब क्रमशः एक एक भूमि अतिक्रमकर ऊर्ध्व की ओर अग्रसर होता है। पहले जिन चक्रों का विवेचन किया गया है उन्हीं चक्रों को भेदनकर साधक को जाना होता है। किस चक्र में कितने समय रुकना पड़ेगा यह यात्री की (साधक की) आसक्ति और भोगस्पृहा पर निर्भर करता है।

चक्रों का अवस्थान—सब चक्र समवेदक स्नायुमंडल में स्थित है। ये विभिन्न स्नायुविशेष हैं। मेरुदंड के बहिर्भाग में बाईं ओर चन्द्र तुल्य ईड़ा, दक्षिण ओर सूर्यतुल्य पिंगला एवं मध्य में चन्द्र-सूर्य-वन्हि-रूपा सुषुम्ना का मार्ग है। सुषुम्ना मेरुदंड के ऊर्ध्वस्थ सहस्रार से सर्व-निम्नस्थ मूलाधार तक विस्तृत है।

(१) सर्वनिम्न में गुह्य और लिंग के मध्य में 'मूलाधार' चक्र है।

योगशास्त्रानुसार यह चक्र रक्त वर्ण चतुर्दल है। यह डाकिनी शक्ति एवं शक्तिमान सद्योजात (ब्रह्मा) की अधिष्ठानभूमि है। इस चक्र में पृथ्वीतत्त्व प्रधान है। यहाँ सार्ध-त्रिवलय-वेष्टित कुंडलिनी प्रकृति देवी का अधिष्ठान है। यहाँ के चार दल जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि के द्योतक हैं। यहाँ शक्ति निद्रित रहती है।

(२) इसके ऊपर लिंग-मूल में षड्दल 'स्वाधिष्ठान' चक्र है। इसके षड्दल छः रिपुओं के द्योतक हैं। यहाँ के देवता चतुर्भुज नारायण और शक्ति राकिनी हैं। यह काम अथवा प्रेम की लीलाभूमि नाम से विख्यात है। (ऊर्ध्वगति के समय जो 'काम' है ऊपर से शुद्ध होकर नीचे उतरते समय उसी का नाम 'प्रेम' है।) यहाँ साधारण जीव का मन जीवात्मारूप में अधिक समय अधिष्ठित रहता है इसीलिए इसका नाम 'स्वाधिष्ठान' है। इस चक्र में अप् (जल) तत्त्व प्रधान है।

(३) इसके ऊपर नाभिस्थल में दशदल 'मणिपुर' चक्र है। इसकी ज्योति मणिप्रभा को भी परास्त करती है इसी से इसका नाम मणिपुर है। यहाँ के देवता रुद्र एवं शक्ति लाकिनी हैं। यह चक्र तेजः (अग्नि) तत्त्व प्रधान है।

(४) इसके ऊपर हृदय में द्वादशदल 'अनाहत' चक्र है। यहाँ के देवता ईशान और शक्ति काकिनी हैं। यह मरुत् (वायु) तत्त्व प्रधान है। यहाँ अनाहत ध्वनि सुनी जाती है इसीलिए इसका नाम अनाहत (हृदयाकाश) है। यह स्थान ईश्वर की लीलाभूमि है। यहाँ चित्त स्थिर होने से यह अनुभूति लाभ होती है कि ईश्वर किस प्रकार जीव को चला रहे हैं अर्थात् देहस्थ सब यंत्र किस भाँति परिचालित होते हैं। इस चक्र को जीवात्मा का स्थितिस्थान भी वर्णन किया गया है।

(५) इसके ऊपर कंठदेश में षोड़श दल 'विशुद्धाख्य' चक्र है।

यहाँ के देवता सदाशिव एवं शक्ति शाकिनी हैं। यहाँ व्योम (आकाश) तत्त्व प्रधान है।

(६) इसके ऊपर भ्रूमध्य में द्विदल 'आज्ञाचक्र' है। यह शिव और हाकिनी शक्ति की अधिष्ठानभूमि है। यहाँ श्रीभगवान अधिष्ठान-रूप में लीलारत हैं। यहाँ अहं और इदं, द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्य तत्त्व का प्रभेद पहले पहल लक्षित होता है। एक अखंड-अद्वय-तत्त्व लीलारस आस्वाद करने के लिए युगलरूप में प्रतीयमान होकर मिलन और विरह द्वारा भ्राम्यमाण होरहा है—इसीलिए इसे भी चक्र कहा गया है। कहना अनावश्यक होगा कि विभिन्न चक्राधिष्ठित शक्तियों के नाम विभिन्न सम्प्रदायों ने विभिन्नरूप में दिये हैं।

(७) सर्वोपरि शिरोदेश में सहस्रदल-विशिष्ट 'सहस्रार' कमल अवस्थित है। सहस्रार अधोमुख है। नीचे के चक्र जाग्रत होजाने पर ऊर्ध्वमुखरूप में परिलक्षित होते हैं। सूर्योदय से जैसे कमल प्रस्फुटित होता है तद्रूप ज्ञानसूर्योदय से निम्नस्थित चक्रों के कमल ज्ञानालोक से प्रस्फुटित होकर ऊर्ध्वमुख होजाते हैं। सहस्रार के मध्य विन्दु से निरन्तर अमृतस्राव होता रहता है किन्तु साधारण जीव के निम्नवर्ती कमल सुप्त होने के कारण इसको धारणकरके पुष्टि लाभ करने में असमर्थ हैं। फलतः यह अमृत कालाग्नि कुण्ड में निरन्तर गिरता रहता है और इसके कारण जीव देह में जरा-विकार-मलिनता-मृत्यु आदि आविर्भाव होते हैं। किन्तु कुण्डलिनी जागरण एवं तदुत्तर योगक्रिया के प्रभाव से निम्नवर्त्ती कमल क्रमशः जागरित होकर ऊर्ध्वमुख होजाते हैं और क्षरित अमृत धारण करने में एवं पुष्टिलाभ करने में समर्थ होते हैं। जीव के ऊपर अनुकम्पा-वशतः ही सहस्रारकमल अधोवदन है। यह तुरीय स्थान है—पुरुषोत्तम की अधिष्ठान भूमि है। यह चक्रातीत है। कोई-कोई इन चक्रों को Ganglion Coccygeal, Pelvic Plexus, Solar Plexus, Cardiac Plexus, Cervi-

cal Plexus इत्यादि नाम से निर्देश करते हैं। कोई-कोई मूलाधारादि भूमियों को शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्तापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुरीय नाम से निर्देश करते हैं।

मूलाधार से स्वाधिष्ठान तक 'अन्नमय', स्वाधिष्ठान से मणिपुर तक 'प्राणमय', मणिपुर से अनाहत तक 'मनोमय', अनाहत से विशुद्धाख्य तक 'विज्ञानमय', और विशुद्धाख्य से आज्ञाचक्र तक 'आनन्दमय' कोष का स्थान है। उसके ऊपर की भूमि को 'कोशातीत' कहा जाता है। अन्नमय कोष तमःप्रधान स्थूलदेह की, प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय कोष रजःप्रधान सूक्ष्मदेह की, आनन्दमय कोष सत्त्वप्रधान कारणदेह की अवस्था और आज्ञाचक्र के ऊपर तथा सहस्रार (निर्गुण अवस्था) के नीचे तक विशुद्ध सत्त्वमय अवस्था कही जासकती है। मूलाधार से सहस्रार तक एवं सहस्रार से मूलाधार तक एक विद्युत्स्रोत यातायात करता रहता है। इस स्रोत की गति को अनुभव करना अर्थात् इस स्रोत में पतित होने का नाम ही है 'स्रोतापन्न' होना। सहस्रार को चक्र नहीं कहा जाता क्योंकि यहाँ जीव स्व-स्वरूप में निमज्जित, सामरस्य में विभोर रहता है—यह अद्वैत भूमि है। सृष्टिकाल में इस स्रोत की गति सहस्रार से मूलाधार की तरफ़ होती है और लय के समय यही गति मूलाधार से सहस्रार की तरफ़ लक्षित होती है। (तुलनीय शङ्कर—"नद्याः प्रतिस्रोतगमनमिव")। अगले पृष्ठ पर चित्र देखिए।

ऋषिगण सुषुम्नास्थ एक-एक चक्र (यंत्र) में मन स्थिरकर और वहाँ प्राणवायु को संचालितकर जो फल लाभ होता है प्रत्यक्ष कर-गये हैं। जगत् से जगन्नाथ के निकट जाने के रास्ते में जिन जिन शक्तियों का और ज्ञान का स्फुरण होता है तथा जो जो अभिज्ञताएँ लाभ होती हैं उनके सब रहस्य उन्होंने विभिन्न चक्रों में अनुभव किये। दर्शनविज्ञान के, ज्ञानभूमि के तथा साधनरहस्य के सभी तत्त्व इन चक्रों में निहित हैं। चित्त में जिस समय जो भाव लाने की इच्छा हो उस

सहस्रार (कोशातीत)

सहस्रदल, गुणातीत, तुरीय।

देह	कोश	चक्र
सत्त्वगुणप्रधान कारण देह	आनंदमय कोश	**आज्ञाचक्र** (भ्रूमध्य में), द्विदल, शिव + हाकिनी शक्ति।
रजोगुणप्रधान सूक्ष्म देह	विज्ञानमय कोश	**विशुद्धाख्य** (कण्ठ देश में), Cervical Plexus, षोड़शदल, व्योम, सदाशिव + हाकिनी शक्ति।
	मनोमय कोश	**अनाहत** (हृदय में), Cardiac Plexus, द्वादशदल, मरुत्, ईश्वर + काकिनी शक्ति।
	प्राणमय कोश	**मणिपुर** (नाभिदेश में), Solar Plexus, दशदल, तेजः, रुद्र + लाकिनी शक्ति।
तमोगुणप्रधान स्थूल देह	अन्नमय कोश	**स्वाधिष्ठान** (लिङ्गमूल में), Pelvic Plexus, षड्दल, अप्, विष्णु + राकिनी शक्ति।
		मूलाधार (गुह्यदेश में), Ganglion Coccygeal, चतुर्दल, क्षिति, ब्रह्मा + डाकिनी शक्ति।

भाव के केन्द्र में मन स्थिर करने से चित्त में उस भाव का स्फुरण स्वतः होंने लगता है, साधकमात्र यह स्वीकार करने को बाध्य है। देह यंत्र के भीतर प्राण और मन के समस्त केन्द्र वर्तमान हैं। मन जिस केन्द्र में ध्यान करेगा प्राण तत्क्षण उसी केन्द्र में जायगा; पुनः प्राण जिस केन्द्र में जायगा मन भी उसी केन्द्र में आकर उपस्थित होगा। तब उस केन्द्र के समस्त तत्त्व और भाव स्वतः स्फुरित होने लगेंगे। साधनराज्य में प्राण की सहायता से मन को एवं मन की सहायता से प्राण को वशीभूत करने की व्यवस्था है। इस प्रणाली द्वारा देहस्थ यंत्र उस भाव के विकास में सहायक होजाते हैं। भाव और भव का सम्बन्ध एक अद्भुत रहस्य है। इसमें कौन अग्रगामी है यह निर्णय करना कठिन है। भाव की पुष्टि के लिए यंत्र का एवं यंत्रस्थ तत्त्व-विकास के लिए भाव का प्रयोजन अनिवार्य है। सुषुम्ना मार्ग के किस केन्द्र (यंत्र) में किस भाव का अवस्थान है यह अच्छी तरह समझलेना होगा। यंत्र (चक्र) जिस प्रकार भाव के अभिव्यंजक हैं भाव भी उसी प्रकार यंत्र का उद्दीपक है। यंत्र-तंत्र-मंत्र रहस्य तंत्रशास्त्र का एक अतुलनीय रहस्य है। चक्रों के एवं उनके अधिष्ठाता देवताओं के कार्य-कलाप से हमें आभास मिलता है कि भगवत्-शक्ति हमारे विभिन्न केन्द्रों में किस प्रकार कार्य करती है। योगशास्त्र का भूमि-लाभ तत्त्व साधनराज्य की एक अतुलनीय सम्पत्ति है।

चक्रभेद-रहस्य—कुंडलिनी जागरित करना, षट्चक्रभेद करना एवं ग्रन्थिभेद करना—इन तीनों में एक सुन्दर सादृश्य देखने में आता है। प्राचीन ऋषियों ने मन और प्राण का सम्बंध और दोनों के कार्य-कलाप की गवेषणाकर प्रत्येक चक्र में निहित एक महती शक्ति आविष्कार की। मन जहाँ जाता है प्राण उसका अनुगमन करता है। इनमें से एक को शान्त करने से दूसरा स्वतः ही शान्त होजाता है और यदि एक चंचल हो तो दूसरा शान्त नहीं हो सकता। स्थानविशेष में चित्त

संयम द्वारा अथवा स्थैर्यसम्पादनपूर्वक प्राण की क्रिया उत्पादन करने से अनेक कठिन रोगों का प्रतिकार किया जासकता है। व्यायामशास्त्र के विख्यात शिक्षक, सैन्डो, मन के तरफ़ विशेष लक्ष्य रखने का उपदेश करते थे। 'मन-प्राण ऐक्य करे डाक यशोदाकुमारे'—यह जनश्रुति इसी रहस्य को प्रचार करती है।

योग की विशिष्ट क्रियाएँ प्रधानतः दो प्रकार से साधित होती हैं:—

(१) मन की सहायता से ध्यान योग अथवा भक्तियोग अवलम्बन करके (२) प्राण की सहायता से क्रियायोग अवलम्बनकरके।

कहना अनावश्यक होगा कि एक को अवलम्बन करने से दूसरे की सहायता स्वतः ही मिलजाती है। उत्तम साधकों ने इन दोनों प्रणालियों में एक समन्वय साधनकर साधनराज्य को सुगम करदिया है। प्राणवायु की सहायता से कार्यसिद्धि लाभ करने में कुछ बल प्रयोग करना पड़ता है—इस कारण यह हठयोग के अन्तर्गत है। इस प्रणाली में विपद की संम्भावना भी यथेष्ट है। राजयोग के साधक इस प्रकार बलप्रयोग न कर ध्यान और संयम की सहायता से अपेक्षाकृत सहज उपाय से सफलता लाभ करलेते हैं। ऋषियों ने देखा कि हमारी सब वक्रगति के मूल में हैं—वासना (संस्कार), वृथाकर्तृत्वाभिमान एवं कामना (आसक्ति, स्वार्थ, भोगस्पृहा, फलाकांक्षा, प्रतिष्ठा-मोह)। इसलिए ये सब मलिनताएँ और बाधाएँ जितनी ही चित्त से दूर की जायँगी उतना ही हमारा भगवद्धाम जाने का पथ सरल, सुन्दर और सुगम होजायगा। भक्तियोग के साधकों की चित्तशुद्धि और ध्यानजयादि के फलस्वरूप यही कार्य अज्ञातपूर्वक साधित होते देखे गये हैं। ध्यानयोग की सहायता से हठयोग की क्रिया भी सहज साधित हो जाती है।

विचार करिये कि मूलाधार चक्र स्थूलदेह की क्रिया में व्यस्त है। इसके चार दल में जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि का खेल होरहा है। विचार, संयम और अभ्यास द्वारा यहाँ के घूमते हुए चक्र का परिधि क्रमशः

संकुचित होने लगता है और उसी के साथ जन्म-मृत्यु आदि की चिन्ता और प्रभाव चित्त से लोप होने लगते हैं। तब यह साधक को विचलित नहीं कर सकते। तब साधक का मन दलपरिधि परित्यागकर केन्द्रस्थल में जाकर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। फलतः साधक को ऊर्ध्वस्थ स्वाधिष्ठान चक्र की भूमि लाभ होती है। ध्यान, जप, प्राणायामादि क्रिया साधक की इस ऊर्ध्वगति लाभ में सहायक होते हैं इसमें सन्देह नहीं। स्वाधिष्ठान चक्र रिपुस्थान है। छः रिपु (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) इसके छः दल हैं। विचार-जपादि के फलस्वरूप इस चक्र का परिधि भी कम होने लगता है और साधक के चित्त को केन्द्रस्थल में लेजाता है। तब साधक अनायास रिपुओं को जयकर ऊपर के चक्र की भूमि लाभ करता है। इस प्रकार साधक एक एक चक्र भेदकर जब साधनराज्य की सर्वोच्चभूमि लाभ करता है अर्थात् सहस्रार में पहुँचता है तब उसकी जपादि साधना चिन्ता-चेष्टा-विवर्जित होकर स्वाभाविक अवस्था लाभ करती है। समस्त जगत्-चक्र तब वक्रता त्यागकर भगवद्धाम में परिणत होजाता है। साधक तब ब्रह्मानन्दरस में निमज्जित हुआ ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है।

जपादि सब साधनाओं के भीतर हम तीन तत्त्व देखते हैं:—(१) भगवान के निकट जाना, (२) भगवद्भाव से परिभावित होना, (३) सब तत्त्वों को भगवत्-तेज और भगवत्-शक्ति से परिभावितकर भगवत्-कार्य साधन में नियुक्त करना। अनेक साधक भगवत्-धाम में पहुँचकर, भगवद्भाव से परिभावित होकर, ब्रह्मानन्द-रस में ऐसे विभोर होजाते हैं कि वे अपने देह की सुध अथवा जीव की दुःखावस्था बिलकुल भूल जाते हैं। दूसरे तरफ़ भगवान बुद्ध थे जो एक जीव को भी अमुक्त छोड़कर अपनी मुक्तिलाभ से तृप्त नहीं थे। ऐसे साधक अपने सब चक्रों में—सब तत्त्वों में—भगवत्-शक्ति को अवतरण कराकर (Descent of Divine) भगवत्-मय होकर भगवत्कार्य साधन में

तत्पर रहते हैं। वैदिक ऋषियों की इस ओर प्रधान दृष्टि थी; वेद के मंत्र एवं स्वयं गायत्री इसके साक्षी हैं। 'आविरावीर्म्म एधि' एवं 'धियो यो नः प्रचोदयात्' प्रभृति मंत्र यही रहस्य प्रकाश करते हैं। जिनके द्वारा जगत् में विशेष कार्य कराना होता है उनको भगवान् सहस्रार में पहुँचकर ब्रह्मानन्द में डूबे नहीं रहने देते। उनके सब तत्त्वों में भगवत्-शक्ति संचारितकर, उनके भीतर स्वयं पूर्णतया अवतीर्ण होकर, उनको अपने समान शक्तियुक्त कर मानो एक पुरुषोत्तम बना देते हैं।

ग्रन्थिभेद

चक्रों में तीन चक्र (मणिपुर, अनाहत, आज्ञा) तीन ग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि) नाम से विशेषतः उल्लेखयोग्य हैं। ये तीन ग्रन्थि त्रिविध एषणा (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा) नाम से भी परिचित हैं। संन्यास लेने के समय ये त्रिविध एषणा-त्याग की व्यवस्था है। ब्रह्मग्रन्थिभेद के फलस्वरूप साधक कामादि कुप्रवृत्ति, सृष्टिवासना इत्यादि को पूर्णतया जीतकर, जितेन्द्रिय होकर, प्रसिद्धि लाभ करता है। विष्णुग्रन्थिभेद होजाने पर वैष्णवीमाया, धन-ऐश्वर्यादि का प्रलोभन उसको विचलित नहीं करसकता। रुद्रग्रन्थिभेद के पश्चात् साधक प्रतिष्ठामोह पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। तीनों ग्रन्थिभेद होजाने पर साधक अमृतत्व लाभ करने में समर्थ होजाता है—'गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तः अमृतमश्नुते'। ये तीन ग्रन्थि तीन विशेष चक्र हैं। ध्यान-जप-प्राणायामादि कार्य उत्तमरूप से अनुष्ठित होने पर चक्रभेद अथवा ग्रन्थिभेद क्रियादि स्वतः साधित होजाती हैं।

ग्रन्थिभेद का अर्थ है बन्धन से मुक्तिलाभ करना। ये बन्धन त्रिविध हैं—देहज, प्राणज, आत्मज। जगत् में एक विराट् स्थूलदेह है। व्यष्टिदेह इस विराट्देह के ऊपर समुद्र की तरङ्ग के समान उठती है और खेल-कूदकर फिर समुद्रजल में लीन होजाती है। हम बुद्धि के

दोष से, संस्कार के वश होकर, एक-एक लहर को अपनी समझकर उसमें आबद्ध होजाते हैं। यह बन्धन कल्पना-प्रसूत है। इस कल्पित बन्धन को दूरकरके समस्त देहों को आत्मा के देहरूप में उपलब्ध करना ब्रह्मग्रन्थिभेद का लक्ष्य है। प्राण-मन-विज्ञानमय कोश में हम सर्वव्यापी प्राण-मन आदि की सत्ता को भूलकर, एक निर्दिष्ट प्राण-मन में अपनी अहन्ता स्थापनकर, उसके सुख-दुःख में ऐसे आबद्ध होजाते हैं कि व्यष्टिदेह के सुख के लिए समष्टि प्राण-देह को आघात पहुँचाने में भी दुबधा बोध नहीं करते। जगत् में सर्वत्र एक ही प्राण का खेल होरहा है, सब का सुख-दुःख एक ही में सम्मिलित है—यह तत्त्व उपलब्धकर व्यष्टिदेह के सीमाबद्ध सुख-दुःख को समष्टिगत सुख-दुःख में मिला देना प्राणग्रन्थि अथवा विष्णुग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। आत्मा का धर्म आनन्द है, उसको एक सामान्य देह के आनन्द में सीमाबद्धकर एक व्यष्टिदेह के आनन्द के लिए हम समष्टिदेह का आनन्द नष्ट करने में दुबधा बोध नहीं करते। इस सीमाबद्ध व्यष्टिदेह का बन्धन दूरकर, समष्टिगत आत्मा का स्वरूप उपलब्ध कर, सब जीवों के हितसाधन और आनन्दविधान में रत रहना ही रुद्रग्रन्थिभेद का उद्देश्य है। तत्त्वतः, अपने कल्पित व्यष्टिभाव को दूरकर समष्टिभाव में स्थितिलाभ करने की चेष्टा ही व्यष्टिभाव का ग्रन्थिभेद है। अपने को सबके सङ्ग अभेदरूप में सम्मिलित समझना होगा। बहुत्व में एकत्व स्थापन करना (एकत्वानुभूति) और स्वार्थ व परार्थ का अपूर्व समन्वय साधन करना ग्रन्थिभेद का उद्देश्य है।

ब्रह्मग्रन्थिभेद होजाने पर जीव-जीव में भेदभाव दूर होजाता है और साधक समष्टिभाव में स्थितिलाभ करता है—तब इष्टमूर्त्ति भी मानो विश्वरूप धारण करती है। विष्णुग्रन्थिभेद होजाने पर साधक खण्ड-प्राण में महाप्राण का भाव अनुभव करने लगता है—तब वह अपने को सबके सुख में सुखी और सबके दुःख में दुःखी बोध करता

है। रुद्रग्रन्थिभेद होजाने पर साधक एक अखण्ड अद्वय भाव में स्थिति लाभ करता है। ब्रह्मग्रन्थिभेद के फलस्वरूप साधक सत्यप्रतिष्ठित होता है—समस्त जीव-जगत् को एक ही सत्-स्वरूप के विभिन्न अङ्गरूप में अनुभव करता है—सभी मानो एक ही के विभिन्न रूप में आत्म-प्रकाश हैं। तब सर्वभूत में एक ही माँ का दर्शन लाभ होने के कारण 'ममात्मा सर्वभूतात्मा' का भाव अनुभव में आता है। विष्णुग्रन्थिभेद के अनन्तर प्राणप्रतिष्ठा लाभ होने के फलस्वरूप सब जीवों में एक महा-प्राण की लीला अनुभव में आती है। तब सब कर्म अपने ही कर्म मालूम पड़ते हैं। सबके ऊपर एक प्रेमभाव आजाता है। इस अवस्था में साधक सबके सुख-दुःख में अपने को सुखी-दुःखी बोधकरता है और सबके सुखसम्पादन के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करता है। रुद्र-ग्रन्थिभेद के पश्चात् साधक आनन्दप्रतिष्ठा लाभकर सबके आनन्द में स्वयं आनन्द भोग करता है। ग्रन्थिभेद के फलस्वरूप जाग्रत अवस्था में जीवसेवा, स्वपनावस्था में मैत्रीभावना और समाधि में सर्वत्र एक-त्वानुभूति लाभ होती है।

त्रिविधग्रन्थि भेदकर ब्रह्म में स्थिति लाभकरने की व्यवस्था देखी जाती है। दुर्गासप्तशती में मधुकैटभवध द्वारा सत्यप्रतिष्ठित होकर, अपना ससीमभाव दूरकर, सर्वत्र ब्रह्मानुभूति द्वारा ब्रह्मग्रन्थिभेद करने की व्यवस्था है। महिषासुरवध द्वारा प्राणप्रतिष्ठित होकर, सर्वत्र एक महाप्राण का खेल दर्शनकर, अहङ्कार को पूर्णतया दूरकरके विष्णु-ग्रन्थिभेद करने की व्यवस्था है। शुम्भ-निशुम्भवध द्वारा आनन्दप्रतिष्ठित होकर, सर्वत्र ब्रह्मानन्द अनुभवकर, रुद्रग्रन्थिभेद करने की व्यवस्था है। त्रिविध कर्मवासना का बीज भी मुक्ति में, भगवत्-प्राप्ति में, बाधक है। ब्रह्मग्रन्थिभेद द्वारा प्रारब्ध कर्म का, विष्णुग्रन्थिभेद द्वारा सञ्चित कर्म का एवं रुद्रग्रन्थिभेद द्वारा आगामी कर्म का बीज दग्ध होजाता है। स्थूलदेह का संस्कार ब्रह्मग्रन्थिभेद से, सूक्ष्मदेह का संस्कार

विष्णुग्रन्थिभेद से एवं कारणदेह का संस्कार रुद्रग्रन्थिभेद से साधित होते हैं। प्रथमग्रन्थिभेद द्वारा पुत्रैषणा, द्वितीयग्रन्थिभेद द्वारा वित्तैषणा एवं तृतीयग्रन्थिभेद द्वारा लोकैषणा दूर होकर गीतोक्त प्रकृत संन्यास का अधिकार लाभ होता है। कहना अनावश्यक है कि लोकैषणा दूर करना ही सर्वापेक्षा कठिन है।

कुण्डलिनी

चित्-स्वरूप आत्मा नित्य-शक्ति-समन्वित हैं। आत्मा सदा एकरस एवं निष्क्रिय रहते हैं किन्तु उनकी शक्ति कभी सक्रिय और कभी निष्क्रिय होती है। यह शक्ति चित् और अचित् भेद से प्रधानतः दो प्रकार की है। चित्-शक्ति चित्स्वरूप है—आत्मा की समवायिनी शक्ति है, यह उनसे अभिन्न है। किन्तु अभिन्न होने पर भी इसकी दो अवस्थाएँ हैं। जब यह शक्ति निष्क्रिय होती है तो इसका कुछ भी परिचय नहीं मिलता। इसीलिए चिदात्मा शिव नित्य प्रकाशमान होते हुए भी अप्रकाश मालूम पड़ते हैं। किन्तु शक्ति जब सक्रिय होती है अर्थात् क्रियाद्वारा आत्मप्रकाश करती है तब उसके आश्रय से शिव भी आत्मप्रकाश करते हैं। वस्तुतः शिव की व्यक्त अथवा अव्यक्त कोई भी अवस्था नहीं। वे नित्य स्वप्रकाश हैं और शक्ति की व्यक्तता-अव्यक्तता उनमें केवल आरोपित है।

अचित्-शक्ति शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार की है। यह परिग्रह-शक्ति अथवा उपादान-शक्ति (लीला-शक्ति) नाम से परिचित है। यही जगत् की उपादान है। शुद्ध अचित्-शक्ति मायातीत विशुद्ध जगत् की उपादान है—इसको वैष्णव 'शुद्धसत्त्व' और तान्त्रिक 'बिन्दु या महामाया' कहते हैं। अशुद्ध अचित्-शक्ति से अनन्त ब्रह्माण्डसमन्वित समग्र मायिक जगत् प्रकाशित होता है। शुद्ध अचित्-

शक्ति का नामान्तर 'कुलकुण्डलिनी' है। जब तक क्रियारूपा चित्-शक्ति का अभिमत न मिले तब तक यह सुप्तवत् रहती हैं और इनमें किसी प्रकार का क्षोभ नहीं होता। यह सृष्टि की पूर्वावस्था है। जब चित्-शक्ति के आघात से सुप्त महामाया जागरित हो उठती हैं तब उक्त महामाया में अवस्थित सङ्कुचित चिदणुराशि भी जाग उठती है। यह जागरण नाद और ज्योतिरूप में आत्मप्रकाश करता है। ज्योतिर्मण्डल के बाहर छाया अथवा तमःरूपा मायाशक्ति विद्यमान हैं। शुद्ध सृष्टि के पश्चात् मायाधिष्ठाता ईश्वर के सविकल्प ज्ञानरूप ईक्षण के प्रभाव से माया क्षुब्ध होजाती है। तब माया-गर्भस्थित सब अणु अपने-अपने अधिकारानुसार अधिकारी पद लाभ करते हैं अथवा कोई मायिक सृष्टि के अन्तर्गत किसी न किसी स्तर में प्रकाशित होते हैं।

पूर्ववर्णित सुप्ता महामाया ही 'कुण्डलिनी' शक्ति नाम से परिचित हैं। इनको कुलकुण्डलिनी इसलिए कहा जाता है कि तान्त्रिक साहित्य में 'कुल' एवं 'अकुल' शब्द यथाक्रम 'शक्ति' एवं 'शिव' के वाचक हैं। अतएव 'कुलकुण्डलिनी' शब्द से शक्ति की कुण्डलित अथवा वक्रभावापन्न अवस्था विदित होती है। शक्ति जब सरल और स्वाभाविक स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती हैं तब वे चिद्रूप में एवं शिव के साथ अभिन्नरूप में विराज करती हैं। तब जीव-जगत्रूप में सृष्टि का उन्मेष नहीं होता। किन्तु वक्रता के साथ-साथ अर्थात् शक्ति की प्रसुप्तावस्था में जीवजगत् का आविर्भाव होता है। जीव-जगत् में ही नहीं वरन् प्रत्येक परमाणु में यह सुप्तभावापन्न शक्ति विद्यमान है। इसको जब तक सरल न किया जाय तब तक जीव-जगत् को शिवरूप में अथवा आत्मस्वरूप में अनुभव करना सम्भव नहीं। शक्ति के जागरण के साथ ही साथ उसकी वक्रता तिरोहित होने लगती है। इसके फलस्वरूप हिंसा, द्वेष, अहङ्कार, दम्भ, काम, क्रोधादि वक्रभा-

वानुकूल वृत्तियाँ प्रेम, दाक्षिण्य, सरलता, स्वच्छन्दता, वैराग्य, ज्ञानादि सद्गुणों में परिणत होजाती हैं। एकशब्दमें, समस्त तामसिक और राजसिक भाव सात्त्विक भाव में रूपान्तर होजाते हैं।

चिद्रूपा शक्ति का प्रकृत वासस्थान सहस्रार में—शिव के निकट कैलास में—है किन्तु जीवदेह में वे अचिद्रूप में मूलाधार में गहन निद्रा में अभिभूत हैं। स्थूल जगत् में वे स्थूलभावापन्न हुई अचेतन-प्राय हैं जिसके फलतया उनका चिन्मय स्वरूप प्रायः सर्वत्र अस्वीकृत है। इसीकारण जड़भाव—नास्तिकभाव—सर्वत्र फैला हुआ है। इसीकारण अधिकांश लोग स्थूल सुख, स्वार्थ और निजसुखस्पृहा में इतने व्यस्त हैं। कोई भूलकर भी एकबार अपने प्रकृत स्वरूप की ओर नहीं फिरना चाहता। जगत् में सर्वत्र ईर्षा, द्वेष, अशान्ति इसी का फल है।

जीव की आत्मविस्मृत अवस्था ही कुण्डलिनी की निद्रा है। जीव वस्तुतः शिवस्वरूप है किन्तु आत्मविस्मृत होजाने के फलस्वरूप वह अपने शिवमय स्वरूप को अनुभव नहीं करपाता। आत्मा अथवा भगवान् की महिमा को अनुभवकर सर्वत्र प्रचार करने के लिए ही प्राणशक्ति का स्फुरण होता है किन्तु विरुद्ध शक्ति के सङ्घर्ष के कारण जब तक पूर्णरूपमें- आत्मप्रकाश न हो तब तक ऐसा नहीं हो पाता। यह शक्ति कारण, सूक्ष्म और स्थूल स्तर में अर्थात् मायिक जगत् में निरन्तर बाधा प्राप्त करने के कारण कालचक्राकार में आवर्तित होने लगती है। इस आवर्तन के अवसान पर वह आत्मस्वरूप को भी उपलब्ध करेगी यह निश्चित है। बहिर्जगत् में आकर जीव वैष्णवी माया से आच्छन्न होकर अपने स्वरूप और धाम को भूलकर अर्थात् सुषुम्ना के पथ से विस्मृत हुआ, ईड़ा-पिङ्गला के मार्ग में विचरण करने लगता है। क्रमशः संस्कार अथवा वासना, कर्तृत्वाभिमान, भोग-स्पृहादि के हाथ में पड़कर अशेष यातना भोग करता है। किन्तु

भगवान् के मङ्गलमय विधानानुसार उसे फिर लौटना पड़ेगा। कारण, स्व-स्वरूप में पुनः प्रतिष्ठित हुए बिना वह शान्ति लाभ नहीं कर सकता। साधन के फलस्वरूप यह प्रत्यावर्तन का पथ सुगम और अल्पकाल-स्थायी होसकता है। कोई-कोई भाग्यवान् पूर्व सुकृति के फलस्वरूप शास्त्र, गुरु और विवेक की कृपा से साधना के इस पथ में स्रोतापन्न होकर, सुषुम्नावाही ऊर्ध्वस्रोत में नौका को छोड़कर, स्वधाम लौटने में समर्थ होते हैं। तब कुण्डलिनी शक्ति अपने कुण्डल अथवा वक्रभाव को त्यागकर सरल होकर जाग उठती हैं और इसके फलस्वरूप साधक ईड़ा-पिंगला का पथ परित्यागकर सुषुम्ना के पथ में यातायात करते-करते—षट्चक्रभेद कर—ऊर्ध्व की ओर उत्थित होता है। जीव को ऊपर सहस्रार से भगवान् बुला रहे हैं और नीचे मूलाधार में विषय आकर्षण कर रहे हैं। नीचे का विषयाकर्षण प्रबल हो तो भगवदाकर्षण अनुभव नहीं किया जासकता। इसलिए सर्वदा ऊर्ध्व दृष्टि होकर कृपा प्रार्थना करना आवश्यक है। मन्त्र-योग की सहायता से मन का सुषुम्नापथ में मूलाधार से सहस्रार तक, षट्चक्र-भेदकर, चढ़ना-उतरना करते रहने से कुण्डलिनी की निद्रा सम्पूर्णतः भङ्ग होजाती है। भूतशुद्धि भी तब स्वतः साधित होजाती है। कुण्ड-लिनी ही जीवदेह में श्वासक्रियारूप में प्रवाहित हुई जीवनधारण में सहाय हैं। साधारण जीव की देह में कुण्डलिनी की श्वासक्रिया बन्द होजाने पर मृत्यु अवश्यम्भावी है। कुण्डलिनी के ध्यान से व्याधि और अकालमृत्यु दूर होती हैं और आत्मज्ञान प्रकाशित होता है। जीव के मन और प्राण-क्रिया के सहित कुण्डलिनी का बहुत निकट सम्बन्ध है। इसीलिए प्राणायामादि क्रिया कुण्डलिनी जागरित करने में विशेषतः सहायक हैं। विमर्श शक्ति के प्रसारण और आकुञ्चन के सहित प्राणवायु का सहस्रार से मूलाधार गमन एवं पुनः मूलाधार से सहस्रार प्रत्यावर्त्तन क्रिया साधित होजाती हैं। इसके फलस्वरूप देह के

सब तत्त्वों में शक्ति सञ्चारित होकर सब तत्त्व भगवत्-कार्यसाधन की योग्यता लाभ करते हैं--इसी का नाम है मर्त्य में स्वर्गराज का अवतरण अथवा दिव्यदेहप्राप्ति।

जीवदेह में प्राण का मन के साथ एक अति मधुर सम्बन्ध है। मन जहाँ जाता है प्राण भी वहीं उपस्थित होने की चेष्टा करता है। पुनः प्राण जहाँ क्रिया करता है मन वहाँ जाये बिना नहीं रह सकता। यही मन और प्राण की एकता साधन कर, कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत कर, शास्त्र में भगवान् का नाम लेने का उपदेश पाया जाता है। 'मन-प्राण ऐक्य करे डाक यशोदा कुमारे'। मन को भगवान् की इच्छाशक्ति एवं प्राण को भगवान की क्रियाशक्ति (कुलकुण्डलिनी) रूप में भी वर्णन किया गया है। मन ही ब्रह्म का विवर्तन माना गया है। मन ही विश्व ब्रह्माण्ड एवं उसका सृष्टा, रक्षक व संहारकर्त्ता है। मन अथवा इच्छाशक्ति ही संस्कारवश वक्रता को प्राप्त होकर प्राणशक्ति को भी वक्रकर चक्र में घुमाती है जिसके फलस्वरूप स्वच्छ और सरल ज्ञान आच्छन्न होकर सुप्तावस्था में परिणत हो जाता है। मन को सरल कर सकने से ही मन, प्राण के सहित युक्त होकर प्राण को भी सरल कर, सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करता है। इसलिए मन ही मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति है। इसी मन को सरल करके और चित्-शक्ति में परिणत करके श्रीकृष्ण ने कुब्जा को सीधा किया था और कंसासुर का वध किया था। प्राण और मन के सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश होने से ही नादध्वनि सुनाई देती है। यही कलनाद सुनकर जीवरूपी गोपीगण सबकुछ त्यागकर एकदिन कृष्णान्वेषण में बाहर चले गये थे। मन राक्षस को वशीभूत करने के लिए ही उसको मेरुदण्ड के भीतर सुषुम्ना मार्ग में चढ़ने-उतरने का काम करने का उपदेश दिया गया है।

कुंडलिनी को जागरित करने के लिए नाना प्रकार के उपाय शास्त्र

में निर्दिष्ट किये गये हैं। इनमें से जो उपाय क्रियायोग के अन्तर्गत हैं अर्थात् वज्रासनादि आसन, शक्तिचालनादि मुद्रा, ब्रह्मचर्यादि नियम, कृत्रिम प्राणायामादि क्रिया, इत्यादि—ये सब सिद्ध गुरु के निकट बैठकर अत्यन्त सावधानी से अनुष्ठान करने योग्य हैं। आहारविहारादि सब विषयों में सुसंयत होकर गुरु के आज्ञानुसार उनकी उपस्थिति में अपनी चेष्टापूर्वक फललाभ करने की चेष्टा करनी होती है। इस प्रणाली में किसी प्रकार की त्रुटि-विच्युति होने से फललाभ होना तो दूर रहा, नाना प्रकार के दैहिक और मानसिक विकार उत्पन्न हो सकते हैं। वर्तमान समय में सिद्ध योगी अत्यन्त विरल होने के कारण साधारण लोगों के लिए यह क्रियामार्ग आश्रय करना समीचीन नहीं मालूम होता। सिद्ध-योगी अपनी इच्छापूर्वक अपनी तपःशक्ति के प्रभाव से अनुगत शिष्य की सुप्त कुंडलिनी को प्रबुद्धकर उसके ऊर्ध्वमुख संचारित होने के प्रति-बन्धक दूर कर सकते हैं—प्राचीनकाल में, मध्य युग में एवं वर्तमान समय में भी इसके अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। किन्तु सिद्धयोगी अत्यन्त विरल एवं साधारणतः सबके लिए सुलभ न होने के कारण स्वयं ही सहज उपाय से कुंडलिनी साधन की चेष्टा करनी चाहिए।

कुंडलिनी साधन का अन्यतम श्रेष्ठ उपाय है ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय साधन। ज्ञान और भक्तियोग की साधना एवं संयमादि के फलस्वरूप सुषुम्ना का पथ स्वतः खुल जाता है और साधक को स्रोता-पन्न करदेता है। मन को स्थिर और शान्त करने का सहज उपाय नादानुसंधान नाम से परिचित है। किन्तु जब तक कुंडलिनी शक्ति किंचित परिमाण में भी जागरित न हो तब तक नादध्वनि सुनाई नहीं देती। इसलिए नादानुसंधान का अभ्यास प्रथमावस्था में सबके लिए सम्भवपर नहीं। सर्वप्रथम मन को बाह्य विषयों से प्रत्याहारकर एवं यथाशक्ति संयतकर मूलाधार प्रदेश में संलग्न कर सकने पर अल्पसमय के अभ्यास से सुफल पाने की सम्भावना है। इस प्रकार मनोयोग के

फलस्वरूप मेरुदंड के निम्न प्रदेश में एक स्पन्दन अनुभूत होता है और क्रमशः शक्ति की क्रिया स्पष्टतः बोध होने लगती है। मालूम होता है कि जैसे एक वैद्युतिक प्रवाह देह के अधःस्थान से ऊर्ध्व स्थान तक मेरुदंड के भीतर संचरण कर रहा है। एकाग्रता के फलस्वरूप इस प्रवाह के साथ-साथ मन की ऊर्ध्व और अधोगति पुनः पुनः सम्पन्न होती हैं। तत्पश्चात् क्रमशः साधक के अधिकारानुसार नादध्वनि श्रुतिगोचर होती है एवं नाना प्रकार की ज्योतिः प्रकाशित होती है। नाद खुल-जाने के बाद नाद की संगति में अजपामन्त्र जप करना होता है। तब क्रमशः मन नाद के स्रोत में बहता हुआ अलक्ष्य में लय अवस्था प्राप्त करता है और इसके फलस्वरूप चकित के भाँति महाज्ञान का आविर्भाव होता है। अवश्य प्रथमावस्था में यह स्थायी नहीं होता किन्तु दीर्घकाल तक अक्लान्त अध्यवसाय सहित और श्रद्धापूर्वक यह प्रक्रिया साधन करने से मन के अनादि संस्कार और वासना विदूर हो जाते हैं और मन निर्मल होजाता है। तब सब बाह्य वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और अन्तर्मुखभाव स्थायी हो जाता है। उस समय विषयवैराग्य और विशुद्धानन्द का आस्वाद स्वतः ही उदित होता है।

शास्त्रों में बताया गया है कि भगवान् की अनन्तशक्ति प्रत्येक जीव में यहाँ तक कि प्रत्येक परमाणु में निहित है। साधारणतः यह शक्ति निद्रित अवस्था (latent form) में रहती है। इस निद्रित (latent) शक्ति को जागरित (patent) कर भगवदिच्छा पूरण करने में लगाने का नाम ही है कुंडलिनी-जागरण। शक्ति सुप्तभाव में सर्वजीव में निहित है। शिक्षा-साधन-विशेष सब आवरणों को दूरकर शक्ति के प्रकाश में सहायक होते हैं। किन्तु ये केवल निमित्त कारण हैं। निमित्त कारण प्रकाश की बाधा अतिक्रमकर प्रकाश में सहायमात्र होता है। शक्ति-प्रकाश के लिए नाना प्रकार की प्रक्रियाँ देखने में आती हैं। थोड़ा विचार करने ही से समझ में आसकता है कि हमारी समस्त

शिक्षा-दीक्षा-साधनप्रणाली इसी सुप्त-शक्ति को जागरित, प्रकटित और कार्यशील करने के उपाय हैं।

इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ीतत्त्व

नाड़ी शब्द का अर्थ है वाहक—जिसके द्वारा तरल वायवीय पदार्थादि वाहित अथवा संचारित होते हैं। इड़ा-पिंगलादि संज्ञावहा एवं क्रियावहा स्नायवीय नाड़ी हैं। ये स्नायुस्रोत (nervous current) वहन करती हैं। देह के समस्त कर्म (रक्त की गति, अन्नादि का परिपाकादि, हस्तपदादि का संचालन, प्रभृति) एवं समस्त मानसिक व्यापार इन्हीं इड़ा-पिंगला की सहायता से सम्पादित होते हैं। नाड़ी की अन्तर्मुखी अवस्था का नाम इड़ा है। इसके प्रभावकाल में हमारे इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि की गति बाहर से भीतर की तरफ़ चालित होती है। किसी किसी योगी के मतानुसार जब हमारी श्वास बाईं नाक से चलती है तब हमारी वृत्ति प्रधानतः अन्तर्मुखी होती है। इसलिए वे इड़ा को बाईं नाक की श्वास रूप में निर्देश करते हैं। अन्तर्मुखी चित्त का नाम चन्द्रतत्त्व है, अनेक लोग इड़ा को केन्द्राभिमुखी नाड़ी (afferent nerve) मानते हैं। जब श्वास बाईं नाक से चलती हो तब इड़ा का प्रभाव काल मानकर उस समय धारणा, ध्यान, जप, पूजादि कार्य करने का उपदेश किया गया है। इड़ा को बहिर्गति (जागतिक भाव) का नाशक मानकर 'वामा' नाम दिया गया है। इसको चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं।

योगशास्त्र में पिंगला सूर्यनाड़ी नाम मे विख्यात है। सूर्य जिस प्रकार जीव को बाहर की तरफ़, कार्यक्षेत्र की तरफ़, चालित करते हैं पिंगला नाड़ी की क्रिया भी उसी प्रकार जीव को बाहर की तरफ़, क्रियाकलाप की तरफ़, चालितकर बहिर्मुखी करती है। पिंगला सूर्य

की—विष्णु की—पालनशक्ति है, इसलिए यह जाग्रत अवस्था की द्योतक है। जब दक्षिण नासिका से श्वास प्रबल होती है तब हमारी प्रवृत्ति बाहर की ओर धावित होती है। इसलिए पिंगला के क्रियाकाल में भोजन, धावन, मैथुन, युद्धादि राजसिक कर्म किये जाते हैं। पिंगला-प्रवाह को केन्द्रातिग, बहिर्मुखी नाड़ी (efferent nerve) की क्रिया कहा गया है। जीव को अर्द्ध-नारीश्वर का प्रतीक मानकर देह के वाम भाग में चन्द्र और दक्षिण भाग में सूर्यतत्त्व निर्देश करने के लिये सम्भवतः इड़ा को वाम नासिका के एवं पिंगला को दक्षिण नासिका के प्रवाहरूप में वर्णन किया गया है। मेरुदण्डस्थ द्विविध वेष्टनी में बाहर की श्वेत वेष्टनी क्रियाशक्ति की सञ्चालक है एवं भीतर की धूसर वेष्टनी क्रियाशक्ति की अनेकांश रोधक है। प्रथम (पिंगला) की गति केन्द्रातिग और द्वितीय (इड़ा) की गति केन्द्रानुग है। वुडरौफ़ साहब ने इड़ा-पिंगला को समवेदनीय (Sympathetic) नाड़ी निर्देश किया है।

साधरणतः इड़ा से पिंगला में अथवा पिंगला से इड़ा में श्वास सञ्चारित होते समय सुषुम्ना नाड़ी को भेद करना होता है किन्तु इसमें बहुत ही अल्प समय लगता है। वास्तव में उतने समय में इड़ा या पिंगला किसी की क्रिया नहीं होती। दिन और रात की सन्धि के समान इड़ा और पिंगला की सन्धि सुषुम्ना नाम से विख्यात है। किन्तु यह सुषुम्नास्थिति क्षणिक होने के कारण एवं योगी के स्वप्रयत्न-उद्भूत न होने के कारण इससे साधन में सहायता नहीं मिलती। साधनबल से यह स्थिति अपने अधीन करना आवश्यक है। इड़ा-पिंगला की गति जिस परिमाण में तिरोहित होगी ठीक उसी परिमाण में सुषुम्ना में वायु की ऊर्ध्व गति लक्षित होगी। जब प्राण-प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी में चलना आरम्भ करता है तब ही उसका विकास लक्षित होता है। प्राण की स्पन्दित अवस्था को जीवावस्था एवं

निस्पन्द अवस्था को योगावस्था कहते हैं। दीर्घकाल तक प्राणायाम जपादि अभ्यास के फलस्वरूप प्राणवायु सुषुम्ना मार्ग में चलना आरम्भ करती है और सुषुम्ना में प्रवेश के मात्रानुसार लयभाव उपस्थित होता है। सुषुम्ना में प्राणवायु विलीन होजाने पर बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं रहता—इन्द्रियादि की क्रिया लोप होजाती है। तब शिवतत्त्व का साक्षात्कार होता है—इसी कारण सुषुम्ना को वह्नि-तत्त्व अथवा श्मशान और शिव को श्मशानवासी कहागया है। सुषुम्ना मार्ग के साधक को श्मशान में शव-साधक कहा जाता है। कारण इस अवस्था में देह शवभाव को प्राप्त होजाती है और देहाध्यास लुप्त होजाता है। श्वास-साम्य = इड़ा-पिंगला का साम्य = वक्रता दूर = स्वभाव के साथ योग = सुषुम्ना में प्रवेश लाभ = निर्भर की अवस्था लाभ = आत्मनिवेदन, अर्थात् इन सबका एक ही तात्पर्य है।

श्रुति कहती है कि सुषुम्ना अनाहत से सहस्रार तक विस्तृत है; कोई कहते हैं सुषुम्ना मूलाधार से सहस्रार तक विस्तृत है; कोई मणि-पुर से सहस्रार तक और कोई आज्ञाचक्र से सहस्रार तक विस्तृत बताते हैं। जो अपनी पूर्व साधना द्वारा जिस स्तर अथवा केन्द्र में अन्तःप्रवेश करने में समर्थ हुए हैं अर्थात् जो भूमि लाभ किये हुए हैं वे उसी स्थान से सुषुम्ना की ऊर्ध्वगति उपलब्ध करते हैं। त्रिवेणी इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना का मिलनस्थान है। भ्रूमध्य आज्ञाचक्र में ऊर्ध्व (मुक्त) त्रिवेणी एवं मूलाधार में अधः (युक्त) त्रिवेणी का उल्लेख देखने में आता है।

"यद्यपि मूलाधार से सहस्रार तक सुषुम्ना का विस्तार वर्णन किया गया है तथापि यह विशेषतः स्मरण रखना होगा कि ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना का स्रोत क्रमशः सूक्ष्मतर होकर प्रवाहित होता है और इसके फलस्वरूप गुणक्रियादि की अनुभूति भी क्रमशः भिन्न होजाती है। इसलिए योग-शास्त्रादि में वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्मनाड़ी नाम की तीन नाड़ियों का

उल्लेख पाया जाता है। ये वास्तव में सुषुम्ना से स्वरूपतः अभिन्न हैं तो भी स्तर भेदानुसार विभिन्न प्रकार की क्रिया की अभिव्यञ्जिका होने के कारण विभिन्न नाम से अभिहित हैं। अन्तिम अवस्था में सुषुम्ना का परिचय ब्रह्मनाड़ीरूप में प्राप्त होता है। यहां पुराणादि शास्त्रों की सुप्रसिद्ध ब्रह्मनाल है। इसके साथ महाज्योतिः-स्वरूप ब्रह्मतत्त्व का सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी योगी के अतिरिक्त और कोई भी लक्ष्य नहीं करसकता। कारण शिव-शक्ति स्वरूपतः अभिन्न हैं एवं परमावस्था में उनका पृथक् भाव एक हिसाब से अव्यक्तरूप में रहते हुए भी लक्षित नहीं होता। नाड़ी रेखास्वरूप है किन्तु सहस्रार दिगन्तव्यापी विराट् प्रकाशस्वरूप है। इस विराट् प्रकाश में ज्योतिः रेखा का स्वतन्त्र अस्तित्व होते हुए भी न होने के समान ही होजाता है। मूलाधार से ऊर्ध्वगति के समय जब अन्नोमयकोश में अभिमान होता है तो इड़ा-पिंगला की क्रिया चलती रहती है किन्तु जब सुषुम्ना जागरित होती है तब इस जागरण की मात्रानुसार इड़ा-पिंगला की क्रिया अवरुद्ध होजाती है। सुषुम्ना-जागरण होते ही अभिमान प्राणमयकोश में खेलने लगता है, तब प्राणमयकोश में प्रवेश के अनुपात से अन्नमयकोश से अभिमान खिसक जाता है। तदनन्तर प्राणमयकोश की क्रिया के अवसान पर अथवा इसी क्रियावस्था में ही गुरु की कृपा से अथवा साधन बल से वज्रिणी नाड़ी का द्वार उन्मुक्त होता है। तब शक्ति इस नाड़ी को आश्रयकर कार्य करने लगती है और अभिमान प्राणमयकोश त्यागकर मनोमयकोश का आश्रय लेता है। इसके पश्चात् वज्रिणी नाड़ी से चित्रिणी में प्रवेश लाभ होता है। तब अभिमान मनोमयकोश से विज्ञानमयकोश में चला जाता है। चरमावस्था में चित्रिणी नाड़ी भी परित्यक्त होजाती है। तब जो यथार्थ ब्रह्मनाड़ी है उसको आश्रयकर शक्ति का खेल होता है और अभिमान विज्ञानमयकोश त्यागकर आनन्दमयकोश का आश्रय लेता है। आनन्दमयकोश

में किसी प्रकार की मलिनता नहीं। इस कारण अभिमान इस स्थान से अन्यत्र नहीं जाता। इस अवस्था में आनन्दमयकोश की अनुभूति सम्यक्‌रूप में विद्यमान रहती है। यही जीव का मातृ-अङ्क में अवस्थान है। जब यह अभिमान आनन्दमयकोश से भी निवृत्त होता है तब जीवभाव नहीं रहता, तब महाचैतन्य अथवा परम साक्षी अवस्था में स्थिति लाभ होती है। (भक्त आनन्दमयकोश भेद करना नहीं चाहता)।"

मूर्त्तितत्त्व

'मूर्त्ति' शब्द का अर्थ है प्रकटित अथवा व्यक्त अवस्था। 'मूर्च्छ्' धातु के उत्तर 'क्ति' प्रत्यय लगाने से 'मूर्त्ति' शब्द बनता है। प्रकटित अथवा व्यक्त अवस्था मूर्त्ति कहलाती है। 'पूजा' शब्द का अर्थ है—श्रेष्ठ को अवलम्बन कर अपने को श्रेष्ठ करने की चेष्टा। इसलिए मूर्त्ति-पूजा का अर्थ हुआ भगवान के विकास जीव-जगत् तत्त्व को अवलम्बन कर श्रेष्ठता लाभ करने की चेष्टा अथवा व्यक्तावस्था को अवलम्बन कर अव्यक्त परमात्मतत्त्व में जाने की चेष्टा। अव्यक्त की व्यक्तरूप में परिणति अथवा विवर्तन आनन्दास्वादन करने और कराने के लिए, अपने को प्रकाश करने के लिए, है। अव्यक्त जब अव्यक्त रहते हैं अर्थात् व्यक्त नहीं होते तब वे अनेकों की धारणा के अतीत हैं। और व्यक्त जब अव्यक्त को प्रकाश करने के लिए अर्थात् ग्रहणयोग्य करने के लिए है तो यदि कोई व्यक्तावस्था के आश्रय से अव्यक्तावस्था में जाने की चेष्टा करता है तो उसको अस्वाभाविक अथवा निन्दनीय कहना उचित नहीं। प्रकाश व्यक्तिरूप में अथवा तात्त्विक रूप में गोचर होता है। हम जो मूर्त्तियाँ देखते हैं वे आदर्शतत्त्व की अथवा आदर्शपुरुष की प्रतीक हैं। आदर्श-तत्त्व अथवा आदर्शपुरुष की सहायता से आदर्शजीवन लाभ करने की चेष्टा को ही मूर्त्तिपूजा कहते हैं।

दुर्गा, काली आदि तात्त्विक एवं राम, कृष्ण, बुद्धादि ऐतिहासिक आदर्श का अवलम्बन श्रेष्ठता-लाभ में सहायक है यह स्वीकार्य है। यह भ. अस्वीकार नहीं किया जाता कि मूर्त्तिपूजा अनेकांश विकृत हो गई है किन्तु विचार करना उचित है कि कौन-सा अनुष्ठान अनधिकारी के हाथ में पड़ने से विकृत नहीं हो जाता। इसलिए शोधन की आवश्यकता है, ध्वंस की नहीं। कौन कहसकता है कि एक भाव को ध्वंस करके जो दूसरा भाव उसकी जगह स्थापित होगा वह ठीक ही होगा अथवा विकृत नहीं होगा। आदर्शमूर्त्ति को अवलम्बन कर किस प्रकार आदर्श जीवन लाभ किया जासकता है यह धारणा-ध्यान-समाधि तत्त्व के अन्तर्गत है। कहना अनावश्यक है कि मूर्त्ति द्वारा अमूर्त्त को सीमाबद्ध नहीं किया जाता—"नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वमूर्त्ते" आदि स्तव इसके साक्षी हैं। फिर जब व्यक्त-अव्यक्त, सगुण-निर्गुण दोनों भाव उन्हीं के हैं और उपनिषदों के ऋषिगण दोनों की समान प्रशंसा कर गये हैं तब इनमें से एक भाव को दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना उचित नहीं मालूम होता। कोई तत्त्व जब तक ऐतिहासिक रूपमें—स्थूल भाव में—आत्मप्रकाश नहीं होता तब तक वह अनेकांश हमारी धारणा के अतीत ही रहजाता है। इसलिए भगवान हमारे ग्रहणयोग्य होने के लिए जीवजगद्-रूप में प्रकटित हैं। सफ़ेद रंग सिवाय सफ़ेद पदार्थ के द्वारा और किसी प्रकार धारणा नहीं किया जा सकता। किन्तु ध्यान रखना होगा कि किसी विशिष्ट सफ़ेद पदार्थ में हम सफ़ेद तत्त्व को सीमाबद्ध न करें। सत्य तात्त्विक (abstract principle) है, मूर्त्ति उसकी प्रकटित अथवा व्यक्तावस्था (concretised form) है। हमारा लक्ष्य होना चाहिए तत्त्व (principle) किन्तु उसके प्रकटित (personified) हुए बिना ग्रहणयोग्य होने की सम्भावना कम है।

व्यष्टि–समष्टि तत्त्व

हिन्दु साधनप्रणाली में व्यष्टि-समष्टि तत्त्व का एक अति सुन्दर आभास पाया जाता है। जगत् का प्रत्येक तत्त्व, प्रत्येक परमाणु, परस्पर सम्बंधित है। एक दूसरे की सहायता के बिना कुछ नहीं करसकता। हम सब एक दूसरे के प्रति चिरकृतज्ञ हैं—यहाँ तक कि कोई भी मुझसे पृथक् नहीं है, सभी मेरे आत्मा की विभूति हैं, मेरे भगवान की संतान-संतति हैं। बालबच्चों को कष्ट पहुँचाकर कोई माँ-बाप को सुखी नहीं करसकता। इसीलिए जीवसेवा के द्वारा शिव की सेवा करने की ओर हमारा प्रधान लक्ष्य है। धर्म का प्रकृत स्वरूप कहागया है—"जाहाँ नाहि निजसुख अनुरोध" अर्थात् जहाँ अपने सुख के लिए कोई आग्रह नहीं है। 'कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा' की ओर हमारा प्रधान लक्ष्य है। 'आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा' काम होने के कारण त्याज्य है। हमारे भगवान सर्वव्यापी हैं। "वासुदेवः सर्वमिति", "नमस्ते जगद्-व्यापिके विश्वमूर्त्ते", "विश्वरूप-विश्वनाथ-विश्वजीव-विग्रहम्" आदि हमारे मंत्र हैं। "यत्र तत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्", "जित देखौं तित श्याम-मयी है", "जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है", आदि हमारे गुरु-वचन हैं। सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मोपलब्धि, ब्रह्मसेवा हमारे जीवन का लक्ष्य है। जितने विभूतिमत् पदार्थ हैं उनमें हम श्रीभगवान के अवतार की खोज करेंगे। हम तर्पण द्वारा समस्त जीवों की तृप्ति-विधान करने के लिए दीक्षित हैं; पंचमहायज्ञादि नित्य-कर्म द्वारा हम सब जीवों की सेवा करने के अभ्यस्त हैं; अपना निवेदित अन्न अतिथि-अभ्यागत जीव-जन्तु को प्रदान कर हमें अवशिष्ट अंशमात्र ही ग्रहण करने का आदेश है। हम परोपकार नहीं मानते; कारण हमारे लिए कोई 'पर' नहीं; सभी हमारे आत्मा की, परमात्मा की, विलास-विभूति अथवा लीला-स्वीकृत विग्रह हैं। हाय! ऐसे उदार जीवन्त धर्म की आज यह

दुर्दशा ! अद्वैतवाद के स्थान पर आगया है भेदवाद। सर्वत्र भगवद्दर्शन, सर्वत्र भगवद्ध्यान और सब जीवों की सेवा हमारी साधना का सार तत्त्व है।

सत्य-प्रतिष्ठा, प्राण-प्रतिष्ठा, आनन्द-प्रतिष्ठा

सत्य-प्रतिष्ठा—'सत्य' शब्द का अर्थ है षड् विध विकार वर्जित तथा नित्य। 'जायते-अस्ति-वर्धते-विपरिणमते-अपक्षीयते-नश्यति' यह छः विकार जिसको स्पर्श नहीं करसकते, जो सर्वदा समानरूप में अवस्थित रहता है, जिसके अस्तित्व के सम्बंध में कोई सन्देह नहीं होसकता, जो चरमतत्त्व है—वही सत्य है। 'प्रतिष्ठा' का अर्थ है स्थिति। हमारा चित्त जब सत्य में प्रतिष्ठा लाभ करेगा तब हम सत्य-प्रतिष्ठ होंगे। तब हमारी चक्षु आदि इन्द्रियाँ सब वस्तुओं में सत् को ढूँढ़ेंगी, सत् का दर्शन करेंगी और मन सत्य के अतिरिक्त और कुछ भी चिन्तन न करेगा। जगत् के समस्त पदार्थों को तब हम सत्य की विभूतिरूप में ग्रहण करेंगे। सत्य को छोड़कर और कुछ न देखेंगे, न सुनेंगे, न स्पर्श करेंगे, न चिन्तन करेंगे। जब हम सर्वदा सत्य के ध्यान में विभोर रहेंगे तभी हम सत्य-प्रतिष्ठ होंगे। तब हमारे कान सब शब्दों में सत्यस्वरूप श्रीभगवान के मधुर शब्द के अतिरिक्त और कुछ न सुन सकेंगे, नेत्र उनके भुवनमोहन रूप के अतिरिक्त और कुछ न देख सकेंगे, त्वचा उनके सुखमय स्पर्श के अतिरिक्त और कुछ स्पर्श न करेगी, जिह्वा उनके अमृतरस के अतिरिक्त और कुछ पान न करेगी, नासिका उनकी गात्र-गंध के अतिरिक्त और कोई गंध ग्रहण न करेगी, मुख उनके विषय के अतिरिक्त और कोई वार्त्ता न करेगा, पैर उनके पथ के अतिरिक्त और किसी पथ पर न चलेंगे, मन उनके चिन्तन के अतिरिक्त और कोई चिन्ता न कर सकेगा, बुद्धि एवं चित्त उनके संस्कार के अतिरिक्त अन्य सब संस्कार त्यागकर उनमें तन्मयता लाभ करेंगे—सर्वत्र उनका दर्शन

ध्यान और उपलब्धि के हेतु जब हम समाहित होंगे तभी हम सत्य-प्रतिष्ठ होंगे।

ब्रह्म द्वारा अथवा ब्रह्म में जीव-जगत् सृष्ट, परिणत अथवा विवर्तित है। सत्य ही यहाँ नित्य तत्त्व है, जीव-जगत् उसका नामरूप है। रज्जु सत्य है, नामरूप उसमें विवर्तित या कल्पित सर्प है; सिन्धु सत्य है, उसमें विकल्पित तरंग नामरूप है; सुवर्ण सत्य है, उसमें कल्पित कंचन आदि ज़ेवर नामरूप हैं; अमृतरूप सत्य है, उसमें कल्पित जन्म-मृत्यु आदि विकार नामरूप हैं। यह नामरूप सत्य को छोड़कर नहीं रहसकता—सत्य इस नामरूप के भीतर का परम तत्त्व है। कल्पित सर्प वास्तव में रज्जु ही है। शास्त्र अथवा गुरु के वाक्य में विश्वास करके, साहस करके, इस सर्प को पकड़ लो तो देखोगे कि रज्जु ही हाथ में आई। माँ-बाप, पति-पत्नी, लड़का-लड़की, शत्रु-मित्र, पत्र-पुष्प-फलादि अनित्य नामरूपों में वे ही परम सारतत्त्व तुम्हारे परमात्मा रहते हैं। परमात्मबुद्धि से इनका दर्शन करो, ध्यान करो, सेवा करो—तुम्हारा जीवन सार्थक होगा और सब पदार्थों के भीतर तुम उनका दर्शन तथा स्पर्श लाभ करोगे। जीव-जगत् तुम्हारे श्रीभगवान की देह है—सब के भीतर उनका दर्शन और ध्यान तुम्हारी साधना होनी चाहिए। "यो मां पश्यति सर्वत्र", "वासुदेवः सर्वमिति", प्रभृति वाक्य इसी भाव के साक्षी हैं। सभी रूपों, सभी नामों और सभी भावों के भीतर भगवदुपलब्धि करने की चेष्टा करो। प्रथमतः उनके अस्तित्व में विश्वास करो—विश्वास करो कि वे हैं, अनुभव करो कि वे सत्य हैं। इसके बाद सब पदार्थों को देखकर कहो—"हे ठाकुर, तुम जब सर्वव्यापी हो तो तुम निश्चय इनके भीतर भी हो, दया करके एकबार तुम इनके भीतर से मुझे दर्शन दो, फिर मैं तुमको दिक़ नहीं करूँगा, तुमको नमस्कार।" सब वृत्तियों में, मन के सभी भावों में, उनको खोजो। जो रूप, जो नाम, जो भाव

तुम्हें अच्छा लगता हो उसी के भीतर से उनको प्रकट करने की चेष्टा करो। शयन के समय बिछौने पर उनका ध्यान करते करते माँ की गोद में समाहित होने की चेष्टा करो। प्रतिदिन अधीर मन से उनको बुलाओ, उनको देखने की चेष्टा करो। चित्त शुद्ध और शान्त हो जाने पर सर्वत्र उनका दर्शन लाभ करके जीवन सुफल होगा। तब छोटे लड़के-लड़कियों को देखकर बालगोपाल-कुमारीभगवती; माँ-बाप के भीतर अन्नपूर्णा-विश्वनाथ; पति-पत्नी के भीतर कृष्ण-राधा, शिव-दुर्गा अथवा राम-सीता और सब जीवों के भीतर शिव का दर्शन, ध्यान और सेवा स्वाभाविक होजायँगे। तब जगत् स्वर्गराज्य में परिणत होगा, तुम सत्य-प्रतिष्ठ होगे, असत्य तुम्हारे निकट से दूर भाग जायेगा। अंगन्यास क्रिया इस उपलब्धि में सहायक है।

प्राण-प्रतिष्ठा—प्राण-प्रतिष्ठा का अर्थ है प्राण में स्थिति लाभ करना अर्थात् सर्वत्र प्राणशक्ति की लीला दर्शनकर प्राणशक्ति की अनुभूति में प्रतिष्ठित होना। प्राण परब्रह्म है—प्राण भगवान की वह शक्ति है जिसके द्वारा अथवा जिसमें जीव-जगत् सृष्ट, परिणत अथवा विवर्त्तित है। जीव और जगत् इसी महाप्राण की घनीभूत मूर्त्ति हैं। हमारा व्यष्टि प्राण इसी समष्टिगत महाप्राण का अंश है, इसी प्राण-सागर की लहर है। वे ही एक बिन्दु रक्त के भीतर अवस्थित हुए हमारी देह को पुष्ट, परिणत तथा कार्यक्षमकर हमारे भीतर बैठे सब कार्य सुसम्पन्न कररहे हैं। हमारी देह की परिणति, मन की वृत्ति—सब उसी प्राण के खेल हैं। जगत् के समस्त क्रिया-व्यापार के भीतर हम प्राणशक्ति की लीला का दर्शनकर, अहंकार के हाथ से मुक्ति लाभकर, सर्वत्र भगवल्लीला दर्शन की योग्यता लाभ करते हैं। तब यह नहीं कह सकते कि 'मैं कार्य करता हूँ।' तब कहा जायेगा कि 'सब कार्य मेरे द्वारा कारित हो रहे हैं।' करन्यास क्रिया प्राण-प्रतिष्ठा में सहायक है।

प्रकृत साधक अपने देखने, सुनने, काम करने, जानने और आनन्द अनुभव करने आदि क्रियाओं को यथाक्रम भगवद्दत्त चक्षु, कर्ण, हस्त, बुद्धि और चित्तादि के द्वारा भगवच्छक्ति के प्रकाशरूप में ग्रहण करने को बाध्य है। उसको सब प्रकार के करने-न-करने के भीतर भगवल्लीला दर्शन की योग्यता प्राप्त होगई है। वृथाकर्तृत्वाभिमान उसके मन में स्थान नहीं पाता। प्राण क्रियात्मक है--उसकी सभी क्रियाओं ने अहंकार में प्रतिष्ठित न होकर भगवान की चिच्छक्ति में प्रतिष्ठा लाभ करली है।

आनन्द-प्रतिष्ठा—जगत् की सृष्टि-स्थिति-लय क्रिया आनन्द से साधित होती है। हमारा आनन्द ब्रह्मानन्द का ही अंशमात्र है। यही ब्रह्मानन्द हमारे अन्तःकरण और बहिःकरण में से आते समय इनके रङ्ग से रञ्जित होकर विषयानन्दरूप में अनुभूत होता है। समस्त आनन्द ब्रह्मानन्द की ही विभूति है। इस विकृत आनन्द में से कामना-वासनादि विकृति दूर करदेने से ही यह ब्रह्मानन्द में पर्यवसित हो जाता है। शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुरादि सम्बन्धों को—इन सब सम्बन्ध जनित आनन्दों को—आसक्ति, संस्कार और स्वार्थ की दुर्गन्ध से मुक्त करके, शुद्ध करके पूर्णता पर पहुँचा देने से यह स्वर्गीय शान्त-दास्यादि भावों में पर्यवसित होजायँगे। तभी समझ में आयेगा कि अखिल आनन्द ब्रह्मानन्द का ही विचित्र स्फुरणमात्र है। सृष्टि की लीला के मूल में आत्मप्रकाश की, आनन्द-स्फुरण की, इच्छा है। उसी आनन्द में सब प्रतिष्ठित हैं। हम सभी प्रकार के आनन्द में ब्रह्मानन्द अनुभवकर तथा उस आनन्द को ब्रह्मानन्द में पर्यवसित कर सर्वत्र आनन्द की लीला दर्शन करते-करते उस आनन्द में प्रतिष्ठित हो जायँगे। व्यापक-न्यास क्रिया आनन्द-प्रतिष्ठा में सहायक है।

मैं भगवान् में प्रतिष्ठित हूँ, उनकी शक्ति द्वारा परिचालित हूँ, वे

ही मेरे समस्त सुख, शान्ति और आनन्द के प्रस्रवण हैं। मेरी स्थिति, क्रिया और आनन्द के हेतु भगवान् ही हैं। मुझको जीवित रखे बिना, ठीक पथ पर चलाये बिना, पूर्णानन्द में विभोर तथा समाहित किये बिना मेरे भगवान् रह नहीं सकते, वे विश्राम नहीं लेंगे—यह अनुभूति जागरित करना सत्यादि प्रतिष्ठा का प्रधान लक्ष्य है।

पूजा के अंगविभाग

पूजा सिद्ध और साधक अवस्था के भेद से प्रधानतः द्विविध है। सिद्ध अवस्था की पूजा है भगवद्भाव में विभोर रहते हुए भगवल्लीला में सहायक होना। साधक अवस्था की पूजा-प्रणाली सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिए है। इसी पूजा का विषय यहाँ आलोच्य है।

भगवान् में प्रीति एवं उनका प्रियकार्यसाधन ही उनकी पूजा है। जिससे हम प्रीति करते हैं अज्ञातरूप से उसके अनुकूल होजाते हैं; उसके भाव से भावित होजाते हैं, उसके प्रियकार्य साधन के लिए बाध्य होजाते हैं। अतएव वास्तविक प्रीति होने से ही उसका प्रिय-कार्य साधन करना होजाता है। हमारी प्रचलित पूजा में प्रीति की ओर विशेष लक्ष्य है। यह पूजा साधारणतः तीन भागों में विभक्त है—(१) शुद्धि (२) ध्यान (३) उपलब्धि। संकल्प, स्वस्तिवाचन, जलशुद्धि, आसनशुद्धि, भूतापसारण, भूतशुद्धि—ये सब 'शुद्धितत्त्व' के अन्तर्गत हैं। 'ध्यानतत्त्व' साधारणतः तीन भागों में विभक्त है—धामतत्त्व, स्वरूपतत्त्व और भगवत्तत्त्व। 'उपलब्धि' के अन्तर्गत न्यास, उपचार-समर्पण, पञ्चदेवता, गुरु तथा इष्ट की पूजा, जप, आत्म-निवेदन, हवन और विसर्जन क्रियाएँ हैं। पूजा के श्लोकों में इन तत्त्वों की ओर यथासम्भव दृष्टि रखी गई है एवं इन तत्त्वों को वर्त्तमान देश-काल-पात्रानुसार सबके ग्रहणयोग्य बनाने की चेष्टा कीगई है। इसके

उपरान्त सब सम्प्रदायों की साधनप्रणाली के प्रति लक्ष्य रखते हुए सब सम्प्रदायों की साधनप्रणाली के सार अंश में कैसा सुन्दर सादृश्य है इसका भी आभास दिया गया है। एक व्यवस्था का नमूना साधारण भाव से देकर साधकगण जिससे अपनी-अपनी रुचि तथा अधिकारानुसार श्लोकविशेष की सहायता से एवं अपने-अपने विधानानुसार ध्यान तथा पाद्य-अर्घ्यादि उपचार द्वारा पूजा करसकें, इस ओर दृष्टि रखी गई है। उपचारसमर्पण तथा ध्यान-जपादि के स्थान में अपनी-अपनी दीक्षा, शिक्षा और अभिरुचि के अनुसार पूजा करना ही प्रशस्त होगा। नीचे साधारण प्रचलित पूजा के अङ्गों का संक्षिप्त आभास दिया जाता है।

सङ्कल्प—प्रत्येक कार्य में कोई न कोई उद्देश्य रहता है। साधना इसी उद्देश्य का सहज, सुन्दर तथा स्वाभाविक उपाय है। आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चतुर्विध लोग भगवान् का भजन करते हैं। इनमें प्रथम तीन का उद्देश्य सहज ही समझ में आजाता है। जब तक कोई अभाव-बोध है तब तक अभावपूरण की प्रवृत्ति भी स्वाभाविक है। यदि कुछ प्रार्थना करना हो तो भगवान् से ही करना विधेय है। किसी भी भक्त को तुच्छ मानना उचित नहीं। हम मानें या न मानें किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हमारे भीतर से कामना-वासना, सुख-स्पृहा, प्रतिष्ठा-मोह, आदि बिलकुल जाते नहीं फिर भी कामना त्याग की चेष्टा करनी पड़ेगी। निष्काम भक्त अपने प्राणाराम से कुछ भी प्रार्थना नहीं करता। बिना माँगे उसको जो कुछ मिला है उसी से उसका चित्त कृतज्ञता से बिक गया है। तो भी उसकी एक कामना हो सकती है—वह यह कि 'हे ठाकुर, तुम्हारे प्रति मेरी अचला अहैतुकी अव्यभिचारिणी भक्ति सदा वर्तमान रहे, मेरे जीवन में तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे।' प्रार्थना के भीतर यही तत्त्व निहित है। संकल्प के भीतर भी एक

प्रार्थना का भाव रहता है। जिस हेतु मैंने यह अनुष्ठान किया है वह उद्देश्य सफल हो।

स्वस्तिवाचन—स्वस्तिवाचन शान्ति के लिए प्रार्थना है; शान्ति केवल अपनी नहीं, सर्वभूत की। यह शान्तिलाभ हमारे अहंकार पर निर्भर नहीं करता—यह निर्भर करता है सर्वोपरि श्रीभगवान पर अथवा उनके विभूतिरूप देवताओं पर। इसलिए स्वस्तिवाचन में श्रीभगवान के निकट—इन्द्र, वरुण, अग्नि, आदि देवताओं के निकट अथवा हमारे सब तत्त्वों में अधिष्ठित ब्रह्मचैतन्य के निकट—शान्ति तथा अभीष्ट कर्म की सफलता के लिए प्रार्थना की व्यवस्था देखी जाती है। हम सब जीवों के कृतज्ञ हैं, सबके ऋणी हैं। सबको तृप्तकरके इस ऋण से मुक्ति लाभ किये बिना हमारी भगवत्-प्राप्ति की सम्भावना कम है। कृतज्ञता-प्रकाश में यह तत्त्व देखने में आयेगा। स्वस्ति = सु-अस्ति, मंगल हो, मंगल आये। सबको तृप्त करदेने से सबके मुख से निकलेगा 'अयमारम्भः शुभाय भवतु'—इस अनुष्ठान से सबका कल्याण हो। माँ तो सबकी माँ है, सब मिलकर न बुलाएँ तो वे कैसे आयेंगी।

भूतापसारण—पंचभूत एवं पंचभूत से बना हुआ जीव-जगत् अनेक समय साधन-भजन में बाधा देते हैं। इस बाधा से मुक्ति लाभ करने के लिए सब भूतों के निकट, सर्वोपरि भूतनाथ के निकट, कृपा-प्रार्थना की व्यवस्था है।

> **अपसर्पन्तु ते भूता ये भूता भुवि संस्थिताः।**
> **ये भूता विघ्नकारिणः ते नश्यन्तु शिवाज्ञया॥**

अर्थात् पृथ्वीस्थ विघ्नकारी सब भूत शिव की आज्ञा से विनाश को प्राप्त हों। यहाँ अनेक लोग 'नश्यन्तु' (विनाश को प्राप्त हों) की जगह 'शुध्यन्तु' (शुद्ध होजाएँ) पाठ करते हैं। शत्रु के भीतर की अनिष्टकारी वृत्ति दूर होकर शत्रु मित्रभावापन्न होजाय, किसी को मैं शत्रुभाव में न देखूँ—यह भाव ज़्यादा सुन्दर है।

उपकरण-शुद्धि—पूजा के लिए अपनी देह तथा चित्त की शुद्धि आवश्यक है एवं पूजा के उपकरण जो भगवान को निवेदन किये जायँगे, जो प्रसादरूप में भगवत्-जीव को प्रदान किये जायँगे, उनकी शुद्धि सम्पादन भी आवश्यक है। उपकरण पुष्प-भोज्यादि अक्षत और विशुद्ध हैं या नहीं, यह परीक्षा करके देखलेना चाहिए और भगवान के नाम-स्मरण से शुद्धकरके लगाना चाहिए। देह तथा चित्त-शुद्धि के विषय में पहले ही बता दिया गया है।

गुरु की पूजा—ध्यान और उपचार समर्पण द्वारा गुरुदेव की पूजा की व्यवस्था है। वास्तव में गुरु के गुणकर्म के चिन्तन से गुरुतत्त्व में समाहित होकर स्वयं गुरु भावापन्न होजाना, अपने को गुरु के सब गुणों से विभूषित करना, गुरुपूजा का उद्देश्य है। अपने अपने सम्प्रदाय-विहित प्रणाली के अनुसार गुरुदेव की पूजा करना ही विधेय है किन्तु मूल उद्देश्य की तरफ़ विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। स्मरण रखना होगा कि गुरु भगवान की चिद्विभूति हैं। गुरु के भीतर से ही चिच्छक्ति तथा उसके कार्यकलाप की उपलब्धि करनी होगी। भगवान की चिच्छक्ति किस प्रकार गुरु के भीतर आविर्भूत होकर मेरे भीतर की सुप्त चिच्छक्ति को जागरितकरके मुझको चित्-स्वरूप में प्रतिष्ठित करने में सचेष्ट है, इसको उपलब्ध कर स्वयं चित्-स्वरूप में परिणत होजाने की चेष्टा करना ही गुरु-पूजा है।

पंचदेवता की पूजा—विभिन्न तत्त्वों में भगवत्-चैतन्य के विभिन्न भाव के प्रकाश का नाम 'देवता' है। हमारे भगवान—हमारे इष्ट—हमारे पंचतत्त्व में, हमारे पंचकोश में, किस प्रकार प्रकाशित होकर तथा प्रकाशित रहते हुए हमारे कल्याण और शान्ति की व्यवस्था कर रहे हैं अर्थात् हमारा जीवन सार्थक कर रहे हैं, इसको उपलब्धकर इसमें सहायक होना पंचदेवता की पूजा का मुख्य उद्देश्य है। हमारे इष्ट हमारे मूलाधार में अवस्थित हुए कैसे और क्या कार्य कर रहे हैं, यह उपलब्धि

गणेशपूजा द्वारा अनुभव की जा सकती है। हमारे इष्ट किस प्रकार मणिपुर में अवस्थित रहकर हमारे जीवनधारण में, हमारे शान्तिलाभ में, सहायक हैं—यह तत्त्व हम सूर्यपूजा द्वारा जान सकते हैं। इसी प्रकार अनाहत में विष्णुतत्त्व की, विशुद्धाख्य में शिवतत्त्व की, आज्ञा-चक्र में शक्तितत्त्व की, सहस्रार में इष्टतत्त्व की अवस्थिति तथा कार्यप्रणाली अवगत हो जाती है। साधकगण अपने-अपने इष्टतत्त्व को सहस्रार में स्थापित कर अन्य चक्रों में पंचदेवतादि की स्थिति और कार्यप्रणाली अनुभव करने की चेष्टा करते हैं। इसलिए किस तत्त्व में कौन देवता अवस्थित हैं, इस विषय में मत-भेद पाया जाता है। साधक अपनी-अपनी अभिरुच्यनुसार पंचदेवता की पूजा करें।

इष्ट की पूजा—अपनी अपनी अभिरुच्यनुसार इष्टदेव का ध्यान व पूजा, स्थूल में पाद्य-अर्घ्यादि उपचार द्वारा एवं सूक्ष्म में मानसिक उपचार द्वारा, करना विधेय है। कहना अनावश्यक होगा कि हमारे समस्त पूजा तत्त्वों में इष्ट की पूजा का महात्म्य प्रकट करने की चेष्टा की गई है।

'बोधन'—शब्द का अर्थ है प्रबुद्ध करना, जगाकर उठा देना। भगवान तो चिर-जागरित हैं, उनको जागरित करने की क्या आवश्यकता है। जागरित होना होगा साधक को स्वयं। जैसे अपनी आँखें बन्द करलेने से सब अन्धकार मालूम होता है, ठीक इसी प्रकार हम स्वयं निद्रित होने के कारण सब को एवं भगवान को भी निद्रित समझते हैं। अपने देह की जड़ता एवं चित्त की अज्ञानता और संस्कार दूर करके अपने भीतर के सब तत्त्वों को भगवदनुभूति के योग्य कर देना प्रकृत बोधनतत्त्व है। तब अनुभव होगा कि भगवान हैं, वे जाग्रत हैं, जीव के कल्याण-साधन में तत्पर हैं—यही बोधन-तत्त्व है।

'प्राणप्रतिष्ठा'—शब्द का अर्थ है उपास्य मूर्ति को, अपने इष्ट को,

केवल मिट्टी की मूर्ति या काग़ज़ का चित्र न समझ कर उसमें भगवत्तत्त्व के ध्यान द्वारा उसको जीवन्त रूप देना। अनुभव करना होगा कि वे जीवन्त सत्यस्वरूप हमारे सामने उपस्थित हैं, हमारे सब कार्य देख रहे हैं, हमारे मन के सब भाव जान रहे हैं, हमारे भीतर और बाहर स्थित हुए सब कार्य चला रहे हैं। इष्टमंत्र, मंत्र का अर्थ और मंत्र के चैतन्य के एकीकरण द्वारा इष्ट की प्राण-प्रतिष्ठा करनी होगी।

मंत्रचैतन्य के फलस्वरूप अनुभव होगा कि मेरे इष्ट मानो एक महती प्राणशक्ति हैं जिनके द्वारा जगच्चक्र अति सुन्दररूप से परिचालित हो रहा है। (इस प्रसंग में मंत्रतत्त्व द्रष्टव्य है)। प्राणप्रतिष्ठा के समय अपने भीतर के चैतन्य को जागरित करके, अनुभव करके, उस चैतन्य को इष्ट के भीतर आरोप करके, अनुभव करके, इष्ट को ब्रह्मस्वरूप चिन्तन करना होगा, अनुभव करना होगा।

'आवाहन'—शब्द का अर्थ है बुलाकर ले आना। जो सर्वव्यापी हैं उनको बुलाना कैसा? उनको बुलाने के माने हैं उनका सामीप्य अनुभव करना। अपने को शुद्ध और शान्त कर भगवत्-कृपा की सहायता से सम्मुख इष्ट के भीतर भगवत्तत्त्व प्रकटित भाव में दर्शन करना अर्थात् सर्वव्यापी भगवान को मूर्तिमानरूप में अपने इष्ट में प्रत्यक्ष करना—इस योग्यता लाभ की प्रार्थना को 'आवाहन' कहते हैं।

धारणा-ध्यान-समाधि

"अष्टांग योग के अन्तर्गत प्रथम पांच अंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) 'बहिरंग' एवं शेष तीन अंग (धारणा, ध्यान, समाधि) 'अन्तरंग' नाम से प्रसिद्ध हैं। बहिरंग साधना यथार्थरूप से अनुष्ठित होने पर ही अन्तरंग साधना का अधिकार प्राप्त होता है। 'यम' और 'नियम' वस्तुतः शील और तपस्या के द्योतक हैं। 'आसन' देहस्थैर्य की साधना है, 'प्राणायाम' प्राणस्थैर्य की साधना है। 'धारणा', 'ध्यान' और 'समाधि' यह तीनों मनःस्थैर्य की साधनाएँ हैं। प्राणस्थैर्य और मनः-

स्थैर्य इन दोनों की मध्यवर्ती साधना का नाम 'प्रत्याहार' है। प्राणायाम द्वारा प्राण अपेक्षाकृत शान्त होने पर मन का बहिर्मुख भाव स्वभावत: ही कम हो जाता है। इसके फलस्वरूप इन्द्रियाँ अपने अपने बाह्य विषयों से प्रत्याहृत होती हैं अर्थात् मन की बहिर्मुखी गति निरुद्ध हो जाती है और मन अन्तर्मुख होकर स्थिर होने की चेष्टा करता है। इस स्थिरता की चेष्टा की आरम्भिक अवस्था का नाम 'धारणा' है।

'धारणा' से चित्त को किसी विशिष्ट प्रदेश में आबद्ध करना समझा जाता है। यह प्रदेश साधारणतः देह का कोई विशिष्ट अंग होता है अथवा देह के बाहर कोई स्थान भी हो सकता है। नाभि, हृदय, नासाग्र, भ्रूमध्य, प्रभृति देह के विभिन्न स्थानों में चित्त को आबद्ध करने की व्यवस्था है। इसी का नाम है 'देशबन्ध या धारणा'। प्रत्याहार अधीन हुए बिना अर्थात् चित्त की बहिर्मुखगति निरुद्ध हुए बिना यह सम्भव नहीं होता। इसलिए प्रत्याहार के पश्चात् धारणा का उपदेश दिया जाता है। देह के स्थानविशेष में चित्त की धारणा सम्पन्न हो जाने के फलस्वरूप कई शक्तियों का विकास होता है। धारणा में चित्त का एकतान-प्रवाह नहीं होता—विच्छिन्न प्रवाह रहता है। अर्थात् विभिन्न वृत्तियों के मध्य में एक वृत्तिहीन अवकाशात्मक अवस्था रहती है; इसका कारण विभिन्न वृत्तियों का आलम्बनगत भेद है। अर्थात् जिस विषय में प्रथम वृत्ति का उदय होता है द्वितीय वृत्ति यदि उससे भिन्न विषय में उदय हो तो दोनों वृत्तियों के बीच में एक शून्यावस्था होती है—यह विक्षिप्त चित्त का लक्षण है। किन्तु अभ्यास के फलस्वरूप चित्त में बलाधान के साथ-साथ चित्त पुनः-पुनः अपने अभीष्ट आलम्बन में ही निबिद्ध रहता है। यद्यपि सब वृत्तियां उदय-अस्तशील एवं भिन्न-भिन्न हैं तथापि विभिन्न वृत्तियों का आलम्बन एक ही विषय हो जाता है, भिन्न विषय नहीं। इसी का नाम 'एकातान-अवस्था' अथवा 'सदृशप्रत्यय-प्रवाह' है। 'ध्यान' इसी का नामान्तर है। धारणावस्था में चित्त के वृत्ति-प्रवाह में जो

विच्छिन्नता थी वह ध्यानावस्था में नहीं रहती। यद्यपि धारणा और ध्यान दोनों ही अवस्थाओं में वृत्ति-प्रवाह रहता है तथापि धारणा में यह प्रवाह विसदृश वृत्ति का होता था किन्तु ध्यान में सदृश वृत्ति का— यही भेद है।

विदेह धारणा दो प्रकार की है—एक साधारण विदेह, दूसरी महा-विदेह। साधारण विदेहावस्था में देह के बहिःस्थित किसी वस्तु में चित्त की धारणा होती है। इस धारणा काल में चित्त की वृत्ति उस वस्तु को विषयीभूत करती है किन्तु चित्त देहाश्रय यथास्थान में ही संलग्न रहताहै। चित्त देह त्याग करके बहिर्गत नहीं होता। योग का उत्कर्ष लाभ किये बिना चित्त का देह के बाहर निर्गम सम्भव नहीं होता किन्तु वृत्ति बहिर्गत हो सकती है। जगत् का जो कोई पदार्थ चिन्ता का विषय होता है, चित्त की वृत्ति उसको स्पर्श करती है एवं उसके साथ सम्बंध करती है किन्तु चित्त देह त्याग नहीं करता। वृत्ति अपना काम करके यथास्थान वापिस आजाती है। किन्तु महाविदेह धारणा में ऐसा नहीं होता। इस अवस्था में केवल वृत्ति ही बाह्य वस्तु को अवलम्बन नहीं करती वरन् चित्त भी देह त्यागकर उक्त वस्तु में प्रवेश करता है। कहना अना-वश्यक होगा कि चित्त देहत्याग करने पर भी सम्पूर्णतः त्याग नहीं करता, किंचित् आभास देह में रह जाता है; यदि ऐसा न हो तो चित्त का देह में प्रत्यावर्त्तन असम्भव होगा। परकाया में प्रवेश करते समय यह अकल्पित (स्वाभाविक) महाविदेह धारणा अवलम्बन करना आवश्यक होता है। साधारणतः दूरदर्शनादि कार्यसाधन के लिये साधारण विदेह धारणा ही पर्याप्त है। साधारण विदेह धारणा में अपना साक्षीभाव वर्तमान रहता है, बाह्य वस्तु के ऊपर अभिमान नहीं होता किन्तु महाविदेह में चित्त देह से निर्गत होकर इष्टस्थान में प्रविष्ट होने के कारण उक्त अभिमान सम्भव-पर है। दोनों धारणाओं के फलों में भी इसीलिए पार्थक्य दृष्ट होता है।

ध्यान की परिपक्वावस्था का नाम ही 'समाधि' है। तब चित्त

आलम्बन के आकार में प्रतिभासमान होता है। अपना स्वरूप शून्यवत् हो जाता है। आलम्बन ही एकमात्र प्रकाशित होता है। इसके अनेक अवान्तर भेद और वैचित्र्य हैं जिनका उल्लेख यहाँ निष्प्रयोजन है।

बौद्धमतानुसार यह विश्व त्रिधातुक है। कामधातु, रूपधातु, अरूपधातु—ये तीन विभाग इसमें दृष्ट होते हैं। मनुष्यलोक, पशुपक्षी आदि तिर्यक् जाति के स्थान, प्रेतलोक, नरक एवं विभिन्न प्रकार के भोगप्रधान स्वर्ग—ये सब कामधातु के अन्तर्गत हैं। रूपधातु में काम बिलकुल नहीं है किन्तु रूप अर्थात् आकार है। अरूप धातु में काम भी नहीं है रूप भी नहीं है किन्तु विज्ञान है। परम ज्ञान अथवा निर्वाण लाभ किये बिना इन तीनों धातुओं के बाहर नहीं जाया जासकता। काम धातु से रूपधातु में जाने के लिए ध्यान भिन्न और कोई रास्ता नहीं क्योंकि कामचित्त शुद्ध हुए बिना रूपधातु में प्रवेश नहीं कर सकता अर्थात् रूपचित्त में परिणत नहीं हो सकता। चित्तशोधन का साक्षात् उपाय है ध्यान। ध्यान से लिए योग्यता लाभ करना आवश्यक है। **कामचित्त ध्यान के अयोग्य है**। इसके लिए पंचशील अथवा दशशील अवलम्बन कर एकान्तवास, मननादि एवं नाना प्रकार की तपस्याओं का अनुष्ठान आवश्यक होता है। अभ्यास के लिए बौद्धगण साधारणत: दृष्टिसाधन करते हैं। जिस आलम्बन पर दृष्टि स्थिर कर दृष्टिसाधन किया जाता है उसको 'कृतस्न' कहते हैं। इस कृतस्न में एकाग्रचित्त के सहयोग से दृष्टि आबद्ध रखनी होती है। इस साधना की बार-बार चेष्टा करना आवश्यक है—खुले नेत्र से एवं बन्द नेत्र से, दोनों प्रकार अभ्यास करना होता है। इस अभ्यास के फलस्वरूप बाह्य दृष्टि के आलम्बन के अनुरूप एक आलम्बन अन्तर्दृष्टि के सम्मुख स्थायीरूप में प्रकाशित होता है। बाह्य दृष्टि के आलम्बन को 'परिकर्म्य-निमित्त' कहकर वर्णन किया गया है। अन्तर्दृष्टि के आलम्बन का नाम 'उद्ग्रह-निमित्त' है। उद्ग्रह-निमित्त को प्राप्त करने के लिए ही परिकर्म्य-निमित्त की आवश्यकता है। उद्ग्रह-

निमित्त चित्त को क्रमशः ध्यानावस्था में परिणत करता है। उद्ग्रह-निमित्त में पुनः-पुनः चित्त को एकाग्र करने के फलस्वरूप एक ऐसी अवस्था उदित होती है जब कि निमित्त के भीतर से एक उज्ज्वल ज्योतिर्मय आकार बहिर्गत होता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। जब तक यह उज्ज्वल आकार उद्भूत न हो तब तक उद्ग्रह-निमित्त में चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करना आवश्यक है। बौद्ध साधकगण इस उज्ज्वल आकार को 'प्रतिभाग-निमित्त' कहते हैं। जब तक यह प्रतिभाग-निमित्त आविर्भूत न हो तब तक जो ध्यान अभ्यास किया जाता है उसका नाम 'परिकर्म्य-ध्यान' है। किन्तु प्रतिभाग-निमित्त प्रकट होने के पश्चात् उसको अवलम्बन करके जो ध्यान अनुष्ठित होता है उसका नाम 'उपचार-ध्यान' है। यह उपचार-ध्यान ही कामलोक के ध्यान में प्रवेश करने की प्रथम सीढ़ी है। प्रतिभाग-निमित्त का उत्पन्न होना साधनजीवन की एक विशेष सम्पद् है क्योंकि इसके उत्पन्न होते ही चित्त के पांच प्रकार के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं। इन बन्धनों को बौद्धगण 'नीवरण' कहते हैं। इस प्रकार क्रमशः दीर्घकाल तक अभ्यास करने से चित्त निर्मल हो जाता है और तब 'गोत्रभू' अवस्था लाभ होती है। गोत्रभू अवस्था तक कामलोक का उपचार-ध्यान मानना चाहिए। इसके पश्चात् सन्धि-भेद होता है, तब जो अवस्था उदित होती है उनका नाम 'अर्पणा' है। यह रूपचित्त की प्रारम्भिक अवस्था है। रूपधातु में ध्यान की चार अवस्थाएँ हैं। इन चारों अवस्थाओं के अनुरूप अठारह दिव्यस्तर हैं। ध्यान के उत्कर्ष के साथ ही यह सब स्तर क्रमशः भेद हो जाते हैं और तब रूप-चित्त अरूपचित्त में परिणत हो जाता है। तब साकार जगत् से निराकार जगत् में संक्रमण होता है। अरूप धातु में भी विज्ञान का क्रमविकास है। चरमावस्था में संज्ञा और वेदना का सम्यक् निरोध होने पर 'निर्वाण' का पथ खुल जाता है"।

धारणा और ध्यान तत्त्वों के सम्बंध में ऋषिवाक्यों के प्रमाण पर ऊपर

आलोचना की गई। अब साधकों को अपनी-अपनी उपलब्धि के सम्बंध में दो एक बातें बताई जाती हैं।

सद्‌गुरु-लाभ के पश्चात् गुरु शिष्य को उसके देह के सब यंत्रों का, सब तत्त्वों का और प्रत्येक तत्त्व में शक्ति के क्रियाकलाप का सामान्य आभास देकर उसको तत्त्वविशेष में या चक्रविशेष में मन स्थिर करने का आदेश करते हैं। इस प्रकार विभिन्न तत्त्वों में मन स्थिर करने पर देह के भीतर शक्ति का खेल उपलब्ध करने का सुयोग मिलता है।

देह के विभिन्न चक्रों में, विभिन्न तत्त्वों में, विभिन्न भाव अवलम्बन करने से देह में क्या कार्य साधित हो जाता है, इसके अनुचिन्तन से 'धारणा-तत्त्व' साधित होता है। जब यह अनुभव में आने लगता है कि विभिन्न धारणाओं में एक ही उद्देश्य साधित हो रहा है और विभिन्न कार्यकलाप द्वारा हमको जीवित रखने के लिए—हमारी पूर्ण परिणति-लाभ के लिए—सब कार्य एक ही उद्देश्य से साधित हो रहे हैं तब इसके अनुचिन्तन से हम एक तैलधारावत् अविछिन्न एकतान वृत्ति लक्ष्य करने का सुयोग पाते हैं। इस सम्बंध में रामानुज ने कहा है—ध्यानन्तु तैलधारावद् अविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपा ध्रुवानुस्मृतिः'। यह एकतानता हमको ध्यान द्वारा समाधि की ओर ले जाती है। अपने भीतर इस प्रकार ध्यान साधित हो जाने पर हम पृथिवी के सब पदार्थों के भीतर एकतानता लक्ष्य करने का सुयोग पाते हैं। तब भीतर और बाहर भगवदिच्छा लक्ष्य कर हमारा चित्त भगवान में समाहित हो जाता है।

इस अवस्था में हम जिस किसी विषय में भी मन स्थिर करें तो वहाँ के गुप्त तत्त्व और कार्य हमारे निकट प्रकट होने लगते हैं। मन जहाँ न्यस्त होता है प्राण भी वहाँ स्वाभाविकरूप से जाने की चेष्टा करता है। मन और प्राण ऐक्य हो जाने से वहाँ के अनेक गूढ़रहस्य प्रकाशित होने लगते हैं। याद रखना चाहिए कि 'नाद' शब्दात्मक है और 'बिन्दु' प्रकाशात्मक। बिन्दु में, चक्रविशेष में, मन स्थिर होने पर वहाँ की

ज्योति स्वतः अनुभव में आने लगती है। तब वहाँ बैठ कर हमारे श्रीभगवान अर्थात उनकी शक्ति क्या-क्या कर रही हैं, यह दर्शन कर साधक अभिभूत हो जाता है। नाभिचक्र में मन स्थिर करने से वहाँ के बिन्दु की ज्योति के प्रभाव से दृष्ट होता है कि प्राणवायु किस प्रकार भुक्त द्रव्य को रस में परिणत कर रही है, अपानवायु किस प्रकार असार पदार्थ को अपसारित करने की चेष्टा करती है, व्यानवायु किस प्रकार रक्त को शरीर में सर्वत्र फैला देती है, समानवायु किस प्रकार जहाँ जितने रक्त का प्रयोजन है उसकी व्यवस्था करती है और उदान-वायु किस प्रकार हमारे देह की पुष्टि एवं परिणति साधित करती है—ये सब तत्त्व उपलब्धि में आने लगते हैं। तब हम प्राणवायु का क्रिया-कलाप देखकर मोहित हो जाते हैं।

फिर देखिये कि हमारे रक्त के सहित अनेक दूषित पदार्थ (carbon) आकर हृदय में जमा होते हैं। अनाहतचक्र में मन स्थिर करने से वहाँ के बिन्दु की ज्योति के प्रभाव से दृष्ट होता है कि यह दूषित पदार्थ दूर करने के लिए, किस प्रकार श्वास-प्रश्वास की सहायता से, अम्लजन वायु (oxygen) हृदय में जाकर उसको वायवीय आकार (carbon dioxide) में परिणत कर प्रश्वास के द्वारा बाहर कर देती है—इन सब रहस्यों को उपलब्ध कर साधक अनेक समय मुग्ध हो जाता है।

किसी भी निर्दिष्ट चक्र में, निर्दिष्ट तत्त्व में, मन की धारणा के फलस्वरूप वहाँ के समस्त क्रिया-व्यापार साधक को दृष्टिगोचर होते हैं। तब यह देखकर कि माँ आद्याशक्ति हम को जीवित रखने के लिए एवं पूर्ण परिणति दान करने के लिए किस प्रकार सचेष्ट हैं साधक विमुग्ध हो जाता है। तब जिस तत्त्व में मन स्थिर होता है तो वहीं एक प्रकाशात्मक ज्योति अनुभव में आने लगती है। विभिन्न तत्त्वों में, विभिन्न केन्द्रों में, मन स्थिर करने के फलस्वरूप साधक अपना अन्तर्निहित ज्योतिर्मय सूक्ष्म देह और उसका क्रिया-व्यापार अनुभव करने लगता है।

व्यष्टि भाव में यह धारणा साधित हो जाने पर समष्टि भाव में भीतर की देह मानो चैतन्यरूप में प्रकाशित होने लगती है। उस समय साधक का चित्त आनन्द में ऐसा मोहित हो जाता है कि चित्तप्रवाह एकाकार लाभ कर अन्तर्निहित ज्योतिर्मय देह में समाहित हो जाता है। इस अवस्था में जिस पदार्थ में भी चित्त स्थिर किया जाय तो उसी पदार्थ का अन्तर्निहित ज्योतिर्मय सूक्ष्मरूप प्रकाशित होने लगता है। इसके फलस्वरूप इष्ट का ध्यान सहज और स्वाभाविक हो जाता है।

हमारी प्रचलित पूजा में ध्यान की जो व्यवस्था है उसमें भी पहले अपने भीतर भगवान का ध्यान करना होता है। तब अपनी व्यष्टि देह में जो ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट होता है, सम्मुखस्थ समष्टि रूप इष्ट-विग्रह के भीतर उसकी प्राणप्रतिष्ठा और बोधन करने के फलस्वरूप इष्टमूर्त्ति भी ज्योतिर्मय रूप में आत्मप्रकाश करती है। उन्नत साधक के निकट इष्ट का यह ज्योतिर्मय रूप इस प्रकार आत्मप्रकाश करता है कि साधक को अन्य कुछ देखने का अथवा चिन्तन करने का अवसर नहीं होता।

जड़ पदार्थ अन्योन्य-व्यवच्छेदक हैं। इनके अवलम्बन से एकतानता आना असम्भव है। जब हमारा चित्त जड़भूमि छोड़कर चिन्मय जगत् में प्रवेश करता है तब चित्-शक्ति में सर्वत्र अनुप्रवेश करने का सामर्थ्य रहने के कारण एकतानता का भाव स्वभावतया ही आ जाता है। इसलिए ज्योतिर्मय स्वरूप का आभास भीतर पाये बिना धारणा यथार्थरूप से ध्यान में परिणत नहीं हो सकती। जब भीतर का चिन्मय स्वरूप प्रकाशित होता है तब धारणा खंड भाव परित्याग कर अखंड एकतानता की तरफ़ चल पड़ती है।

धारणा विभिन्न देहों के अथवा देह के विभिन्न केन्द्रों के अवलम्बन द्वारा साधित होती है। जब देहस्थ केन्द्रों में ज्योति स्फुरित होकर आत्मप्रकाश करती है तब चित्त ज्योतिःप्रवाह का दर्शन कर उसमें निमज्जित हो जाने के कारण धारणा ध्यानमें पर्यवसित हो जाती है। व्यष्टि देह

के विशेष-विशेष अवयवों में चित्त स्थिर करने का नाम 'धारणा' है और समष्टि देह के समस्त तत्त्वों का निरन्तर मिलित भाव में चिन्तन और उपलब्धि का नाम 'ध्यान' है।

किसी महापुरुष, अवतार या इष्ट के व्यष्टिगत अवयव अथवा उनके गुणविशेष की धारणा के फलस्वरूप उन विषयों में एक इस प्रकार की अनुभूति प्रस्फुटित होती है कि साधक उसमें धीरे-धीरे तन्मयता लाभ करने लगता है। इस प्रकार की धारणा के फलस्वरूप साधक, लोहचुम्बक-संसर्ग के भाँति, ऐसा इष्टभावापन्न हो जाता है कि इष्ट भिन्न अन्य किसी विषय का चिन्तन करना अथवा इष्ट की इच्छापूर्ति के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करना उसके लिए साध्य नहीं रहता। ध्येय पदार्थ का ध्यान करते-करते साधक का चिन्ता-प्रवाह धीरे-धीरे एकतानता को प्राप्त हो जाता है।

अनेक साधक इष्ट की पूजा-जपादि समापन कर, प्रणव उच्चारण के साथ मन व प्राण को सहस्रार में लेजाकर और बीजमंत्र के चिन्तन द्वारा इष्ट की स्वरूपोपलब्धि कर, मन और प्राण को सहस्रार से नीचे सब तत्त्वों में लाकर अपने को इष्टमय कर लेते हैं। तब अपने सब तत्त्वों में इष्ट के सब तत्त्व मिल जाने के कारण अपने को इष्टमय देखते हैं। स्वयं इष्टमय होकर फिर जगत के जिस पदार्थ में भी वे चित्त सन्निवेशित करते हैं तो वही पदार्थ इष्टमय अनुभूत होता है। इस प्रकार इष्ट को अपने प्रत्येक तत्त्व में और जगत् के प्रत्येक तत्त्व में चिन्मयरूप में अनुभव कर साधक आनन्दसमाधि में निमग्न हो जाता है।

वैष्णव साधकगण भगवद्धाम के, भगवत्-परिकरगण के, भगवत्-स्वरूप शक्ति के, भगवान की अष्टकालीय लीलातत्त्व के चिन्तन के फलस्वरूप इष्ट तत्त्व में, इष्ट के लीलास्वादन में, ऐसे निमग्न हो जाते हैं कि अन्य सब चिन्ता-भावना, यहाँ तक कि देह-गेह की स्मृति भी, लुप्त हो जाती है और वे ध्येय तत्त्व में पूर्णतः समाहित हो जाते हैं। इसके

फलस्वरूप देहान्त पर तथा देह में स्थित रहते हुए भी ब्रजवास अर्थात् भगवल्लीलास्वादन के अतिरिक्त अन्य सब वृत्तियों की स्मृति उनके चित्त से अपसारित हो जाती है। ध्यान के फलस्वरूप साधक का चित्त क्रमशः सूक्ष्म और कारण भेदकर चिन्मय स्वरूप-दर्शन की योग्यता लाभ करता है। तब अपने भीतर और इष्ट के भीतर चिन्मय स्वरूप का प्रकाश देखकर चित्त एक अखंड चिदानन्दस्वरूप में निमग्न हो जाता है।

धारणा और ध्यान के लिये 'एकाग्रता' आवश्यक है। 'एक' को सर्वदा 'अग्र'—आँखों के और मन के सम्मुख—रखना होगा। 'एक' सबके भीतर अनुप्रविष्ट तथा अनुस्यूत भाव में हैं। वे सबके भीतर से आत्मप्रकाश करने में और प्रस्फुटित होने में व्यस्त हैं। सबके भीतर उसी 'एक' की तरफ़ लक्ष्य रखने से चित्त स्वतः एकाग्र हो जाता है। प्राचीन ऋषि सब पदार्थों में उसी 'एक' को खोजते थे, उसी 'एक' को बुलाते थे। फलतः वे उसी 'एक' का दर्शन लाभ कर सहज ही स्वाभाविकरूप से एकाग्र हो जाते थे। वे ही 'एक' अपने और सबों के भीतर बैठे क्या कर रहे हैं—यह अनुभूति लाभ करना उनके लिये ध्यान का प्रधान विषय था।

सुना जाता है कि अनेक साधक निर्गुण तत्त्व का ध्यान करते हैं किन्तु इसके भीतर भी एक सगुण भाव देखने में आता है। स्थूलरूप जैसे एक द्रव्यविशेष का आकारादि स्थूल गुण है उसी प्रकार दया, प्रेम, इत्यादि भी मानसिक सूक्ष्म भाव के गुण हैं। जो मन के अतीत हैं उनको स्थूल में सीमाबद्ध करना जैसी भूल है, सूक्ष्म विशेषण द्वारा उनको सीमाबद्ध करना भी तद्रूप भूल है। अनेक लोग प्रकृति की सहायता से भगवान का ध्यान करते हैं। पुष्पादि का सौन्दर्य उनके चित्त में परम सुन्दर की स्मृति जगा देता है। मित्र की प्रीति, माँ का वात्सल्य, स्त्री का प्रेम उनको परम प्रेममय की याद दिलाता है। कोई-कोई 'प्रकृति के भीतर एक अचिन्त्य शक्ति किसप्रकार कार्य कर रही है' इसको अवलम्बन

कर परम शक्तिमान को ध्यान द्वारा उपलब्ध करने की चेष्टा करते हैं। इनमें अनेक यह अवलम्बनकर कि वह महती शक्ति हमारे भीतर स्थित हुई किस प्रकार एक सामान्य परमाणु से हमारी देह को सुन्दररूप में तैयार कर हमारी परिणति तथा शान्ति का कारण हो रही है, परम शक्तिमान को उपलब्ध करने की चेष्टा करते हैं।

किन्हीं के मतानुसार स्थानविशेष में, तत्त्वविशेष में, चित्त की धारणा और ध्यान भगवद्दर्शन में, तत्त्वसाक्षात्कार में, सहायक होते हैं। मान लीजिए कि मेरे सम्मुख एक दीवार में, एक के ऊपर एक, सात छेद हैं। इनमें सबसे नीचे वाले छेद में से एक पाख़ाना दिखाई देता है, उससे ऊपर वाले छेद में से एक बाग़ और उससे ऊपर वाले छेदों में से क्रमशः बैठक का कमरा, पहली मंज़िल की छत, दूसरी मंज़िल की छत, तीसरी मंज़िल की छत और उसके ऊपर अवस्थित एक मन्दिर दिखाई देता है। तो मन्दिर देखने के लिए मुझको सर्वोपरि छेद के भीतर देखना होगा। अनाहतचक्र में, कूटस्थ में, सहस्रार में, ध्यान करने के भीतर भी इसी प्रकार का एक तत्त्व उपलब्ध होता है। यहाँ 'छेद में' 'कूटस्थ में' तथा अन्य स्थलों में सप्तमी (अधिकरण) का व्यवहार आधार में नहीं किया गया है क्योंकि इस छेद के भीतर मन्दिर अथवा सूक्ष्म चक्र के भीतर इष्टादि मूर्त्ति या तत्त्व अवस्थित नहीं हैं। इस जगह मन स्थिर करने से निर्दिष्ट मन्दिर अथवा तत्त्व देखने में आता है। यदि ऐसा न हो तो आज्ञाचक्र के समान सूक्ष्मस्थान में सर्वव्यापी भगवद्दर्शन असम्भव है। कूटस्थ में मन स्थिरकर ध्यान करते-करते भगवत्तत्त्व उपलब्ध हो जाता है।

वेदान्त का मनन और निदिध्यासन भी ध्यानविशेष हैं। भक्त की ध्यानप्रणाली इस प्रकार होने पर भी उस में एक विशेषत्व लक्षित होता है। कोई-कोई भक्त अपने गुरु अथवा इष्ट की मूर्ति को अवलम्बन कर तन्मयता लाभ करने की चेष्टा करते हैं। हमारी देह भीतर के भाव की

स्थूल अभिव्यक्ति है। स्थूल के अवलम्बन द्वारा सूक्ष्म तत्त्व हमको अवगत होता है। मूर्त्ति सम्मुख रखकर उसमें ध्यान करते-करते उस गुरु अथवा इष्ट के सूक्ष्म तत्त्व, सूक्ष्म भाव, हमारे निकट प्रतिभात होने लगते हैं। तब मालूम होता है कि मानो हमारे गुरु या इष्ट, मूर्ति के भीतर जाग्रत और बोधित हुए, रक्तमांस के शरीर में खड़े हैं। ध्यान की उन्नत अवस्था में इष्ट के सब भाव हमारे मानस चक्षु के सामने प्रस्फुटित हो जाते हैं। तब हमारा मन ऐसा इष्टगत हो जाता है कि हम इष्ट के समस्त तत्त्वों से अवगत होकर स्वयं इष्टमय हो जाते हैं। इसी प्रकार के भाव के अवलम्बन द्वारा एकलव्य ने द्रोण की मूर्ति की सहायता से द्रोण की सब धनुर्विद्या सीख ली थी।

कोई-कोई कहते हैं 'ध्यानं निर्विषयं मनः'। चित्त को संस्कारवर्जित कर शून्य में परिणत करना 'ध्यान' कहलाता है। इस अवस्था में स्वयं-प्रकाशतत्त्व स्वतः आत्मप्रकाश होकर ध्यान का विषय हो जाता है।

एक दल साधक भगवान को अंगुष्ठभाव में अपनी देह के भीतर, जगद्देह के भीतर, उपलब्ध करने की चेष्टा करते हैं। "अंगे स्थितम् इति अंगुष्ठम्"। अंग में (देह में) स्थित (उपलब्ध) कहकर उन्होंने भगवान को 'अंगुष्ठ' नाम दिया है। अपने भीतर गुरु अथवा इष्ट की अवस्थिति समझने के लिए कल्पना करनी चाहिए कि मैं मानो चित लेट गया और मेरे गुरु या इष्ट ठीक मेरे ऊपर चित लेटकर मेरे भीतर प्रवेश कर गये और मेरी समस्त देह और समस्त तत्त्वों में अनुप्रविष्ट होकर मेरे आकार से आकारित हो गये। तब मेरे मस्तिष्क में उनका मस्तिष्क, मेरे हृदय में उनका हृदय, मेरी पीठ में उनकी पीठ, मेरे हाथ में उनका हाथ—एकशब्दमें मेरे प्रत्येक अवयव में उनका प्रत्येक अवयव समा गया। तब अपने प्रत्येक तत्त्व में उनका प्रत्येक तत्त्व इस प्रकार अनुभूत होने लगता है कि अपने शरीर को स्पर्श करने से इष्ट को स्पर्श करने की भावना होती है और साधक तन्मयता लाभकर समाहित हो जाता है।

इस प्रकार की साधना के फलस्वरूप साधक ध्यान में बैठकर अनेक समय इष्टमय हो जाता है। चित्त की इस समाहित अवस्था में जिस पदार्थ अथवा जिस तत्त्व की ओर दृष्टि जायगी वही इष्टमय अनुभूत होगा। "यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्" "जित देखौं तित श्याममयी है" "जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है"—ये वाक्य इसी भाव के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। तब साधक को इष्ट के अनुमोदित कार्य करने के अतिरिक्त अन्य कार्य करने की अथवा इष्ट की चिन्ता के अतिरिक्त अन्य चिन्ता करने की शक्ति प्रायः लुप्त हो जाती है। इष्ट के समस्त गुण उसमें संक्रामित होकर वह इष्ट के सादृश्य को प्राप्त होता है। इष्ट जैसे जगत् के सुख में सुखी—समष्टिभावापन्न—हैं वह भी उनके भाव से भावित होकर अपना सीमाबद्ध भाव त्याग देता है। इसके फलस्वरूप इष्ट में तथा उसमें सर्वव्यापी भगवत्तत्त्व स्फुरित होता है और साधक का पृथक् अस्तित्व लोप हो जाता है। इसी का नाम है 'आत्मनिवेदन'। इसी भाव से भवित साधकों के मुख से ये शब्द निकले थे—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत् त्वमसि', 'सः अहम्', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'अनालहक़', 'I and my father are one.'

ध्यान में प्रधानतः तीन विषय हैं:—(१) धामतत्त्व, (२) स्वरूप तत्त्व, (३) इष्टतत्त्व अथवा भगवत्तत्त्व।

धामतत्त्व—विभिन्न धाम वास्तवमें बिंदु-विशेष हैं। सहस्रारमध्यस्थ बिन्दु के प्रसारण द्वारा धामों का अवस्थान और धामतत्त्वों का स्फुरण निर्धारित होता है। सहस्रारादि चक्रों में मन स्थिर करने से क्रमशः मालूम होता है कि तन्मध्यस्थ बिन्दु ने मानो ज्योतिर्मयरूप में आत्मप्रकाश करना आरम्भ किया। क्रमशः वह एक अप्राकृत धाम में परिणत हो गया जिसके केन्द्रस्थल में अपने अपने सम्प्रदाय के उपास्य श्रीभगवान अधिष्ठित हैं। उनके चारों ओर परिकरगण और परिकरों के चारों तरफ़ धामस्थ अप्राकृत चिन्मय पदार्थ वर्तमान हैं। केन्द्र में आनन्दशक्ति की,

तत्पर चित्-शक्ति की एवं बहिर्देश में सत्-शक्ति की (विशुद्ध-सत्त्व की) अवस्थिति लक्ष्य होती है। वैष्णव साधकों के धाम के केन्द्रस्थल में युगल राधाकृष्ण हैं, उनके चारों ओर सखी-सखादि परिकरगण एवं इनके चारों तरफ़ धामतत्त्व के अन्य सब अप्राकृत पदार्थ निर्देश किये गये हैं, जैसे ज्योतिर्मय पशु-पक्षी, ज्योतिर्मय तरुलता, इत्यादि।

सभी साधकों के मतानुसार भगवद्धाम प्राकृतगुणवर्जित, ज्योतिर्मय, चिन्मय, आनन्दरस से परिपूर्ण है। वहाँ किसी प्रकार के दुःख-कष्ट, कामना-वासना, आसक्ति, द्वेष, हिंसा, आदि की छाया भी नहीं है। वहाँ जो कुछ है सब चिन्मय आनन्द-सुधा-रस निचोड़कर तैयार किया गया है। अद्वैतवादियों के मतानुसार वहाँ किसी प्रकार के गुण का खेल—वैशिष्ट्य भाव—नहीं है। वहाँ सब कुछ समरस-पूर्ण अद्वैतानन्द भाव से भरपूर है। द्वैतवादियों के मतानुसार वहाँ प्राकृत अथवा जागतिक कोई पदार्थ या भाव न होते हुए भी वहाँ श्रीभगवान और उनके भक्त-परिकरगण एवं इनके लीलारस के अनुकूल समस्त उपकरण चिन्मय आनन्दरस द्वारा संगठित हैं। तथ्यतः धामतत्त्व ज्योतिर्मय आनन्दभाव से परिपूर्ण है। इसी भगवद्धाम को वैष्णव 'गोलोक', शैवशाक्तगण 'कैलास', योगीगण 'सहस्रार', ईसाई और मुसलमान 'स्वर्गादि' नाम से अभिहित करते हैं। लेखकगण अपनी अपनी धारणानुसार भगवद्धाम में अपने आनन्द के उपकरणादि का सद्भाव कल्पना करने में कोई दुबधा बोध नहीं करते। अभाव-क्लिष्ट मानव अपने प्रार्थित विषय का सद्भाव वहाँ कल्पना किये बिना नहीं रह सकता।

भगवद्-विकास के लिए—भगवदनुभूति के लिए—लीलातत्त्व आस्वादन के लिए—साधक को ध्यानयोग द्वारा अपने चित्त को भगवद्धाम में परिणत करना आवश्यक है। भूमि अनुकूल हुए बिना भगवत्-प्रकाश असम्भव है।

स्वरूपतत्त्व—प्रायः सभी के मतानुसार जीव का प्रकृत वासस्थान

श्रीभगवान का आनन्दधाम है। वह भगवान का अंश अथवा प्रतिबिम्ब है। वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसको न अभाव है न दुःख-कष्ट। अद्वैतमतानुसार जीव और भगवान में कोई भेद नहीं। स्वरूप-विस्मृति ही जीव के कल्पित दुःख-कष्ट व बन्धन का कारण है। स्वरूप अनुभूति के द्वारा ही वह भगवत्स्वरूप को प्राप्त हो सकता है। द्वैतमतानुसार जीव भगवान का अंश अथवा प्रतिबिम्ब है। वह श्री-भगवान के साथ दास्य, सख्य, वात्सल्य अथवा मधुर भाव में सम्बद्ध है। साधना द्वारा स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर वह अपनी भावनानुसार श्रीभगवान का सेवाधिकार लाभ करता है। सम्प्रदायानुकूल दीक्षा के समय गुरु शिष्य को उसका स्वरूप दिखा और समझा देते थे। तदनुसार एक नाम भी रखा जाता था। साधक तब समझता था कि वह किस प्रकार भगवान के निकट था और उनकी सेवा करता था। उस तत्त्व को मन ही मन आस्वाद करना उसकी प्रधान साधना होती थी। इन दोनों मतानुसार साधक स्वरूपतः ज्योतिर्मय सच्चिदानन्दरूप है। स्वरूप-विस्मृति, देह की आसक्ति, उसके बन्धन और कष्ट का कारण है। भूतशुद्धि, षटचक्र भेद, पंचकोश-विवेक एवं नेति-नेति साधना द्वारा साधक सच्चिदानन्दरूप में अवस्थित रहने की चेष्टा करता है।

भगवत्तत्त्व—सभी सम्प्रदाय के साधक ध्यान के समय मन ही मन अनुभव करने की चेष्टा करते हैं कि वे मानों अपने निर्दिष्ट धाम में अपने प्रेममय श्रीभगवान के निकट अवस्थित हुए अपने निर्धारित कर्म द्वारा श्रीभगवान के सेवाकार्य में लिप्त हैं। उनके चारों तरफ़ परिकरगण भी मानों अपने-अपने भजनांग में व्यस्त हैं। वे वहाँ धीरे-धीरे मानों भगवान में तन्मय हो रहे हैं।

भारत के मंत्रद्रष्टा ऋषियों के प्रधान-प्रधान आविष्कार साधनराज्य के विभिन्न अवलम्बन हैं। मुख्य आविष्कार ये हैं :—

(१) भगवान का अस्तित्त्व—उनका निगु‌र्ण व सगुण विभाव—उनका स्वरूप व कार्यप्रणाली—शक्तिमान व शक्तिरहस्य। जीव-जगत् के स्वरूप का विवेचन—किस प्रकार ये सृष्ट, परिणत अथवा विवर्तित हैं—उसका इतिहास; जीव-जगत् सहित भगवान का सम्बन्ध, इत्यादि।

(२) जीव भगवान का स्वरूप, अंश अथवा प्रतिबिम्ब है। उसका प्रकृत वासस्थान भगवद्धाम है। उसका प्रधान कार्य है भगवान की इच्छा पूरण करना—उनकी लीला में सहायक होना। जिस किसी कारण से भी हो जीव स्वरूपविस्मृत तथा जगत् में आगत है और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप होकर भी, माया के हाथ में पड़कर, अपने को जन्म-मृत्यु-व्याधि-शोक के अधीन समझता है। आनन्दस्वरूप होकर भी स्वरूप-विस्मृति के कारण दुःख-कष्टजर्जरीभूत है। जीव की स्वरूपोपलब्धि, स्व-स्थान को प्रत्यागमन तथा परम शान्ति लाभ ही समस्त साधन-भजन का उद्देश्य है।

(३) भगवान और उनके आत्म-प्रकाश का तत्त्व, विभिन्न यंत्र अर्थात् पुरुष-प्रकृति के तत्त्व, प्रकृति का महत्, अहंकार व तन्मात्रादि विभिन्न स्तरों का निर्णय। भगवान सर्वव्यापी होते हुए भी उनके पूर्ण प्रकाश का स्थान सर्वोच्चस्तर में है, जीव-जगत् विभिन्न निम्नस्तरों में अवस्थित हैं। सर्वोचस्तर ही भगवद्धाम है—निम्नस्तर उस धाम के प्रकाशक तथा विभिन्न तत्त्वों की अवस्थान भूमि हैं।

(४) ब्रह्मांड व अंड का तत्त्व-निर्णय। जो ब्रह्मांड में हैं वे ही प्रत्येक जीवदेह में यहाँ तक कि प्रत्येक अणु-परमाणु में वर्तमान हैं। ब्रह्मांड में सर्व निम्न स्थान से सर्वोचस्थान को सुमेरु कहा गया है और जीवदेह में सर्वनिम्नस्थान से सर्वोचस्थान को मेरुदंड नाम दिया गया है।

(५) सर्वोच्चस्तर से सर्व निम्नस्तर तक एक स्रोत—एक प्राण-प्रवाह—यातायात कर रहा है जिसके फलस्वरूप सब स्तर आप्यायित हैं। इस स्रोत

को जानना, धारण करना और इसके अनुकूल चलना ही समस्त साधन-भजन का उद्देश्य है। प्रायः सभी सम्प्रदायों में इस भाव का अति सुन्दर आभास परिलक्षित होता है। व्यष्टि-समष्टि देह में तथा अंड-ब्रह्मांड में इस स्रोत की क्रिया प्रायः एक ही प्रकार चल रही है। इस स्रोत के भीतर दो तत्त्व निहित हैं—बिन्दु और नाद। बिन्दु से ज्योति का एवं नाद से शब्द का स्फुरण होता है। नाद दो बिन्दुओं का योजक है। बिन्दु तत्त्व द्वारा इष्ट-रहस्य एवं नाद तत्त्व द्वारा जप-रहस्य निर्धारित होता है। इसी बिन्दु और नाद की सहायता से स्वरूप-विस्मृत तथा स्थानच्युत जीव के लिए भगवत्प्राप्ति—भगवद्धामगमन—सहज, सुन्दर और स्वाभाविक हो जाती है।

जप

जप एक ऐसा रहस्य है जो प्रायः सभी सम्प्रदायों में बहुकाल से चला आ रहा है। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, शैव, शाक्त, सौर, वैष्णव, गाणपत्य, प्रभृति सब सम्प्रदायों के साधकगण जप तत्त्व की महिमा घोषणा करते हैं। इसलिए जप तत्त्व का प्रकृत रहस्य प्रकट करने की चेष्टा सब को करनी चाहिए। यह जप तत्त्व पहले एक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक भित्ति पर स्थापित था इस में सन्देह नहीं। अनेक ज्ञानी साधकों ने जप तत्त्व की साधना द्वारा साधन-राज्य में विशेष उन्ननि लाभ की है। तत्पश्चात् जब साधन राज्य की अवनति के कारण जप-साधना केवल एक प्राणहीन शब्दोच्चारण में पर्यवसित हो गई तब भगवान पतंजलि देव ने अपने योगसूत्र में जप का प्रकृत स्वरूप और उद्देश्य प्रकट करने की चेष्टा की। मंत्रात्मक शब्द की अचिन्त्य शक्ति को उन्होंने अस्वीकार नहीं किया किन्तु शब्द के सहित अर्थ का—भव के सहित भाव का—जो अपूर्व समन्वय आवश्यक है इसे वे मुक्तकंठ से प्रकटकर साधना को एक सर्वांग सुन्दर वैज्ञानिक भित्ति पर स्थापित कर गये हैं। वे पुरुष-

विशेषरूप पुरुषोत्तम का अस्तित्व स्वीकारकर ॐकार को उसके वाचक-रूप में निर्देश कर गये हैं। उनके मतानुसार जप उसी प्रणव (ॐकार) की अर्थ-भावना है—'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्'। कहना अनावश्यक है कि प्रणव परमतत्त्व का—निर्गुण-सगुण, अव्यक्त-व्यक्त, समस्त भावों का—द्योतक है। प्रणव की अर्धमात्रा निर्गुण-भाव की एवं अ-उ-म सगुण भाव के द्योतक हैं। इसलिये प्रणव में निर्गुण-सगुण दोनों भाव निहित हैं। तत्त्वतः उपनिषदादि ग्रन्थों में प्रणव को साधनराज्य का सर्वश्रेष्ठ रत्न माना गया है। अर्धमात्रा के भीतर निर्गुण, निष्कल, निरंजन तत्त्व का आभास मिलता है और अकार-उकार-मकार के भीतर जीव-जगत् के स्थूल-सूक्ष्म-कारण, आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक राज्य के, सब तत्त्व निहित पाये जाते हैं। 'तत्' जिस प्रकार आत्मप्रकाश करते हैं, जिस प्रकार जीव-जगद्रूप में परिणत या विवर्तित हैं, यह रहस्य 'तत्त्व' शब्द द्वारा अभिहित किया गया है—'तत् अनुभूयते अत्र इति तत्त्वं'। इसलिए साधनराज्य में भगवान से लेकर जीवजगत् की सर्व-शेष परिणति तक के रहस्य को हम 'तत्त्व' शब्द से निर्देश करते हैं। 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' आदि स्तर विभिन्न तत्त्व नाम से अभिहित हैं। सांख्य के 'प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पंचतन्मात्राणि,' आदि सब स्तर भी विभिन्न तत्त्व नाम से अभिहित हैं। ये सभी परमपद की महिमा प्रकाशित करते हैं; ये परमपद के प्रकाशक, परमपद की मूर्ति, परमपद के विभिन्न स्तर हैं; ये परमपद का अर्थ कहलाने के योग्य हैं।

जप के विषय का नाम 'मंत्र' है, जिसके मनन द्वारा संसारसागर से उद्धार होता है। मंत्र के बार-बार उच्चारण को साधारणतः 'जप' कहते हैं। इसलिए जप मंत्र का पुनः पुनः उच्चारण है। यह उच्चारण एक प्राणहीन यंत्रवत् उच्चारणमात्र नहीं है। उच्चारण इस प्रकार होना चाहिए जिसके फलस्वरूप सब तत्त्व भगवद्भाव से परिभावित होकर,

भगवत्-शक्ति-युक्त होकर, भगवत्‌काय साधन में नियुक्त हो सकें। भगवान पतंजलिदेव ने इसी जप को मंत्र की 'भावना' नाम से निर्देश किया है। किसी द्रव्य को किसी रस में बार-बार डुबो रखने को, उस द्रव्य को रसमय करने को, 'भावना देना' कहते हैं। मंत्रार्थ की भावना द्वारा साधक क्रमशः मंत्रमय हो जाता है। इन तत्त्वों की एवं तत्त्वातीत परम तत्त्व की भावना अर्थात् अनुचिन्तन ही जप शब्द का प्रकृत अर्थ है। इसलिए सब तत्त्वों की चिन्ता करते-करते परम तत्त्व में जा पहुँचना एवं उस परम तत्त्व से—अवरोहणक्रमानुसार—सब तत्त्वों की अनुभूति लाभ करना, सब तत्त्वों को परम तत्त्व के भाव से परिभावित करना—शक्तियुक्त करना—परम तत्त्व की इच्छा पूरण करने में नियुक्त करना, जप तत्त्व का मुख्य उद्देश्य है।

प्राचीन ऋषिगण परमात्मा से लेकर सृष्टि के निम्नस्तर तक सब स्तरों की वर्णना कर गये हैं। स्तरों के विभाग के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी, स्वरूप और उद्देश्य के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं देखा जाता। इन स्तरों को साधारणतः तीन भाग में अथवा कहीं-कहीं सात भाग में विभक्त किया गया है।

परम कारुणिक ऋषिगण जीव के हित के लिए आविष्कार कर गये हैं कि जो ब्रह्मांड में हैं वेही अंड में हैं, प्रत्येक जीव देह में हैं, यहाँ तक कि प्रत्येक परमाणु में हैं—what is true of the whole universe is also true of every atom of the universe. तत्पश्चात् बहुत गवेषणा, धारणा, ध्यान और समाधि की सहायता से ऋषिगण मनुष्यदेह की मेरुदंडस्थ सुषुम्ना में इन स्तरों का स्थान भी निर्देश कर गये हैं तथा दिखा गये हैं कि एक-एक स्थान में चित्त स्थिर करने से साधनराज्य के उस स्तर का रहस्य स्वतः आत्मप्रकाश करता है। षट्‌चक्र की वर्णना से हम दार्शनिक स्तरों के, ज्ञानभूमि के विभिन्न स्तरों के एवं साधनराज्य से विभिन्न स्तरों के रहस्य सुन्दररूप से अनुभव करने का सुयोग पाते हैं।

साधराज्य में प्रवेश करने के लिये हमें स्रोतापन्न होकर नादानुसंधान की तरफ़ विशेष दृष्टि रखनी होगी। भगवान के सृष्टिरहस्य में उनकी कृपा का एक विशेष निदर्शन हमें जीवदेह के विभिन्न तत्त्वों के संस्थान के भीतर मिलता है जो उन्होंने साधनराज्य के अवलम्बनीय सब तत्त्व श्रेणीबद्ध करके जीवदेह के पीछे की तरफ़ स्थापित कर दिये हैं।

"परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् परान् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुर् अमृतत्त्वम् इच्छन्॥"

ऋषियों के इस श्लोक में साधनराज्य का एक गूढ़ रहस्य निहित है। हमारी इन्द्रियाँ सामने की तरफ़ हैं, विषय भी सम्मुख वर्तमान हैं; इसीलिये हमारा मन इन्द्रियों की सहायता से विषय ग्रहण कर इतना उन्मत्त हो गया है। सामने की तरफ़ कौरव दल है, पीछे की तरफ़ पंच-पांडवों की स्थिति है। सामने के प्रवृत्ति पक्ष और पीछे के निवृत्ति पक्ष में, देहरूप कुरुक्षेत्र में, एक भीषण संग्राम चल रहा है। इस संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये ऋषियों ने हमको आवृत्तचक्षु होने का अर्थात् अपनी इन्द्रियों को मन की सहायता से पीछे की तरफ़ मोड़ देने का उपदेश किया है। पीछे की ओर एक चिन्ह रखकर उसके तरफ़ मन स्थिर करने की एक प्रणाली निर्देश कर गये हैं। इस साधना को प्रणाली अभिज्ञ साधक से सीख लेना होगा। इसके बाद मेरुदंड के सर्वनिम्नस्तर मूलाधार में मन स्थिर कर भीतर क्या हो रहा है देखते रहने से दैववशात् कभी एक स्रोत (एक प्राण की गति) अनुभव में आता है। यह स्रोत मूलाधार से सहस्रार की तरफ़ और फिर सहस्रार से मूलाधार की तरफ़ यातायात करता मालूम पड़ता है। इस स्रोत में मन स्थिर हो जाने से क्रमशः भीतर से एक नाद सुनाई देता है एवं एक ज्योति का दर्शन भी होने लगता है। सद्गुरु इस नाद की ताल में हमारा निर्दिष्ट जपकार्य सुसम्पन्न करने का उपदेश देते हैं।

यहाँ तक हमें प्रणव के अर्थ का कुछ आभास मिला। अब यह

समझने की चेष्टा करें कि उसकी भावना किस प्रकार साधित होती है। प्रत्येक मंत्र में तीन तत्त्व देखने से आते हैं—(१) व्याहृति, (२) बीज, (३) देवता। व्याहृति के भीतर है भगवान के आकर्षण की उपलब्धि—जिसके द्वारा श्रीभगवान अपने प्रियतम स्वरूपविस्मृत जीव को समस्त दुःख-कष्ट से मुक्तकर, अपनी ओर आकर्षितकर, अपने स्वधाम में ले जाने के लिए व्यस्त हैं। इस प्रसंग में श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि का रहस्य चिन्तनीय है जिससे वे अपने भक्तों को अपने निकट आकर्षित करते थे। बीजतत्त्व में हम साधक का प्रकृत स्वरूप, उसका श्रीभगवान से सम्बन्ध एवं उस सम्बन्ध को उपलब्धकर उसे सार्थक करने का उपाय लाभ करते हैं। देवता तत्त्व में है वह साधन रहस्य जिसके द्वारा साधक भगवत्-शक्ति को अपने भीतर के सब तत्त्वों में लेजाकर, सब तत्त्वों को शक्तियुक्तकर, स्वयं इष्टमय होकर, अपने जीवन में भगवदिच्छा को पूर्णतः सफल करता है। प्रत्येक मंत्र में है भगवद्धाम में जाने की प्रणाली, भगवद्दर्शन एवं स्वरूपोपलब्धि अर्थात् भगवान ने किस उद्देश्य से जीवको सृष्ट किया है, कौन सा बीज उसमें निहित है और यह जानकर उस बीज को एक पूर्ण परिणत फलफूल से सुशोभित वृक्ष में परिणत करना। जप तत्त्व के साथ 'यंत्र-तंत्र-मंत्र रहस्य' एवं 'ऋषि-छन्द-देवता-विनियोग तत्त्व' विशेषतः चिन्तनीय हैं।

देवता बीज की पूर्ण परिणत अवस्था है। भगवान की कौन सी शक्ति किस प्रकार जीव के भीतर पूर्ण परिणत अवस्था लाभकर साधक को देवमय कर सकती है इसका सब रहस्य देवता तत्त्व के भीतर निहित है। देवता साधक की पूर्ण परिणत अवस्था है। उस देवता का एक प्रतीक सामने रख उसमें तन्मयता लाभ कर सकने से साधक के बीजगत भाव का, पूर्ण परिणत फलफूल से सुशोभित वृक्षरूप में परिणत होने का, पथ सुगम हो जाता है। देवता का चिन्तन बीज की परिणति लाभ करने का केवल निमित्त कारण होने पर भी आवरण भेद करके प्रकृत परिणति में सहायक

होता है। मंत्र की भावना द्वारा अपने प्रत्येक तत्त्व को तन्मयकर जब अपना समस्त जीवन मंत्रमय हो जाय तभी कहा जा सकता है कि मंत्र-जप किया। इसलिये प्रत्येक मंत्र में विद्यमान हैं भगवत्तत्त्व, जीवतत्त्व, स्वरूप-विस्मृत जीव की भगवत्-प्राप्ति के उपाय एवं भगवत्-प्राप्ति के फलस्वरूप भगवन्मय हो जाने का रहस्य।

ऊर्ध्वस्रोत के साथ व्याहृति उच्चारणकर भगवत्-सन्निधान सहस्रार में गमन, बीज तत्त्व की अनुभूति द्वारा जीव और शिव का स्वरूप तथा सम्बन्ध-उपलब्धि और देवता तत्त्व द्वारा अवतरण-क्रमानुसार सब तत्त्वों को भगवत्-कार्य साधन में नियुक्त करना ही जप का प्रधान कार्य है। व्याहृति अवलम्बन से भगवान के निकट जाने का कौशल, बीजतत्त्व से अपनी सृष्टि का उद्देश्य और स्वरूपतत्त्व एवं देवता तत्त्व से उस बीज को अपने जीवन में सफल कर किसप्रकार भगवदिच्छा पूरण करने की योग्यता लाभ की जा सकती है इसका कौशल हम जान सकते हैं। व्याहृति उच्चारण द्वारा मानो हम गंगा के निकट जाते हैं, बीज उच्चारण द्वारा मानो हमारी स्नानक्रिया साधित होती है और देवतातत्त्व उच्चारण द्वारा मानो हम समस्त रास्ते को गंगाजल से अभिषिक्त व पवित्र कर देते हैं। भगवान स्वरूपतः जो हैं एवं जिस प्रकार ये परिणत अथवा विवर्तित होकर जीव-जगत् रूप में अनुभूत हुए हैं, इन दोनों तत्त्वों का चिन्तन करते-करते जीव का अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवद्भाव से परिभावित हो जाता है। फलतः जीव और शिव के भीतर का पार्थक्य धीरे-धीरे कम होकर जीव क्रमशः शिवमय हो जाता है। जीव का यह शिवमय हो जाना ही जप का प्रधान उद्देश्य है।

मंत्र जप के भीतर एक ऐसे तत्त्व का आस्वाद मिलता है जिसके बार-बार मनन, चिन्तन व उच्चारण द्वारा हम संसार-सागर से उत्तीर्ण हो जाते हैं। अर्थात् स्वधाम की, स्व-स्वरूप की, विस्मृत-स्वरूप की उपलब्धि लाभ कर स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर हम भगवान में तन्मय हो जाते हैं। शास्त्र में विभिन्न अधिकारियों के लिए विभिन्न मंत्र की व्यवस्था होने पर भी सब मंत्रों का उद्देश्य एक ही है। इसलिए एक मंत्र की साधन-प्रणाली

समझ लेने से प्राय: सभी मंत्रों की साधन-प्रणाली उपलब्ध करना सहज हो जाता है। कहना अनावश्यक है कि मंत्र जप के साथ प्राणायाम, षट्चक्र भेद, पंचकोशविवेक, प्रभृति साधन-प्रणालियों का विशेष सम्बंध है।

प्रायः प्रत्येक तांत्रिक मंत्र में भी हमको एक ॐकार, एक बीज तथा एक देवता का उल्लेख मिलता है। प्रणव के 'अकार' उच्चारण के साथ मन को मूलाधार से नाभिचक्र में, 'उकार' उच्चारण के साथ मन को नाभिचक्र मे अनाहतचक्र में एवं मकार उच्चारण के साथ अनाहत चक्रसे आज्ञाचक्र में ले जाने की व्यवस्था देखी जाती है। ॐकार उच्चारणकर चित्त को मूलाधार से सहस्रार में भगवत् समीप ले जाकर वहाँ भगवान से तन्मयता लाभ करना होता है; बीज उच्चारणकर अपने भीतर कौन शक्ति निहित है, क्या कार्य करने के लिए भगवान ने मुझे सृष्ट किया है यह तत्त्व उपलब्ध करना होता है और इसके बाद देवता का नामोल्लेखकर चित्त को धीरे-धीरे नीचे की तरफ़ लाते समय प्रत्येक चक्रको—प्रत्येक तत्त्व को—इष्टज्योति तथा इष्टशक्ति से परिपूरित मानकर अपने को ज्योतिर्मय रूपमें चिन्तन करना होता है—'आत्मानं तेजोमयं विभावयेत्'।

वैदिक युग का प्रधान मंत्र गायत्री था। 'भूर्भुवः स्वः' आदि उसकी व्याहृति थी। 'ॐ भूर्भुवः स्वः' आदि अंश उच्चारणकर चित्त को मूलाधार से सहस्रार में ले जाना होता था। 'स्व' शब्द का विश्लेषण करने से हमें उसके भीतर 'महः', 'जनः', 'तपः' एवं 'सत्यम्' के रहस्यों को आस्वाद करने का सुयोग मिलता है। इसीलिए सप्त-व्याहृति को अनेक स्थलों में-त्रि-व्याहृतिरूप में वर्णन किया गया है। सहस्रार में जाकर 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' उच्चारणकर ब्रह्मज्योति का ध्यानकर उसमें तन्मयता लाभ करना होता था। तत्पश्चात् 'धियो यो नः प्रचोदयात्' उच्चारणकर अपनी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को ब्रह्मज्योति से परिपूर्ण एवं ब्रह्मभाव से परिभावित मानकर अपने को ब्रह्ममय चिन्तन करना होता था।

जप का प्रथम कार्य है भगवान के समीप जाना (जैसे वैष्णवों का अभिसारतत्त्व), द्वितीय कार्य है भगवान से तन्मयता लाभ करना (जैसे

वैष्णवों का मिलनतत्त्व) एवं तृतीय कार्य है भगवत्-शक्ति व भगवद्भाव द्वारा, ऊपर से नीचे आते समय, देह के प्रत्येक तत्त्व को भगवद्भाव से परिभावित कर भगवन्मय हो जाना (जैसे वैष्णवों का रसोद्गार तत्त्व)।

जप के द्वारा इष्ट तत्त्व को अपने भीतर के प्रत्येक तत्त्व में आस्वाद कर इष्टमय हो जाने का सुयोग मिलता है। 'तुम्हारा स्वर्गराज्य मर्त्यलोक में आविर्भूत हो, मर्त्यधाम स्वर्ग धाम में परिणत हो जाय, मेरे द्वारा तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे'—जप के भीतर इस तत्त्व का एक सुन्दर आभास मिलता है। वैष्णवों के 'हरे कृष्ण', 'हरे राम', इत्यादि नामजप में भी यही चढ़ने-उतरने की प्रणाली देखने में आती है। इसी नामजप के फलस्वरूप साधक कृष्णमय हो जाते हैं। कोई-कोई वैष्णव आज्ञाचक्र और सहस्रार के बीच में ह्लादिनी चक्र का अवस्थान मानकर मेरुदंड को आठ भागों में विभक्त करते हैं। 'हरे' व्याहृति का, 'कृष्ण' बीज तत्त्व का एवं 'राम' देवता तत्त्व का द्योतक है।

"जप त्रिविध है—वाचिक, उपांशु और मानसिक। वाचिक का अर्थ है मुख से वाक्य उच्चारण करना। वाचिक अथवा बाह्य जप वायु से सम्बन्धित है। इस जप में श्वास-प्रश्वास स्वाभाविकरूप में चलती रहती है और बाहरी उच्चारण बाह्य वायु की सहायता से होता है। बाह्य अथवा वैखरी जप में शब्द और अर्थ के बीच एक पार्थक्य रह जाता है। उपांशु जप में श्वास अनेकांश क्षीण हो जाती है और बाह्य वायु का सम्बन्ध अनेकांश छिन्न हो जाता है। उस समय जप सुषुम्ना पथ में चलने लगता है और जैसे अपने आप ही होने लगता है। वाचिक एवं उपांशु जप अनेकांश वैखरी में साधित होते हैं किन्तु उपांशु जप में कुछ मध्यमा की क्रिया भी लक्षित होती है। मानस जप में बाह्य वायु के सहित सम्बन्ध बिलकुल नहीं रह जाता। यह जप चिन्ता-चेष्टा-विवर्जितरूप में भीतर ही भीतर होता रहता है। तब शब्द एवं अर्थ का सम्मिश्रण अनुभूत होता है और ज्योति का दर्शन भी होता है। जप जब मध्यमा त्यागकर पश्यन्ती

में प्रवेश करता है तब शब्द और अर्थ एक सत्ता में परिणत हो जाते हैं। उस समय चैतन्य का स्फुरण अर्थात् आत्मसाक्षात्कार अथवा इष्ट-दर्शन होता है। यह दर्शन लाभकर साधक कृतार्थ हो जाता है। इसके परे भी एक अव्यक्त परावस्था है जहाँ पूर्णाहन्ता अवस्था प्राप्त कर साधक अद्वैत आत्मतत्त्व में स्थिति लाभ करता है।"

जप दो प्रकार से निष्पन्न होता है—(१) कृत्रिमरूप से अर्थात् प्रयत्न-पूर्वक (२) स्वाभाविकरूप से अर्थात् प्रयत्न-निरपेक्ष। पहले कूटस्थ में मन स्थिर कर प्रकृति का खेल देखना होता है। प्राणवायु की ओर लक्ष्य स्थिर होने से ही सुप्त मन जागरित हो जाता है। प्राणक्रिया तब धीरे-धीरे कृत्रिमता परित्यागकर स्वाभाविक अवस्था में जाने की चेष्टा करती है। इसलिये कोई कोई भ्रूमध्य में मन स्थिरकर गंभीर श्वास के साथ नाम स्मरण करने का एवं श्वास के चढ़ाव-उतार की संगति में जप करने का उपदेश देते हैं। जपतत्त्व में तीन विषयों की तरफ़ विशेष दृष्टि रखने का उपदेश दिया जाता है।

(१) नादानुसंधान—अपने भीतर के स्वभाव के स्रोत में अपने को बहाकर, समस्त विकृतभाव दूरकर, स्वभाव में स्थिति लाभ करना।

(२) कूटस्थ में स्थिति लाभ—नाद की संगति में चलते-चलते अनेकांश नादभावापन्न हो जाने पर नाद के साथ जाकर कूटस्थ में (आज्ञाचक्र में) स्थिति लाभ करना और नाद की लीला अर्थात् शक्ति का खेल देखना।

(३) प्राण की क्रिया के संग मन का मिलन साधन करना अर्थात् नाद की संगति में मननशक्ति को चालितकर मन और प्राण के बीच एकता स्थापन करना। तभी हम अनुभव कर सकेंगे कि मन और प्राण दोनों मिलकर समान भाव से भव और भाव के बीच में पूर्ण एकता स्थापन करने में नियुक्त हैं।

जब वायु क्रमशः सूक्ष्म होकर सुषुम्ना में प्रवेश करना आरम्भ करती है तो शुद्ध दृष्टि खुल जाती है। तब यह अनुभूति लाभ होती है कि प्रकृति

के समस्त क्रिया-व्यापार में भी पुरुषचैतन्य किस प्रकार गुणातीत शान्त भाव में अवस्थित हैं। इसके परिणामस्वरूप नित्य-नैमित्तिक क्रिया के भीतर स्थितिरूप निष्क्रिय आत्मसत्ता स्फुरित होती है और लीलातीत में नित्यलीला का दर्शन होता है। उस समय रेचक और पूरक चलते हुए भी कुम्भक का अभाव नहीं होता। आत्मस्वरूप में ही सर्वभूत का दर्शन लाभ होता है और नित्य स्वाभाविक जप का संधान मिलता है।

शक्तितत्त्व शब्दमय, ज्ञानमय, भावमय और क्रियामय है। साधक का प्रथम कार्य है कूटस्थ में स्थिति लाभकर स्वयं द्रष्टा होकर प्रकृति का खेल देखते रहना। इसके फलस्वरूप प्राण की क्रिया अमृत प्रवाह में परिणत हो जाती है। साधक स्वयं जप नहीं करता वरन् उसके भीतर जपक्रिया साधित हो रही है—इस तत्त्व की उपलब्धि का नाम अजपाजप है। हमारे भीतर बैठे भगवान स्वयं जप कर रहे हैं। वे किस प्रकार हमारे भीतर अपनी शक्ति की सहायता से आत्मप्रकाश कर रहे हैं—इस उपलब्धि द्वारा अपने भीतर का विरुद्ध कृत्रिम स्रोत दूरकर अपने को प्रकृति के स्रोत में बहा देना, अपने को स्रोतमय कर देना, उनके सहित अपनी एकता सम्पादन करना और क्रमशः अपनी पृथक् सत्ता को भूलकर अपने भीतर तथा जगत् में सर्वत्र एकमात्र उन्हीं की सत्ता (Divine Presence) अनुभव करना—यही जप का प्रकृत उद्देश्य है। जप है माँ के संग, माँ की संगति में, नृत्य करना; जिस संगति में माँ की सृष्टि-स्थिति-लय क्रिया साधित हो रही है उस संगति में अपनी गति मिलाकर अपना सब विकृत भाव दूर करना—संक्षेपतः माँ की संगत्यनुसार अपना जीवन गठन करना अर्थात् माँ का अनुवर्त्तन करना अथवा स्वभाव में, प्रकृत स्वरूप में, प्रत्यावर्त्तन करना। पुरुष के (शिव के) वक्षःस्थल में परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपों में जो माँ की आविर्भाव और तिरोभाव लीला हो रही है उसके भीतर का स्वाभाविक स्रोत धारणकर उसमें तन्मयता लाभ करने की चेष्टा करनी होती है। प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में माँ जो प्राणरूप में क्रिया कर रही हैं उसको समझने की चेष्टा करनी होती है। प्रणवयुक्त

माँ का नाम श्वास के साथ मिलाकर जप करना होता है क्योंकि श्वास-प्रश्वास माँ का ही प्रकाश होने के कारण इसके साथ मातृस्पर्श लाभ करना आवश्यक है। यह जप स्वतः हमारे भीतर अज्ञातरूप में हो रहा है। इसको जानकर, समझकर और देखकर इसकी संगति में चालित होना ही अजपाजप है। जप कर रही हैं माँ स्वयं ही, हमारे करने न करने अथवा समझने न समझने पर यह निर्भर नहीं करता। **अहोरात्र में २१६०० बार श्वास-प्रश्वास के साथ हंस मंत्रका जप स्वतः ही हो रहा है।** इसी के कारण तो हमारी अहंता है, इसी ने हमें जीवित रखा है। पालनशक्ति का यह सर्वश्रेष्ठ कार्य है—यह पालनकर्ता विष्णु के उद्देश्य से निरन्तर अर्पित हो रहा है। अनाहत चक्र में जाकर वृत्तिनिरोधपूर्वक नाद के साथ यह जप प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है।

सगुण भाव में माँ की लीला एवं निर्गुण भाव में माँ का विश्राम तत्त्व आस्वाद करना ही जप का उद्देश्य है। शिव के वक्षःस्थल से शक्ति के उत्थान के समय (सगुण भाव में) राजयोग का एवं पतन के समय (निर्गुण भाव में) लययोग का चिन्तन साधक को करना होता है। किन्तु प्रकृत तत्त्व दोनों के अतीत है। गति में विश्राम, श्वास-प्रश्वास में कुम्भक क्रिया के द्वारा निष्क्रिय भाव में स्थिति, की चेष्टा ही जप का उद्देश्य है।

अजपाजप के लिए प्राणायाम की सहायता से श्वास को अधीन कर मन को स्थिर करना होता है। कबीर साहब प्रत्येक श्वास की गति के साथ नाम जप करने का अर्थात् श्वास के स्रोत में स्नान करने का उपदेश करते थे।

नाद और बिन्दुतत्त्व के सहित जप-साधना का घनिष्ट सम्बन्ध है। 'बिन्दु' निर्गुण शिव अथवा पुरुष तत्त्व है; 'नाद' सगुण शक्ति अथवा प्रकृति तत्त्व है। निर्गुण शान्त शिव के वक्षःस्थल से सगुण शक्ति का उत्थान-पतन रहस्य ही बिन्दु-नाद का रहस्य है। शक्ति का उत्थान और पतन, सृष्टि और लय क्रिया एवं जीवदेह के श्वास-प्रश्वास एक ही संगति

में चलते हैं। जप-साधना द्वारा साधक अपने देह की इस संगति को धारण कर भगवान का सृष्टि और लयतत्त्व समझ सकता है।

नाद दो बिन्दुओं का योजक है। ऊर्ध्व बिन्दु सहस्रार में और अधोबिन्दु मूलाधार में अवस्थित है। इसलिए नाद मूलाधार से सहस्रार तक विस्तृत है। सहस्रार और मूलाधार मुख्य बिंदु हैं। मध्यवर्ती आज्ञाचक्र, विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपुर एवं स्वाधिष्ठान गौण बिन्दु हैं। इन सब गौण बिन्दुओं का परस्पर योग-साधन नाद के द्वारा ही सम्पन्न होता है। सहस्रार गुणातीत सिद्धावस्था है। इसलिए साधक को आज्ञा बिन्दु को ही मुख्य बिन्दु मानकर ग्रहण करना होता है। फिर प्रत्येक चक्र में परिधि से केन्द्र तक नाद विस्तृत है। इस नाद में मूलाधार से सहस्रार तक के विस्तृत नाद के सब तत्त्व सूक्ष्मरूप में विद्यमान हैं। इसलिए किसी भी चक्र में इष्टमंत्र जप करने से सिद्धि लाभ हो सकती है।

साधारण जीव की स्थिति मूलाधार के भी बाहर है। वस्तुतः उसकी कोई स्थिति ही नहीं। वह निरंतर इड़ा-पिंगला के पथ में अर्थात् कालमार्ग में संचरण कर रहा है। किन्तु अध्यात्म राज्य में प्रविष्ट होने के समय सर्वप्रथम मूलाधार को ही आश्रय करना होता है। क्योंकि सुषुम्ना मार्ग की प्रथम विश्रामभूमि मूलाधार है। इसलिए नादानुसंधान मूलाधार से आरम्भ करने की व्यवस्था देखी जाती है। साधक उन्नति लाभ के फलस्वरूप जिस बिन्दु में (जिस घाट में) स्थिति लाभ करता है परवर्त्ती यात्रा उसी स्थान से आरम्भ होती है। जितनी दूर तक नाद के संग मन जाय पहले वहीं तक नाद की सीमा माननी चाहिए। नाद क्रमशः क्षीण होकर जब तक बिन्दु में प्रत्याहृत न हो तब तक शक्ति का संधान नहीं मिलता। प्रत्येक तत्त्व में इष्ट मंत्र जप करने के समय यह तत्त्व अनुभव किया जाता है। चक्रस्थ नाद केन्द्रीभूत होकर जब तक तत्रस्थ बिन्दु में लीन न हो जाय तब तक उस बिन्दुस्थ शक्ति का संधान नहीं मिलता एवं उस चक्र को भेद भी नहीं किया जा सकता। नादमय

मंत्र ही जाग्रत मंत्र है। जप का मंत्र नादात्मक है। ब्रह्म का द्विविध प्रकाश साधक की धारणा के उपयोगी है—एक शब्द और दूसरा ज्योति। नाद से इष्ट मंत्र का स्फुरण होता है एवं ज्योति से इष्ट मूर्ति का आविर्भाव होता है। श्वास-प्रश्वास नाद का बाह्य आकार व प्रकाश हैं। बाहर धारण करके भीतर जाना होता है। इसलिए श्वास-प्रश्वास की गति शोधनकर और उसकी विकृति दूरकर उसको सफल कर सकने से श्वास-प्रश्वास नाद के सहित मिल जाते हैं अर्थात् तब श्वास-प्रश्वास अन्तर्मुख होकर नाद में परिणति लाभ करते हैं। तब उस नाद की संगति में प्राणायाम के सहित इष्टमंत्रोच्चारण करते रहने से मंत्र क्रमशः नादमय हो जाता है। यही जप का उद्देश्य है—इसी का नाम है कुंडलिनी की वक्रगति दूर होना अथवा जागरण।

श्वास-प्रश्वास प्राणवायु की क्रिया होने के कारण प्राणवायु के बाह्य प्रकाश हैं। प्राण के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है—दोनों एक साथ रहना और काम करना पसंद करते हैं। वायु की वक्रगति अर्थात् प्राण की चंचलता के कारण मन चंचल होता है। फिर मन की चंचलता के कारण वासना का उद्भव और वायु की गति वक्र होती है। मन जितना वृत्ति-शून्य होगा प्राण उसी परिमाण में सुषुम्ना मार्ग में प्रवेश करेगा। मंत्र भी तब नादमय होकर चेतन हो उठेगा। प्राणवायु की क्रिया शान्त हो जाने से मन चिन्ताशून्य होकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा लाभ करता है। प्राणवायु का नाद के आकार में परिणत होकर क्रमशः बिन्दु में स्थिति लाभ करने से मंत्रसिद्धि होती है। वायु के गतिहीन शून्य प्रदेश में अर्थात् हृदयाकाश अथवा अनाहत चक्र में मन को ले जाने से मन शान्त भाव धारण करता है। तब उसके भीतर की आत्मस्मृति जाग उठती है। मन अपने प्रियतम आत्मा का संग न मिलने के कारण बाहर घूमता फिरता था। किन्तु हृदय में आत्मा का संधान एकबार पा जाने से इसी स्थान में शान्त एवं समाहित होकर आनन्दसागर में निमग्न रहता है।

इसीलिए हृदय में ही ईश्वर के चिन्तन की व्यवस्था शास्त्र में पाई जाती है। हठयोगी प्राण को अवलम्बन कर प्राण की सहायता से चित्त स्थिर करने की चेष्टा करते हैं। राजयोगी मन के तत्त्व से अवगत होकर, मन को स्थिरकर और प्राण को संयमित कर, भगवत्प्रिय-कार्य साधन में नियुक्त रहते हैं।

जप के विषय में अनुसंधान करते समय मुझे अनेक सम्प्रदायों के साधकों का संग मिलने का सुयोग हुआ था एवं नाना प्रकार की जपप्रणालीयां का विवेचन सुन मैं विस्मित हो गया था। परन्तु यह पता लगा कि सभी सम्प्रदायों के साधकों ने अपनी अपनी निर्दिष्ट प्रणाली द्वारा जप करके विशेष उपकार लाभ किया है। जप के सम्बन्ध में जो जो रहस्य अनुभव में आये उनका कुछ सामान्य आभास यहाँ दिया जाता है।

(१) किन्हीं सम्प्रदायों में देखा कि वे केवल ॐकार मंत्र अवलम्बन कर जप करते हैं। वे सहस्रार के ऊर्ध्वदेश (गुणातीत प्रदेश) से जप आरम्भ कर सृष्टि-तत्त्व में प्रवेश करते समय 'अ'कार, उससे नीचे स्थिति तत्त्व में 'उ'-कार एवं पुनः ऊपर उठते समय लयतत्त्व में 'म'-कार उच्चारण कर फिर अव्यक्त धाम में पहुँचने की चेष्टा करते हैं। दृष्टान्तरूप से ये लोग जल और तरंग का उल्लेख करते हैं। शान्त जल से तरंग की उत्पत्ति होती है, अल्प समय के लिए तरंग में स्थिति रहती है और पुनः तरंग शान्त जल में लीन हो जाती है। सृष्टि अकारभाव अर्थात् विष्णु भाव की द्योतक है।

(२) गुरु साधक को भूमि निर्देश कर देते हैं। इनमें भी दो दल देखने में आये। एक दल जप के समय अपने निर्दिष्ट चक्र से सहस्रार तक यातायात करते हैं। दूसरे उस निर्दिष्ट भूमि के केन्द्र से परिधि तक यातायात अवलम्बनकर जप करते हैं और क्रमशः परिधि छोटी होकर केन्द्र में लीन हो जाती है। तब साधक ऊपर के चक्र में आरोहण कर वहाँ की भूमि लाभ करता है। इन साधकों के मतानुसार मूलाधार से सहस्रार तक का

सुषुम्ना मार्ग सब चक्रों में वर्तमान है। ये केवल मंत्र का भाव अवलम्बन कर चक्र के केन्द्र से परिधि तक जप के साथ यातायात करते रहते हैं।

(३) कोइ कोई साधक मूलाधार से चढ़ने-उतरने के साथ साथ जप का कार्य साधन करने की चेष्टा करते हैं। इनका कहना है कि साधारण जीव का मन निम्नस्तर मूलाधार में पड़ा रहता है। जो जहाँ अवस्थित है उसे वहीं से आगे बढ़ना होगा। इसलिये प्रथमावस्था में जप का कार्य मूलाधार से प्राणस्रोत की गति को अवलम्बन कर आरम्भ करना चाहिए, धीरे धीरे बढ़ते हुए सहस्रार तक पहुंचने की चेष्टा करनी चाहिए और वहाँ से फिर मूलाधार को लौटना चाहिए। ये ही साधक उन्नतावस्था में आज्ञाचक्र के भी ऊपर की भूमि लाभकर वहाँ से प्रथमबार मूलाधार में नीचे आकर सहस्रार में लौट जाने की चेष्टा करते हैं। इनकी गति प्रथम बार ऊपर (भगवद् धाम) से मूलाधार की तरफ़ होती है, तत्पश्चात् आरोहणक्रमानुसार पुनः मूलाधार से सहस्रार की तरफ़। इनको स्थिति-विश्राम सहस्रार में जाकर लाभ होता है। इनमें कोई कोई कहते हैं कि 'मरा मरा' जप करके 'राम' में पर्यवसित होना पड़ेगा। 'रा'-कारेण बहिर्याति, 'म'-कारेण विशेत् पुनः। 'रा' उच्चारण कर परिधि की ओर, मूलाधार की ओर एवं 'म' उच्चारण कर केन्द्र की ओर, सहस्रार की ओर, जाने की चेष्टा करनी होगी।

(४) कोई कोई साधना की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मन्त्र जप करने का उपदेश करते हैं और कोई कोई साधना की विभिन्न अवस्थाओं में एक ही मंत्र का रहस्य आस्वाद करने के लिए कहते हैं। इनमें प्रथम दल के साधक प्रथमावस्था में शुद्धि लाभ के लिए शक्तिमन्त्र का जप करते हैं, शक्ति की सहायता की प्रार्थना करते हैं। तत्पश्चात् एकत्वानुभूतिमूलक अद्वैत मन्त्र का और अन्त में एक से ही बहुत्व-मूलक मन्त्रविशेष का जप करते हैं। कोई-कोई साधक भिन्न-भिन्न अवस्था में एक ही मन्त्र का विभिन्न भाव अवलम्बन कर जप करने का

उपदेश करते हैं। जैसे 'तत्त्वमसि' मन्त्र के साधकों में प्रथमतः जप के समय 'मैं उनका हूँ और किसी का नहीं, मैं केवल उन्हीं को देखूंगा, उन्हीं का चिन्तन करूँगा, उन्हीं का कार्य करूंगा'—यह भाव अवलम्बन करते-करते 'मेरा' अर्थात् 'त्वं' भाव क्रमशः कम हो जाता है और 'तत्' भाव प्राधान्य लाभ करता है। अन्तमें 'त्वं' भाव शोधित होकर मानो 'तत्' में पर्यवसित हो जाता है। कहा जाता है कि श्रीगौरांगदेव इसी प्रकार के भावद्वारा, 'तत्त्वमसि' जप के फलस्वरूप, क्रमशः राधाभाव में विभोर हो गये थे और उस राधारूप आधार के द्वारा कृष्ण का अनुप्रवेश उपलब्ध करते-करते कृष्णमय हो जाते थे जिसके परिणामस्वरूप रामानन्द ने गौरांगदेव के भीतर राधाभावद्युति-सुवलित कृष्णरूप दर्शन किया था।

(५) कोई-कोई अपनी इष्ट मूर्ति सामने रखकर व्याहृति की सहायता से इष्ट मूर्ति को अपने भीतर आनयन करते हैं, बीज उच्चारण कर उसमें तन्मयता लाभ कर अपने जीवन का लक्ष्य निर्णय करते हैं, तत्पश्चात् देवतातत्त्व उच्चारण कर अपने सब तत्त्वों में इष्ट के सब तत्त्व उपलब्ध कर इष्टमय हो जाने की चेष्टा करते हैं। साधन-राज्य का—विशेषतः जपतत्त्व का—अनुसन्धान करने में अनेक प्रकार के रहस्य उद्घाटित होते हैं। जपतत्त्व के सम्बन्ध में प्रायः सर्वत्र कुछ न कुछ नवीन अनुभव में आता है।

नामजप के सम्बन्ध में बहुत चर्चा सुनी जाती है। शास्त्र कहते हैं कि नामजप के द्वारा जगत् सृष्ट है—'नामरूपाभ्यां व्याकृतं जगत्'। इसमें रूपके अन्तर्गत है अन्नमय कोश एवं नाम के अन्तर्गत हैं प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश। इनके ऊपर नामी है। रूप के (आनन्दमय कोश के) जगत् से आरम्भकरके प्राणमय कोशादि चारों कोश भेद कर नामी के निकट जाना होगा। तत्पश्चात् नामी के निकट से अवतरण करते समय नामी के आनन्द, नामी के रस और नामी की शक्ति द्वारा सब कोशों को अभिषिक्त कर रूपजगत् में उतरना

होगा। तभी नाम-रूप कार्य साधित होगा। यथार्थ वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा नामजप साधित हो जाने से वास्तव में देह के सब तत्त्व अमृत से अभिषिक्त हो जाते हैं।

यज्ञ

कर्म से जगत् का सृष्टि-स्थिति-लय साधित होता है; कर्म ही यज्ञ है। समस्त जगत् एक विराट यज्ञशाला है। इस यज्ञ के समस्त त्रिपुटी—होता-हवि-हवन, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन—एकमात्र ब्रह्म हैं। यह महायज्ञ जगद्-व्यापी है। हम सज्ञान से अथवा अज्ञान से इस महायज्ञ का निर्दिष्ट अंश पूरण कर रहे हैं—यह जानकर अपने समस्त कामोंको इस महायज्ञ की संगति में साधित कर सकने से अर्थात् अपने सब कामोंको भगवदिच्छा-पूरण में नियुक्त कर सकने से, हमारे सब काम यज्ञ में परिणत हो जायँगे। इसलिए भगवत्-तृप्ति के, भगवत्-प्राप्ति के, अनुकूल सब कामों को 'यज्ञ' कहा गया है। अन्योन्य-व्यवच्छेदक अहंतत्त्व हमारे व्यष्टि देहादि को समष्टि से पृथक् दिखा कर एक अनर्थ की सृष्टि करता है। इसीके कारण आत्म-पर, सुख-दुःख, आदि द्वन्द्व भाव देखने में आते हैं। अहंकार दूर कर व्यष्टि तत्त्व को समष्टि तत्त्व से अभेद जानकर—व्यष्टि को समष्टि का अंगीभूत समझकर—समष्टि की संगति में ही व्यष्टि चल रहा है, यह अनुभव करना ही समस्त यज्ञादि का मुख्य उद्देश्य है।

प्राचीन वैदिक युगमें कर्म मात्र को ही यज्ञ कहा जाता था। समाज में जिन कार्यों में बहुत लोग एकत्रित होकर उत्सव मनाते थे, आनन्द करते थे, उन्हीं का साधारण नाम यज्ञ था। क्रमशः भगवत्-प्राप्ति के अनुकूल कर्म का नाम यज्ञ रखा गया। गीता में द्रव्ययज्ञ, जपयज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, इत्यादि का उल्लेख पाया जाता है। इनमें ज्ञानयज्ञ की प्रधानता स्वीकृत हुई है। भगवान सर्वव्यापी हैं, सर्वत्र उनका दर्शन, ध्यान और सेवा ज्ञानयज्ञरूपमें वर्णित है। अनासक्त फलाकांक्षावर्जित होकर जीव के कल्याण एवं शान्ति के लिए, भगवत्-तृप्ति के लिए,

भगवत्-प्राप्तिके लिए, अनुष्ठित कर्म को यज्ञ कहा गया है। जीवहितार्थ निष्काम कर्म में जीवसेवा के लिए, भगवत्-प्राप्ति के लिए, सर्वापेक्षा प्रधान स्वार्थ-त्याग है परहितार्थ अपना जीवन दान करना, अपने को यज्ञ के पशुरूपमें अर्पण करना। प्राचीन यज्ञ में इड़ाभक्षण एक प्रधान कर्म था। यह इड़ा था यज्ञभाग, यज्ञ में प्रदत्त द्रव्य—यज्ञ के फल को सब मिल कर भोग करते थे। भगवान ईसा को यज्ञ का पशु वर्णित किया गया है, कारण उन्होंने जीव के कल्याण के लिए अपना जीवन दान कर दिया था। यज्ञ में अर्पित पशु के रक्त व मांस भक्षण की प्रथा प्रायः सभी धर्मों में देखी जाती हैं। यह मांसादि भक्षण का अर्थ है सर्व प्रकार से उनके सदृश होने की चेष्टा करना अर्थात् भगवत्–तृप्त्यर्थ अपना जीवन उत्सर्ग करना। सार तत्त्व है भगवत्-प्राप्ति के हेतु कर्म। पहले कहा गया है कि यज्ञों में ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ हैं। ये ज्ञान विशिष्टाद्वैत एवं शुद्धाद्वैत तत्त्व हैं। व्यष्टिभाव को समष्टिभाव में आहुति देकर विशिष्टाद्वैत तत्त्व आस्वाद करने की प्रणाली एवं समष्टि स्थूलादि तत्त्व को क्रमानुसार समष्टि,सूक्ष्म, कारण एवं परमात्म-तत्त्व में आहुति देकर शुद्धाद्वैत तत्त्व आस्वाद करने की प्रणाली कालान्तर में ज्ञानयज्ञ नामसे वर्णित हुई।

हवन

जगत् में केवल एक भगवान हैं; जीव-जगत्-रूप उनकी देह है। जगत् भी पूर्ण है, जीव भी पूर्ण है। अनन्त वेष धारण कर, अनन्त रूपमें, अनन्त भाव में, हमारे लीलामय अनन्त देव सब के भीतर से अनन्त लीला-रस विस्तार किये हुए हैं। किसी वस्तु को खण्डित करने के लिए तदतिरिक्त एक दूसरी वस्तु की आवश्यकता होती है। अखण्ड तत्त्व को केवल कल्पना-जगत् में ही खंडित किया जा सकता है। तभी तो हमारे 'अहं' तत्त्व ने एक काल्पनिक आत्म-पर द्वन्द्वभाव सृष्टकर जगत् को

इतना अशान्त कर दिया है। फलतः हम अहंकारवश आत्मा का नित्य-सर्वगत भाव भूल कर, 'आत्म-पर' भाव सृष्ट कर, 'अपने' सुख के लिए 'दूसरे' का अनिष्ट करने में दुविधा बोध नहीं करते। यह काल्पनिक भेद भाव या द्वन्द्वभाव दूर करने के लिए ही हमारी वैदिक हवन क्रिया है। अन्नमयादि व्यष्टि पंचतत्त्व जगद्व्यापी समष्टि पंचतत्त्व के अच्छेद्य अंश हैं और उसी की संगत्यनुसार उसी के कार्य में लगे हैं। प्रत्येक व्यष्टि तत्त्व को समष्टिगत उसी तत्त्वमें आहुति देकर अपना व्यष्टि भाव दूर कर समष्टिगत भाव उपलब्ध करना अर्थात् विशिष्टाद्वैत भाव उपलब्ध करना हवन का प्रथम उद्देश्य है। इसके फलस्वरूप साधक अनुभव करता है कि जगत् में एकमात्र स्थूल देह है, उसमें लीला कर रहे हैं एकमात्र प्राण, एकमात्र मन, एकमात्र आत्मा। तब साधक एक समरस में निमग्न होकर लीलामय श्रीभगवान का लीलातत्त्व आस्वाद करता है।

हवन की क्रिया—पहले व्यष्टि भाव को समष्टि भाव में आहुति देना। व्यष्टि अन्नमयकोश को समष्टि अन्नमयकोश में आहुति देने से केवल एक अन्नमयकोश रह गया—इसका मंत्र है "अन्नमयाय स्वाहा इदमन्नम्"। तब अन्नमयकोश की सब चिन्ता दूर हो गई और अपना प्राणमय कोश प्रस्फुटित हुआ। क्रमशः एक समष्टिव्यापी महाप्राण अनुभव में आया। हमारा व्यष्टि प्राण उसका अच्छेद्य अंश है। जब व्यष्टि प्राण की समष्टिप्राण में आहुति दी तो एक समष्टि प्राण अनुभव में आया—इसका मंत्र है "प्राणमयाय स्वाहा एष प्राणः"। प्राण शान्त हो जाने के बाद मन को ग्रहण किया। क्रमशः एक समष्टि मन दृष्टिगोचर हुआ (There is a mind common to all)। मालूम पड़ा कि व्यष्टि मन समष्टि मन का ही अंश है और उसी की संगति में चलता है। व्यष्टि मन की समष्टि मन में आहुति दी—इसका मंत्र है "मनोमयाय स्वाहा एतन् मनः"—तो मन की वृत्ति लोप हो गई और विज्ञानतत्त्व जागरित हुआ। पूर्ववत् व्यष्टि विज्ञान की समष्टि

विज्ञान में आहुति दी—इसका मंत्र है "विज्ञानमयाय स्वाहा एतद् विज्ञानम्"—तो आनन्दतत्त्व अनुभव में आया। व्यष्टि आनन्द की समष्टि आनन्द में आहुति दी—इसका मंत्र है "आनन्दमयाय स्वाहा एष आनन्दः"—तो एकमात्र आनन्द रह गया। सब मिलाकर अब रहे एक सर्वव्यापी आत्मा और उसका आवरण एवं प्रकाशयंत्ररूप में समष्टिभूत पंचकोश अर्थात् जीव-जगत्—"ब्रह्म देही और जगत् उसकी देह"—यह विशिष्टाद्वैत अनुभूति है। तत्पश्चात् समष्टिगत अन्नमय की प्राण में आहुति देने के फलस्वरूप अन्नमय प्राण में लय हो गया, समष्टिगत प्राण की मन में आहुति देने के फलस्वरूप प्राण मन में लय हो गया, फिर समष्टिगत मन की विज्ञान में आहुति देने से मन विज्ञान में लय हो गया और समष्टिगत विज्ञान की आनन्द में आहुति देने से एक समष्टिगत आनन्द रह गया। इस आनन्द की ब्रह्म में आहुति देने से केवल एकमात्र ब्रह्म रह गया और 'एकमेवाद्वितीयम्' शुद्धाद्वैत तत्त्व अनुभव में आया। इन आहुतियों के मंत्र हैं—"अन्नमयाय स्वाहा", "प्राणमयाय स्वाहा", "मनोमयाय स्वाहा", "विज्ञानमयाय स्वाहा", "आनन्दमयाय स्वाहा"। विशिष्टाद्वैत एवं शुद्धाद्वैत अनुभूति ही हवन का उद्देश्य है।

स्मरण रखना होगा कि 'एक' ही लीला के बहाने 'बहु'-रूप में प्रतीयमान हुए हैं। इस 'बहु' को धीरे-धीरे उसके भीतर का भेदभाव दूर करके एकत्व में पर्यवसित करने का नाम ही है हवनतत्त्व। यज्ञ कर्म-प्रधान है—कर्मकांड द्वारा विवेचित है। यज्ञ भगवान का कार्य है। जीव के कल्याण के लिए भगवान का आत्मत्याग-स्वार्थत्याग 'पुरुषमेध' यज्ञ है। नरमेधयज्ञ में नर यथासम्भव पूर्णता लाभ करके, अपने स्वार्थ को सम्पूर्णतः विसर्जन कर, निस्स्वार्थ होकर, भगवत्कार्य में आत्मोत्सर्ग करता है। यज्ञ के भीतर हम जीव के कार्य को भगवत्कार्य में परिणत करने का कौशल देखते हैं। हवन साधारणतः लययोगप्रधान है, ज्ञान-

योगी की साधना के अन्तर्गत है। प्रथमतः व्यष्टितत्त्वों को समष्टितत्त्वों में आहुति देकर एक विशिष्टाद्वैत भाव स्थापित करना, तत्पश्चात् विशिष्टाद्वैत भावों को एक अखंड अद्वय तत्त्व में आहुति देकर 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्व आस्वाद करना ही हवन का लक्ष्य है। कहना अनावश्यक है कि हवन लयप्रधान है—सब विवर्तन या परिणति दूरकर एक अखंड अद्वय सत्ता में पर्यवसित होने का उपाय है। हवन ज्ञानयोगी के लिए अवलम्बनीय है, यज्ञ कर्मयोगी को अनुष्ठेय है और इन दोनों के मिलन से राजयोग साधित होता है। हमारे पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण कर्मकांड और ज्ञानकांड का विवाद दूरकर दोनों में एक अपूर्व समन्वय स्थापन कर राजयोग की प्रतिष्ठा कर गये हैं।

विसर्जन

भगवान के विषय में शास्त्र और गुरु से सामान्य ज्ञान लाभ कर, गुरु के उपदेशानुसार अपने इष्ट विग्रह में जो कुछ भगवत्तत्त्व के सम्बन्ध में समझा उतना आरोप कर—प्राण-प्रतिष्ठा व बोधनादि द्वारा इष्ट-विग्रह को संजीवितकर—न्यास, उपचार-समर्पण, आत्मनिवेदन व ध्यानादि की सहायता से भगवत्तत्त्व अनुभव करने की इतने दिन चेष्टा की। गुरु के आशीर्वाद और भगवत्कृपा से इतने दिन बाद मेरी इष्टमूर्त्ति के भीतर से इष्टतत्त्व के स्फुरण ने मुझको मुग्ध एवं समाहित कर दिया। सब तत्त्वों में, प्रकृति में सर्वत्र, इष्टतत्त्व स्फुरण क्या चीज़ है यह अब अनुभव में आने लगा। आज अपनी इष्ट-मूर्त्ति का ध्यान करते-करते पहले बाह्यज्ञान जाता रहा, अपना अस्तित्व लोप हो गया, स्वयं मानो इष्टमय हो गया, इष्ट के अतिरिक्त जगत् में और कुछ नहीं रह गया। फिर थोड़ी देर के बाद जब बाह्य ज्ञान हुआ—जब अपने शरीर की तरफ़ मन गया—तो देखा कि मेरी त्रिविध देह के प्रत्येक तत्त्व में मेरे जीवन्त इष्टविग्रह पूर्णरूप में विराजित और लीलारत हैं। इष्ट तत्त्व अब मेरे बाहर नहीं है।

वे अब मेरे भीतर प्रत्येक तत्त्व में प्रत्येक अनुभूति में पूर्णरूप में विराजित हैं। बाहर की मृन्मय इष्टमूर्ति की अब आवश्यकता नहीं रही। उन्होंने मेरे भीतर की ज्ञानगंगा में निमज्जित होकर मुझे तन्मय कर दिया। इष्ट का विसर्जन होता है अपने भीतर की ज्ञानगंगा में। प्रथमाधिकारी का बाहर की गंगा में विसर्जन केवल एक प्रतीकमात्र है जैसे शरीर की अस्थियों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थीगण एक कँकाल की सहायता लेते हैं। भीतर ज्ञान प्रकाश हो जाने पर बाहर के प्रतीक की आवश्यकता नहीं रहती।

नावार्थी हि भवेत्तावद् यावत् पारं न गच्छति।
उत्तीर्णे तु सरित्पारे नावा वा किं प्रयोजनम्॥
उल्काहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य तत्त्वतः।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज् ज्ञानं विसर्जयेत्॥

जिनके लिए जप–तपादि साधना की थी वे हृदयद्वार पर खड़े हैं। अब और जप–तपादि में व्यस्त रहने की क्या आवश्यकता है।

प्रसाद्-वितरण

हमारी पूजा में भगवान के आवाहन के समय जगत् के समस्त जीवों को निमंत्रित किया जाता है क्योंकि एक जीव की भी अनुपस्थिति में समष्टिभूता माँ का आगमन सुसिद्ध नहीं होता— पूजा द्वारा माँ का तृप्तिविधान एवं माँ की प्रसन्नता का लाभ साधित नहीं होता। पूजा के समय भगवान के आवाहन के साथ साथ समस्त देवता, समस्त ऋषिमुनि तथा समस्त जीवों को आवाहन करने की व्यवस्था देखी जाती है; कारण भगवान समष्टिभूतात्मा, विश्वात्मा, विश्वरूप हैं। इसके बाद स्वस्तिवाचन के समय हम सब जीवों के ऋणी हैं यह मन में विचार कर और अपने को इस ऋण को परिशोध करने के अयोग्य जानकर, भगवान से सब जीवों के लिए कल्याण प्रार्थनाकर, शुभ कार्य में सब जीवों का आशीर्वाद

प्राप्त करने की व्यवस्था है। एक जीव के भी असन्तुष्ट रह जाने से पूजा भगवान के ग्रहणयोग्य नहीं हो सकती। पूजा के भीतर हम अपनी फलाकांक्षा, वृथाकर्त्तृत्वाभिमान, प्रतिष्ठा का मोहादि त्यागकर सब कार्य में भगवान का लीला-रहस्य आस्वाद करने का सुयोग पाते हैं।

पूजा में प्रणाम के समय अनुभव करना होगा कि हमारे सब तत्त्व भगवान को अर्पित हो गये, भगवान ही प्रकृत कर्त्ता हैं, हम केवल निमित्त-मात्र हैं। हमारे द्वारा जिससे भगवदिच्छा पूर्ण सफलता लाभ कर सके, हम जिससे भगवदिच्छा पूरण होने में बाधा न देकर भगवल्लीला में सहायक हों, हमारे सब तत्त्व श्रीभगवान की लीला प्रचार के यंत्रस्वरूप हों—यह तत्त्व अन्तर में उपलब्धकर हम श्रीभगवान के निकट, उनके विधान के निकट, नत होकर सम्पूर्णतः आत्मसमर्पण करने में समर्थ होते हैं।

प्रार्थना-तत्त्व में हम भगवदिच्छा पूर्ण करने और सब जीवों का कल्याण साधन करने के अतिरिक्त भगवान से और कुछ नहीं माँगते। यह तत्त्व अन्तर में उपलब्ध कर हम अपने समस्त तत्त्वों को भगवदिच्छा पूरण करने के लिए, भगवज्जीवके कल्याण साधन के लिए, पूर्णतः उत्सर्ग करने में समर्थ होते हैं। तब हमारा अपना कहकर कुछ नहीं रह जाता। हमारा जो कुछ था वह सब भगवान को अर्पित हो गया। अब हम भगवान को अर्पित सब पदार्थ भगवान के प्रसादरूप में ग्रहण कर समस्त जीवों की सेवा में उत्सर्ग करने की चेष्टा करते हैं। तब हमारा कार्य हो जाता है समस्त जीवों की सेवा, समस्त जीवों का तृप्ति-विधान, समस्त जीवों की पूर्णता-लाभ में--भगवत्प्राप्ति में--सहायक होना। तब हमारे उपार्जित एवं हमारे भगवान को अर्पित सब द्रव्य प्रसादरूप में ग्रहण करने के पात्र हो जाते हैं सब जीव। मैं भी उन जीवों में एक हूँ, इसलिए मुझे भी अलग नहीं किया जा सकता। इसलिए भगवान को

अर्पित पदार्थ सबको वितरण कर जो अवशिष्ट रहे उसको स्वयं ग्रहण करने की व्यवस्था देखी जाती है।

"जगत् में जितने भोग्य पदार्थ हैं उनमें मेरा कुछ नहीं है, सभी मेरे प्रियतम श्रीभगवान के हैं। इसलिए भोग्यमात्र को ही उनको निवेदन करने की व्यवस्था देखी जाती है। इसके फलस्वरूप अपना भोक्तृभाव कट जाता है और स्वामित्व-बोध खुल जाता है। समस्त भोग्य पदार्थ उनको अर्पण करने से उनकी दृष्टि सब वस्तुओं पर पड़ती है जिसके फल-स्वरूप वे भोग्य विषय फिर हमारे बन्धन का कारण नहीं हो सकते। ये सब उनके दृष्टिपात से अमृतरूप में परिणत हो जाते हैं एवं स्वभावतः ही उनसे प्रत्यागत होकर साधक-जीव के पास लौट आते हैं। यह श्रीभगवान की प्रसन्नता का निदर्शन होने के कारण प्रसादरूपमें अभिहित हैं। तब इनमें कोई मलिनता नहीं रहती और इनके ग्रहण से साधकको विषयभोग के बन्धन में पतित नहीं होना पड़ता। यह प्रसाद अर्थात् प्रत्यक्ष भगवत्कृपा अपने साधन-बल से प्राप्त होने पर भी विश्वकल्याणके लिए अर्थात् समस्त जगत् के सुख व हित के लिए सर्वत्र वितरण करना होता है; अवशिष्ट किंचित् मात्र अमृत अर्थात् कणिकामात्र प्रसाद स्वयं ग्रहण करना होता है।"

साधक का जीवन भगवत्कार्य साधन में उत्सर्गीकृत होता है। भगवान का कार्य उनके प्रियतम जीव के कल्याण की पूर्णता लाभमें सहायक होता है। इसलिए हमारी समस्त साधना का उद्देश्य है सब जीवों का प्रकृत कल्याण साधन करना—यह सर्वदा याद रखना होगा। श्रीभगवान विश्व-रूप हैं, जीव उनका लीलास्वीकृत विग्रह है। भगवान का किसी विषय में प्रयोजन न होने पर भी जीव की सेवा ही भगवान की सेवा है, जीव के तृप्तिविधान से ही भगवान तृप्त हो जाते हैं—इस तत्त्व का मर्म उपलब्ध करना होगा। अपनी समस्त वृत्तियों को पूर्णरूप से परिणत कर जीवसेवा में नियुक्त करना ही हमारी पूजा का मुख्य उद्देश्य है।

सब कामों में पूजा

हिन्दू शास्त्र का मुख्य कथन है--श्रीभगवान हमारी सत्ता, ज्ञान और आनन्द के मूल प्रस्रवण हैं; वे सर्वव्यापी हैं, पूर्णस्वरूप हैं; हमारी कर्म, ज्ञान व भक्ति द्वारा पूर्णता लाभ करने की चेष्टा ही भगवदुपासना है; यही जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। इसीलिए हिन्दु ऋषि सर्वत्र भगवद्दर्शन, सब जीव-जगत् में भगवद्ध्यान एवं सर्वजीव की सेवा को प्रधान कर्त्तव्य कह गये हैं। भगवान शङ्कर ने कहा है--"पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः। संचारः पद्योः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरः यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधना ॥" इन्द्रियों से विषय इस प्रकार ग्रहण करना होगा जिससे हम विषय-ग्रहण द्वारा विषयों के अन्तरात्मा विषयी को प्राप्त होकर विषय-ग्रहण को पूजा में पर्यवसित कर सकें। इसके फलस्वरूप हमारी निद्रा समाधि में, भ्रमण भगवत्-प्रदक्षिण में, उच्चारित वाक्य भगवान के स्तोत्र में, भोजन भगवान की आहुति में तथा अन्य समस्त कार्य पूजा में परिणत होने का सुयोग लाभ करेंगे।

सब काम पूजा में परिणत करने के लिए हमें सर्वप्रथम विधाता को (भगवान को) एवं विधान द्वारा उनके आत्मप्रकाश तत्त्व को अच्छी तरह हृदयंगम करना होगा। विधाता के ऊपर प्रेम और उनका प्रिय-कार्य साधन ही हमारे जीवन का मुख्य उद्देश्य है, यह भली-भाँति समझ लेना होगा। अपनी समस्त वृत्तियों को पूर्ण परिणत कर उनके भीतर का अपूर्व समन्वय आविष्कार कर अपनी सब वृत्तियों को भगवत्-प्रियकार्य साधन में नियुक्त करना होगा। हमारी ज्ञानार्जनी वृत्ति उनके स्वरूप अवधारणमें और उनकी इच्छा जानने में व्यस्त रहे; हमारी कार्यकारिणी वृत्ति उनकी इच्छा को हमारे समस्त कार्यकलाप द्वारा पूर्णतया सफल करने में सचेष्ट रहे; हमारी चित्तरंजनी वृत्ति आनन्द स्वरूप में सर्वदा समाहित रहे। अर्थात् हमारा ज्ञान भगवान का स्वरूप तथा उनके विधान,

इच्छा और कार्यकलाप को जानकर उनकी सब इच्छाओं को हमारे जीवन के सब कार्यकलाप द्वारा सफल करने की चेष्टा करे। इसके फलस्वरूप हमारी समस्त इन्द्रियाँ भगवदभिमुखी हो जायँगी। सब कामों को पूजा में परिणत करने के लिए तीन विषय विशेषतः जानने योग्य हैं। प्रथमतः जीव-जगत् व शिवतत्त्व एवं दोनों का परस्पर सम्बन्ध, द्वितीयतः व्यष्टि-समष्टि तत्त्व, तृतीयतः कर्मरहस्य।

जीव-जगत् एवं शिवतत्त्व—जीव शिव का अंश अथवा प्रतिबिम्ब है, जीव-जगत् शिव का प्रकाश है, जीव-जगत् के भीतर से शिव आत्म-प्रकाश करते हैं। शिव पूर्ण हैं, जीव अपूर्ण है। जीव साधना द्वारा संस्कार और अज्ञानता दूर करके पूर्णत्व लाभ करने पर शिव से तन्मयता लाभ कर सकता है, शिव को जान सकता है, समझ सकता है, प्राप्त कर सकता है। जीव वेष धारण किया हुआ शिव है।

व्यष्टि- समष्टि तत्त्व—शिव एक अखंड अद्वय तत्त्व है। जीव उसी अखण्ड का कल्पित खण्ड प्रकाश है। अखण्ड खण्डित नहीं हो सकता, न होता है—केवल खंडित ऐसा प्रतीत होता है। यह कल्पित खंड भाव दूर करके अखंड में पर्यवसित होने के लिए ही सब साधना है। रज्जु सर्प नहीं है—सर्पभाव कल्पित है। रज्जु को न जानने के कारण यह भूल होती है। बन्धन दुःख कष्ट होता है जब तक स्वरूपोपलब्धि न हो। "अखंडम् खंड्यते कथं" अखंड का कौन खंडन करेगा? खंडन करके भेदभाव कहाँ रहेगा? अज्ञानता ब्रह्म में नहीं रह सकती—किन्तु ब्रह्मातिरिक्त पदार्थ ही नहीं है। तो फिर यह अज्ञानता कहाँ से आती है, कहाँ वास करती है? जो नहीं जानता उसके मस्तिष्क में। गणित में ज्यामिति (Geometry) को न जानने का भाव तभी तक रहता है जब तक समझ में न आये, समझ में आजाने के बाद 'न-जानना' नहीं रहता, यह ज्ञान विनाश्य है। इसलिए समस्त साधना का उद्देश्य

है समष्टिभावापन्न होने की चेष्टा करना अथवा इष्टोपलब्धि। इष्ट ही समष्टिभाव को प्रतीक हैं। कल्पित भेदभाव दूर करना ही साधना का उद्देश्य है।

कर्मरहस्य – इसके बाद कर्मरहस्य समझना चाहिए। कर्म ब्रह्मोद्भव है, ब्रह्म से आया है। सृष्टि-व्यापार ही कर्म है। जीव की साधना है—इस कर्म को फिर ब्रह्म में लेजाना, लययोग साधन करना। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तत्त्व उपलब्ध करने चाहिएँ। प्रकृत तत्त्व परा (गुणातीत) अवस्था है। यह क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा भेद कर—कारण, सूक्ष्म भेदकरके—वैखरी (स्थूल) अवस्था में आया है। हमारा यह जगत् वैखरी अवस्था है। कर्म परावस्था से आता है, पुनः परावस्था में ही वापस लेजाने के लिए। तरंग जलसे उठती है और जल में ही पर्यवसित हो जाती है। इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति क्रिया में सफलता लाभ करती हैं और पुनः क्रिया ज्ञान के द्वारा इच्छातत्त्व में, लीला के द्वारा स्वरूपतत्त्व में, पर्यवसित हो जाती है। 'एक' ने बहु होने की इच्छा की तो ज्ञान (अज्ञानरूपी ज्ञान) आया–यह फिर जीव-जगत् में पर्यवसित हुआ। अब जीवजगत् को पुनः ब्रह्म में पर्यवसित करना होगा। साधक सृष्टि एवं लय का स्वरूप जानकर उदासीन भाव से लीलातत्त्व आस्वाद करते हुए लीला के ऊपर चला जाता है। हमारे दर्शन-श्रवणादि सब कर्म ब्रह्म से आये हैं। ब्रह्म ही मानो रूपान्तरित होकर हमारे ग्रहणयोग्य हुए जीवजगद्रूप में प्रतीयमान हैं। हमारी साधना होनी चाहिए जीवजगत् के भीतर शिव का दर्शन करना, शिव को स्थापन करना, शिव में प्रतिष्ठा लाभ करना। जो कारण भी हो हम उनका परा स्वरूप उपलब्ध करने में असमर्थ हैं। इसलिए वे हमारे ग्रहणयोग्य हुए वैखरीरूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। उनका सौन्दर्य धारणा के अतीत है इसलिए वे गुलाब आदि फूलों का रूप धारण करके आये हैं। हमारी साधना होनी चाहिए गुलाब के सौन्दर्य को

देखते देखते परम सुन्दर को ढूँढ़ निकालना। प्रकृत माँ—तात्त्विक माँ (Abstract mother)—धारणा के अतीत हैं। इसलिए वे हमारे समाज की वैखरी मातृरूप में उतर आई हैं। हमारी साधना होनी चाहिए इन माताओं के भीतर से प्रकृत माँ का आवाहन करना, ध्यान करना; पूजा करके, उनको स्वरूप में प्रतिष्ठित करके, ढूँढ़ निकालना। प्रकृत बालगोपाल, कुमारी-भगवती, आदि-दम्पति हमारे ग्रहणयोग्य न होने के कारण वे लड़का, लड़की, पती-पत्नी रूप में आये हैं। हमारी साधना है इन सब वैखरी रूपों में उनके परा रूप को प्रस्फुटित कर, इनको परा में पर्यवसित कर, परा बालगोपाल, परा कुमारी भगवती और परा आदि-दम्पति को देखना, जानना और पूजा करना। इसके लिए आवश्यकता है सत्यप्रतिष्ठा, प्राणप्रतिष्ठा और आनन्दप्रतिष्ठा की; अंगन्यास, करन्यास और व्यापकन्यास की; सब रूपों को, सब सत्ताओं को, भगवत्सत्ता में पर्यवसित करने की; सब आनन्द को ब्रह्मानन्द में पर्यवसित करने की; सब सौन्दर्य के भीतर से परम सुन्दर के निकट जाने की; सब रूपों को शान्त और शुद्ध कर भगवत् रूप में पर्यवसित करने की। जानलेना होगा कि वे ही शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुर रूपों में हमारे निकट उपस्थित हैं। हमारी साधना है इन सब भावों को शुद्धकर सबके भीतर भगवद्धाम के शान्तादि रसों का आस्वादन करना। तभी अनुभव में आयेगा कि वे विचित्र रूप धारण कर, हमारे ग्रहणयोग्य होकर, हमारे सामने उपस्थित हैं। हमारा कार्य है इन सब वैखरी रूपों के भीतर से उनके परारूप पराभाव को प्रस्फुटित कर, उस परम को परा भाव में प्रतिष्ठित कर, उनके प्रकृत स्वरूप को देखना, उनकी पूजा करना। तब उनको जानने के लिए, समझने के लिए, ढूंढ़ने के लिए, प्राप्त करने के लिए जो कुछ करेंगे वही उनकी पूजा होगी। तभी हमारी साधना होगी 'तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत्-प्रबोधनं एतदेकपरत्वंच'-रूप ब्रह्माभ्यास; 'तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः' इत्यादि होने की चेष्टा करना। तभी

हमारे स्नान, भ्रमण, आहारादि भगवान के स्नान, भ्रमण, आहारादि में पर्यवसित होकर पूजा में परिणति लाभ करेंगे। तभी सर्व भूत में उनको देखकर, जानकर, प्राप्तकर सब जीवों की सेवा को उनकी पूजा में परिणत करने का सौभाग्य लाभ होगा।

इस प्रसंग में मुझे अपना एक स्वप्न याद आता है। एकदिन रात को मैंने देखा कि एक सुन्दरी लड़की हँसती हुई मेरे पास आई और कहने लगी "यह फूल के पेड़ पानी के अभाव से सूखे जा रहे हैं, इनको पानी दे, स्नान करा।" मैंने एक बालटी पानी पेड़ों में डाल दिया। लौटकर देखा तो उस कुमारी का शरीर और कपड़े सब भीगे हुए थे। तब कुमारी ने कहा "यह देख मेरा स्नान हो गया।" एक भूखे कुत्ते को देखकर वह कहने लगी "यह कुत्ता भूखा है, इसे कुछ खाने को दे।" तब कुत्ते को खाना देते ही कुमारी हँस कर कहने लगी "यह देख मेरा खाना हो गया।" इतनी बात करके वह कुमारी न जाने कहाँ चली गई। छोटे लड़के लड़कियों के भीतर बालगोपाल और कुमारी भगवती का आवाहन करने के फलस्वरूप मेरे अनेक संशय निवृत्त हो गये हैं। इनके कथानुसार चलकर मैंने कई बार मृत्यु से रक्षा पाई है। मेरे गुरुदेव कहते थे "जो कुछ देखो उसको मन ही मन गुरु मानकर भगवद्-बुद्धि से प्रणाम करो। तब देखोगे कि सब पदार्थ भगवद्भाव से विभावित होकर तुम्हारी पूजा ग्रहण करेंगे, तुमको आशीर्वाद देंगे।" सब पदार्थों में, सब जीवों में, भगवान् का आवाहन और ध्यान करो—उनके कार्यकलाप द्वारा जो उनके भीतर बैठे कार्य कर रहे हैं वे ग्रहण-योग्य हो जायँगे। इसके लिए आवश्यकता है सर्वत्र उनके आवाहन और ध्यान की, सबकी सेवा द्वारा उनकी पूजा करने की। भ्रमण के समय मित्रों के भीतर तथा चारों ओर के दृश्य के भीतर उनकी सत्ता उपलब्ध करने की चेष्टा करो। देखोगे कि तुम्हारा भ्रमण भगवान की गोष्ठलीला में पर्यवसित हो गया। सबकी वार्ता के भीतर कौन बोल रहा

है इसको उपलब्ध करने की चेष्टा करो। अपने और सबके स्नानाहारादि के समय अनुभव करने की चेष्टा करो कि इन सबके भीतर कौन बैठा है, कौन स्नानाहारादि कर रहा है। धीरे धीरे तुम्हारा स्नानाहार भगवान के स्नानाहार में पर्यवसित हो जायगा। शयन के समय बिछौने में माँ की कोमल गोद का चिन्तन करो, अनुभव करो कि किसके शीतल स्पर्श से तुम्हारे देह और मन का अवसाद तथा ग्लानि दूर हो जारही हैं। इस अनुभूति से तुम्हारी निद्रा समाधि में पर्यवसित हो जायगी। एक फूल अथवा शिशु को देखते समय अनुभव करने की चेष्टा करो कि इसके भीतर कौन बैठा लीला कर रहा है, इसकी आँख द्वारा कौन देख रहा है, कान द्वारा कौन सुन रहा है, इत्यादि। ऐसा करने से देखोगे कि शिशु बालगोपाल में अथवा कुमारी भगवती में परिणत होकर तुम्हारे भगवद्दर्शन के, तुम्हारी भगवत्-सेवा के, सहाय हो जायंगे। खाने के समय अनुभव करो कि तुम्हारे भीतर बैठे कौन खा रहे हैं। यदि वे तुम्हारे भीतर न होते तो तुम्हारे आत्मीय-स्वजन अन्नादि के बदले तुम्हारे मुख में आग लगाकर तुम्हें श्मशान भेज देते। तब देखोगे कि तुम्हारा खाना भगवदाहार में पर्यवसित हो गया।

सब कामों को पूजा में परिणत करने के लिए अनुभव करना होगा कि सब रूप-रस-शब्द-स्पर्श-गंध के द्वारा वे ही हमारे निकट आये हैं। समस्त रूपों के भीतर—लोग जिसको सुन्दर कहते हैं केवल उसी के भीतर नहीं प्रत्युत लौकिक दृष्टि से परम रूपहीन के भीतर भी—उनका सौन्दर्य और माधुर्य उपलब्ध करना होगा। समस्त स्पर्श के भीतर—यहाँ तक कि रोग पीड़ा में, प्रहार में, बिच्छु के काटने में भी—उनका स्पर्श उपलब्ध करना होगा। सब वचनों में, सब गंधों में, सब भावों में उपलब्ध करना होगा कि ये उन्हीं के कम्पन हैं, उसी सत् के विकास हैं। सब पदार्थों में, सब भावों में, सब कार्यों में, केवल उन्हीं की उपलब्धि करनी होगी। समझ लेना होगा कि सब विचित्र भाव, विचित्र कार्य, हमारे अधिकारानुसार

हमारे उचित प्राप्यरूप में, हमारे ग्रहणयोग्यरूप में, उन्हीं के आगमन हैं। जहाँ जो कुछ देखो, सुनो या सोचो उसमें आनन्द सहित आनन्दमय की विभूति उपलब्ध कर आनन्द में विभोर हो जाना होगा। किसी इन्द्रिय की मानो उनके अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण करने की क्षमता न रहजाय। नमक के एक पुतले के समान ब्रह्म-समुद्र में डूबकर, तन्मयता लाभकर, एक अखंड आनन्दरस में अपना सब कुछ विसर्जन कर, अपना पृथक् अस्तित्व तक लोप कर देना होगा। "मिलना है खुदा से तो खुदी अपनी मिटा दे"। पृथक् अस्तित्व यदि रह भी जाय तो अनुभव में नहीं आयेगा। तभी हमारे सब भाव और सब काम पूजा में परिणत होंगे। 'एकमेवा-द्वितीयम्' का विवर्तन और परिणति दूरकर—सृष्टि के अतीत राज्य में जाकर कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, न था और न हो सकता है, यही चरम व परम तत्त्व है—एक अखंड समरस में निमज्जित हो जाना होगा।

हमारे सब कामों में साधारणतः दो विभाग देखे जाते हैं—(१) अपने लिए और (२) दूसरों के लिए।

अपने लिए सब कामों को पूजा में परिणत करने के लिए देखना होगा कि हम क्या क्या काम करते हैं अर्थात् हमारे द्वारा कौन कौन कार्य कारित होते हैं, यह मन ही मन अनुभव करते हुए सब सृष्ट पदार्थों में, सब कामों में, सब भावों में, सब आनन्दों में अपने आप को केवल निमित्तमात्र साक्षीस्वरूप में अवस्थितकर श्रीभगवान की लीला का दर्शन करना होगा। कभी कभी लीला देखते-देखते लीलातीत अखंड तत्त्व में निमज्जित हो जाना होगा। सर्वत्र सत्यप्रतिष्ठा, प्राणप्रतिष्ठा, आनन्दप्रतिष्ठा को पूर्णतया सफल करना होगा। अनुभव करना होगा कि उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उनकी लीला के अतिरिक्त और कोई कार्य ही नहीं है। जो कुछ भाव और कार्यरूप में उपस्थित है वह सब आनन्दमय के आनन्द का स्फुरण अथवा लीलामात्र है।

दूसरे के लिए अपने सब कामों को भी पूजा में परिणत करना होगा। बाहर के सब दृश्यों में उनका अस्तित्व, उनका कार्यकलाप और उनकी लीला दर्शन करने की चेष्टा करनी होगी। एक वृक्ष को देखकर विचारेंगे कि 'तुम इस वृक्ष के भीतर बीजाकाररूप में छिपे हुए थे, क्रमशः विकसित होकर फलफूल से सुशोभित ऐसे सुन्दररूप में हमारे सामने खड़े हो'। फूल को देखकर सोचेंगे कि 'तुम ही तो इसके भीतर वर्तमान हो। इसका सौन्दर्य हमको अपने परम सुन्दर प्रेमास्पद का स्मरण करा देता है। हे फूलरूपी परमात्मा, तुमको नमस्कार'। इसी प्रकार समुद्र के गाम्भीर्य में, आकाश के माधुर्य में, एक शब्द में सब विभूतिमत् पदार्थों में भगवान को आस्वाद करने की चेष्टा करनी होगी। इसके बाद देखना होगा कि वे मनुष्यों के भीतर कितने रूपों में हमारे निकट उपस्थित हैं। ऋषिगण उनके सब रूपों तथा भावों को पांच भाग में विभक्त कर गये हैं। वे हमारे ग्रहणयोग्य होने के लिए शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर भावों द्वारा हमारे सामने उपस्थित हैं। जो हमारे विशेष परिचित नहीं हैं अर्थात् जिनके साथ हमारा विशेष सम्बंध स्थापित नहीं हुआ है वे शान्त भाव में उपस्थित हैं। उन सबके भीतर भगवान के शान्त भाव का कार्यकलाप चिन्तन करना होगा; उनके साथ प्रकट भाव में भगवान के आदर्श मनुष्यरुप में व्यवहार करना होगा जिससे वे हमको शान्त, शुद्ध, संयत, सर्वभूतहितेरत आदर्श मनुष्यरूप में उपलब्ध कर सकें और उनके सम्बंध में हमारा कार्यकलाप भगवान का उद्देश्य साधितकर भगवत्पूजा में पर्यवसित हो सके। इसके बाद जो हमारे सम्मुख मालिक अथवा नौकर के रूप में उपस्थित हैं उनके निकट हम आदर्श नौकर अथवा आदर्श मालिक के रूप में उपस्थित होकर, यह विचारकर कि 'भगवान इस रूप में वेष धारण करके आये हैं हम भगवद्बुद्धि से उनकी सेवा करेंगे जिससे उनकी सेवा हमारी पूजा में परिणत हो जाय। बन्धुओं से व्यवहार करते समय विचारेंगे कि हमारे भगवान मानो हमको आदर्श बन्धुरूप में

परिणत करने के लिए बन्धुरूप में उपस्थित हुए हैं; बन्धुओं के भीतर भगवान का अस्तित्व उपलब्ध करने का प्रयत्न करेंगे; समझने की चेष्टा करेंगे कि भगवान ही यह वेष धारणकरके आये हैं और हम बन्धुओं की सेवा के भीतर आगत श्रीभगवान की सेवा कर रहे हैं। ऐसा करने से बन्धुसेवा पूजा में पर्यवसित हो जायगी। इसके बाद अपनी सन्तान के सम्बंध में विचारना होगा कि भगवान ही मानो हमारा वात्सल्य भाव बढ़ाने के लिए बालगोपाल एवं कुमारी भगवतीरूप में आये हैं। इनके भीतर बालगोपाल एवं कुमारी भगवती का आवाहनकर, जागरितकर, इनकी सेवा को आदर्श बालगोपाल एवं कुमारी भगवती की पूजा में परिणत करना होगा। मन ही मन कहना होगा कि 'हे गोपाल, हे कुमारी भगवती, तुम प्रकट होकर मुझे दर्शन दो, मेरी सेवा ग्रहणकर मेरा जीवन सार्थक करो'। इसी प्रकार माँ-बाप को अन्नपूर्णा-विश्वनाथ का जीवन्त विग्रह मानकर प्राणप्रतिष्ठा और बोधन की सहायता से उनके भीतर अन्नपूर्णा-विश्वनाथ को प्रस्फुटित करना होगा। उनकी सेवा जिससे प्रकृत अन्नपूर्णा-विश्वनाथ की सेवा में पर्यवसित हो जाय इसकी चेष्टा करनी होगी। पति-पत्नी के भीतर हम आदर्श दम्पति का, भगवान के अर्द्धनारीश्वर रूप का चिन्तन करेंगे। ये सामने खड़े हों तो इनके भीतर उसी आदर्शयुगल का ध्यान करेंगे, आदर्श युगल का आवाहन करेंगे। इनके वचन अथवा शरीर-स्पर्श से भगवान का शब्द या स्पर्श अनुभव करने की चेष्टा करेंगे जिससे इनकी सेवा भगवत्-सेवा में पर्यवसित हो जाय। सर्वत्र विचारना होगा—'हे भगवान, मैं तो तुम्हारे प्रकृत स्वरूप की धारणा नहीं कर सकता, इसीसे तो तुम मेरे ग्रहण-योग्य माँ-बाप, भाई-बहन, पति-पत्नी के रूप में मेरे निकट समागत हो। तुम मेरी आँखें खोल दो जिससे मैं इनके कार्यकलाप के भीतर तुम्हारा दर्शन करने में, तुमको उपलब्ध करने में, समर्थ होऊँ और इनकी सेवा को तुम्हारी सेवा में पर्यवसित कर सकूँ। तुम मेरी दृष्टिशक्ति

को, अनुभवशक्ति को, शुद्ध और वर्धितकर इनके भीतर अपने को उपलब्ध करने का सामर्थ्य दो'।

पूजा में समय-विभाग—पूजा के विषय में समय-विभाग अनेकांश प्रकृतिगत है। दिन कार्य का, ज्ञान-चर्चा का, समय है; रात्रि विश्राम का, आनन्दास्वादन का, समय है। प्रभात और सन्ध्या को सन्धिकाल कहते हैं। प्रभात की गति अकार्य से कार्य की तरफ़ और सन्ध्या की गति कार्य से अकार्य की तरफ़ होती है। प्रातः जब हम सोकर उठते हैं तब हमारी प्रकृति महामाया मानो हमारी देह और मन की सब क्षति पूरणकर हमारी देह में शक्ति संचारकर, भगवान के प्रियकार्य साधन के लिए हमको संसार के कार्यक्षेत्र में भेज देती हैं। संध्या समय हम कार्यक्षेत्र से श्रान्त देह व क्लान्त मन होकर विश्राम के लिए फिर माँ के पास चले आते हैं। यह तत्त्व विचार करके हमारी प्रातः एवं सायंकाल की संध्यापूजादि में ऋषियों ने एक सुन्दर भेदभाव की व्यवस्था की है। दिन में दोपहर का समय हमारे कार्य की पूर्ण परिणति एवं अर्धरात्रि का समय हमारे विश्राम की पूर्ण परिणति सूचित करता है। इसके अनुसार भी हमारे कार्य और साधना में भिन्नता लक्षित होती है। कार्यक्षेत्र में जाने के लिए हमारे करणीय कार्य का स्वरूप, उसके लिए आवश्यक विषय और भाव का चिन्तन और जिससे कर्मफल भगवान को समर्पित हो जाय इसकी एक सुन्दर व्यवस्था देखी जाती है। विश्राम के समय हम मानो माँ की गोद में प्रत्यागत होकर, माँ के ऊपर सम्पूर्ण भार छोड़कर, माँ से मिल जाने का सुयोग पाते हैं।

अष्टकालीय लीला के आस्वादन द्वारा वैष्णव साधक भगवान के कार्यकलाप को आठ भागों में विभक्त कर, वे कब क्या करते हैं यह आस्वाद करने की चेष्टा करते हैं। श्रीकृष्ण जब अवतीर्ण हुए थे तब हमारे समाज और देश की कार्यप्रणाली जिस प्रकार अनुष्ठित होती थी, जीवकी शिक्षा के लिए आगत श्रीभगवान ने उसका स्वयं आचरण कर

जीव को शिक्षा देने की चेष्टा की। साधक अपने कार्य को भगवान के कार्य के अनुकूल कर अपने कार्य को भगवान के कार्य में पर्यवसित करने का सुयोग लाभ करता है। अपने कार्य को भगवान के कार्य में पर्यवसित करने की चेष्टा ही समस्त साधन-भजन का लक्ष्य है। इस समय हमारी कार्यप्रणाली में, विशेषतः पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव से, एक घोर परिवर्तन आ गया है। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण जिस समय जो कार्य करते थे उसकी संगति में अपने कार्य को अनुप्राणित करना अब प्रायः असम्भव हो गया है। तब भी हमने यथासम्भव एक सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है अर्थात् अपने कार्यकलाप को भगवान के कार्यकलाप के सहित मिलाकर अपने कार्य में उनका कार्य-तत्त्व उपलब्ध करने की, अपने कार्य को उनके कार्य में परिणत करने की, चेष्टा की है। उदाहरणार्थ, भगवान की पूर्वगोष्ठलीला और उत्तरगोष्ठलीला हमने भ्रमण के समय आस्वाद करने की व्यवस्था की है। आहार के समय की पूजा के भीतर जिससे हमारा आहार उनके आहार में पर्यवसित हो सके इस ओर दृष्टि रखी है और हमारी निद्रा जिससे समाधि में परिणत होकर निकुंजलीला आस्वादन में सहायक हो सके इस ओर भी दृष्टि रखी गयी है।

समवेत पूजा के अंगों को किसी विशेष सम्प्रदाय में सीमाबद्ध करने का सुयोग नहीं दिया गया है। हमारे व्यवहृत कृष्णादि शब्द सब धर्म के पुरुषोत्तमभाव के द्योतक हैं। जिससे बन्धु-बान्धवों को, यहाँ तक कि जीवमात्र को भगवद्-विग्रह में परिणत किया जा सके, हमारे सब कार्य पूजा में परिणत हो सकें, चिन्तन ध्यान में तथा निद्रा समाधि में, पर्यवसित हो सके, इस ओर दृष्टि रखी है। कहना अनावश्यक होगा कि यही आर्य-सभ्यता का प्रधान कथन है।

प्राचीन काल के ऋषि-मुनिगण, विशेषतः ऋषिपत्नियाँ, प्रातः उठकर सर्वप्रथम भगवान से प्रार्थना करते थे—'हे भगवान, रात को जब देह क्लान्त और मन अवसन्न हो गया था तो हम तुम्हारी क्रोड़ में जाकर

सो गये थे। तुम्हारी कृपा और स्नेह से हमारी देह की क्लान्ति और मन का अवसाद अब दूर हो गया है। अब हम तुम्हारे संसार में तुम्हारे आदेशानुसार तुम्हारे प्रियतम जीवों की सेवा में जाते हैं। तुम हमें देखते रहना, चलाना, विपरीत कार्य से रक्षा करना, हमारे जीवन में तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे'। स्नान के समय मन में कहते थे—'हे भगवान, जल से हमने स्थूल देह तो शुद्ध करली किन्तु यह जल हमारे मन के निकट तो नहीं पहुँच सकता, तुम अपने कृपा-वारिवर्षण द्वारा हमारे भीतर के सब तत्त्व पवित्र कर अपनी इच्छा-पूर्ति के, अपने जीवों की सेवा के, उपयुक्त करदो'। भोजन पकाते समय ऋषिपत्नियाँ प्रार्थना करती थीं—'हे भगवान, तुम्हीं तो हमारे तृप्तिविधान के लिए हमारे बन्धु-बांधवों के रूप में समागत हो। तुम जब तक इनके भीतर आत्म-प्रकाश करते हो तभी तक ये हमारे प्रिय उपास्य हैं। तुम्हारे अप्रकाश से हम इनको श्मशान की भस्म में परिणत करने को बाध्य होते हैं। तुम्हीं हमारे प्रकृत आत्मीय, प्रकृत प्रिय हो—यह तत्त्व उपलब्ध करने का सुयोग दो। हम तुम्हारे लिए ही भोजन पका रही हैं, हमारे यह अन्नादि तुम्हारे ग्रहणयोग्य हों एवं इनके भीतर तुम्हीं यह अन्नादि ग्रहण कर हमारे कार्य को सार्थक कर रहे हो—यह तत्त्व हम अन्तर में उपलब्ध कर सकें'। ऋषिगण किसी को उपदेश करते समय प्रार्थना करते थे—'हे भगवान, तुम हमारे मन और वाक्य द्वारा प्रकाशित होकर हमारे मुख से उपदेश प्रदान करो। हमारे मुख से वचन इस प्रकार उच्चारित हो जैसे तुम हो हमारे भीतर से बोल रहे हो'। सब कामों में यह उपलब्ध करने की चेष्टा होती थी कि भगवान ही हमारे भीतर बैठे कार्य कर रहे हैं, वही प्रकृत कर्ता हैं, हम निमित्तमात्र हैं। संध्या के पूर्व वे उपलब्ध करने की चेष्टा करते थे कि भगवान जैसे व्याकुल हुए उनको संसार के कर्मक्षेत्र से अपनी गोद में आकर विश्राम करने के लिए बुला रहे हैं। सारी रात भगवान का सान्निध्य उपलब्ध करने की चेष्टा करते थे।

प्रातः बिछौने से उठने के पूर्व पूजा--भगवान किस प्रकार मातृ-रूप धारण कर हमारी सब ग्लानि दूर कर हमारे भीतर शक्ति संचार कर देते हैं पहले यह तत्त्व उपलब्ध करना चाहिए। फिर 'ॐ तत्सत्' मंत्र उच्चारण करके भगवान ही जीव-जगद्रूप में परिणत अथवा विवर्तित हैं यह तत्त्व उपलब्ध कर सबके भीतर भगवान का अस्तित्व उपलब्ध करने की चेष्टा करनी चाहिए। इसके बाद 'ॐ तद् विष्णोः...........' इत्यादि मंत्र उच्चारणकर ऋषिगण भगवान का परम पद उपलब्ध करने की चेष्टा करते थे। तत्पश्चात् 'ॐ वाङ् में मनसि...........' इत्यादि मंत्र उच्चारण कर भगवान ही मुख्य कर्त्ता हैं, जीव केवल निमित्तमात्र है—उन यंत्री के हाथ में एक यंत्रमात्र है--यह तत्त्व उपलब्ध कर कई एक बार गायत्रीमंत्र जप की सहायता से अपने सब तत्त्वों को भगवत्-ज्योति से ज्योतिष्मान, भगवद्भाव से परिभावित, करने की चेष्टा करनी चाहिए। फिर 'हे विश्व-नाथ....' इत्यादि श्लोक पाठ कर कहना चाहिए—'हे भगवान, रात में तुम्हारी कृपा व तुम्हारे स्नेहस्पर्श से मेरी सब क्लान्ति और अवसाद दूर हो गये हैं। अब मैं तुम्हारे आदेशानुसार तुम्हारे प्रियतम जीवों की सेवा में संसार में जाता हूँ; कृपा करके मुझे देखते रहना, मुझे चलाना, मेरी रक्षा करना, मेरे जीवन में तुम्हारी इच्छा पूर्ण सफलता लाभ करे'। 'लोकेश चैतन्यमयाधिदेव' एवं 'जानामि धर्मं न च मे' इत्यादि मंत्र उच्चा-रण कर भगवान को इस देह का अन्तर्यामी चालक और स्वामी समझकर उनका मुख्य कर्त्तृत्व उपलब्ध करना चाहिए।

•

'ॐ गुरुभ्यो नमः, ॐ बान्धवेभ्यो नमः' इत्यादि मंत्र के भीतर हम सृष्टि के आदि काल से जितने ज्ञानदाता हुए हैं उन सब को एवं माता-पिता, बन्धु-बान्धव तथा समस्त जीव और देवताओं को—अर्थात् जिनके हम सम्पूर्णतः ऋणी हैं उनको—कृतज्ञताप्रकाशपूर्वक प्रणाम के द्वारा उन सब के मूलाधार श्रीभगवान को प्रणाम करने के लिए उपदिष्ट हैं।

इसके बाद 'मन्नाथः श्रीजगन्नाथः' एवं 'कृष्णं स्मरामि ममैकवल्लभं' इत्यादि मंत्र पाठ कर श्रीभगवान को प्रणाम करना चाहिए।

भ्रमण के समय पूजा—हमारा भ्रमण जिससे भगवत् परिक्रमा में पर्यवसित हो इसकी चेष्टा करनी होगी। प्रातः भ्रमण के समय भगवान की पूर्वगोष्ठलीला का और सायंकाल उत्तरगोष्ठलीला का चिन्तन कर चारों ओर के सब दृश्य पदार्थों में श्रीभगवान् का अस्तित्व और लीला-तत्त्व आस्वाद करना होगा। सुविधा हो तो 'श्रीमूर्त्तिदर्शन' के स्तव पाठ कर लिये जायँ। साधकों ने भ्रमण के समय, मेरुदंड के भीतर चढ़ने-उतरने के साथ साथ, नाम जप का भी विधान किया है। कोई कोई महात्मा यहाँ 'यो मां पश्यति सर्वत्र....' इत्यादि श्लोक का तत्त्व आस्वाद करने की चेष्टा करते हैं।

स्नान के समय पूजा—देह और चित्त शुद्ध हुए बिना भगवदुपलब्धि सम्भव नहीं; इसलिए हम अपने देह, चित्त तथा सब तत्त्वों को शुद्ध करने के लिए, अपने को भगवत्-प्राप्ति के योग्य बनाने के लिए, स्नान करने जा रहे हैं—यह तत्त्व मन में उपलब्ध करना होगा। तेल मलने के समय अनुभव करने की चेष्टा करनी होगी कि मेरे भीतर भगवान हैं, मैं उनके अंग में तेल मल रहा हूँ। स्नान करने जाते समय शुद्धितत्त्व के निर्दिष्ट कुछ श्लोकों का पाठ करना चाहिए। जल के निकट जाकर विष्णुस्मरण का मंत्र पढ़ना चाहिए। इस विषय में जल का तत्त्व चिंतनीय है। जल के भीतर कौन हैं अर्थात् जलरूप में कौन आगत हैं? ('रसोऽहमप्सु'—गीता ७ अ. ८ श्लोक द्रष्टव्य है) जल क्यों हमारी शुद्धि में सहायक होता है? देह को भगवान का मन्दिर समझकर स्नान के समय भगवत्-मन्दिर-मार्जन का रहस्य चिन्तन करना चाहिए।

आत्मेन्द्रियसमायुक्तं देहं श्रीहरिमन्दिरम्।
स्नानेन शोधनं तस्य विधेहि कृपया तव॥

'हे भगवान, जल की सहायता से मुझे अपनी स्थूल देह को शुद्ध करने का सुयोग मिला। जिससे जल में निहित सूक्ष्म तत्त्व मेरे देहस्थ सब तत्त्वों में प्रवेश कर उनको शुद्ध करने में समर्थ हों, इसकी दया करके तुम व्यवस्था करो। तुम मेरे भीतर स्थित हुए अपने सृष्ट किये हुए यंत्र का आगन्तुक मल दूर कर इसको अपनी उपलब्धि के योग्य एवं अपने प्रिय कार्य साधन में समर्थ करो।'

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

इस श्लोक का मर्म हृदयंगम करने की चेष्टा करनी चाहिए। स्नान के पश्चात् आब्रह्म-स्तम्ब पर्यन्त त्रिभुवन के समस्त जीवों की तृप्ति के लिए तर्पण करने का विधान है। इसके बाद 'असतो मा सद्गमय' एवं 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम' इन दो श्रुतियों का पाठ करना चाहिए और अन्त में 'सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु' आदि प्रार्थना मंत्र पाठ कर, सब जीवों के कल्याण की प्रार्थना कर और अपने को शुद्ध और ज्योतिर्मय चिन्तन कर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन की चेष्टा करनी चाहिए।

आहार के समय पूजा—श्रीभगवान ही अन्नरूप में समागत हैं। फिर वे ही हमारी इन्द्रियादि द्वारा अन्न ग्रहण कर तत्प्रदत्त देह की पुष्टि साधन करते हैं और इस देह को अपने प्रिय कार्य साधन के उपयुक्त कर अपनी इच्छापूर्ति में नियुक्त रखने की चेष्टा करते हैं, सर्वप्रथम यह तत्त्व चिन्तनीय है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

तत्पश्चात् इस अन्न को उनके ग्रहणयोग्य पवित्र कर लेना होगा। इसके बाद वे ही हमारे भीतर बैठे अन्न ग्रहण कर रहे हैं, यह तत्त्व चिन्तन कर और खाद्य पदार्थ भगवान को निवेदन कर सबको यह निवेदित प्रसाद वितरण करने की व्यवस्था है। सबको वितरण करने के बाद

जो बचे उसे भोक्ता को स्वयं ग्रहण कर तृप्ति बोध करनी होगी। अन्न को ब्रह्मभाव से परिभावित कर भगवान को निवेदन करने का विधान है। अन्ननिवेदन के भीतर निम्नलिखित तत्त्व चिन्तनीय हैं :—

(१) ॐ तत् सत्। ॐ उच्चारण करके चित्त को भगवत्समीप ले जाना चाहिए। फिर यह तत्त्व अनुधावन करना चाहिए कि वे ही जीवजगद्रूप में परिणत अथवा विवर्तित हैं।

(२) एतदन्नादिकं सर्वं ॐ अच्छिद्रमस्तु स्वाहा। अन्न पवित्र भाव से तैयार किया गया है और उसमें कोई अपवित्र पदार्थ तो नहीं है, इसकी परीक्षा करके और भगवान का नाम स्मरण करके अन्न को अमृत में परिणत करना चाहिए।

(३) ॐ अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा। ॐ अमृतपिधानमसि स्वाहा। यह अन्नादि ऊपर और नीचे (सब तरफ़) अमृत से परिभावित हो जाएँ और इसके फलस्वरूप यह शुद्ध अन्न हमारी भगवत्-प्राप्ति में सहायक हो।

(४) ॐ आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः। आहार के द्रव्य केवल स्थूल अन्न में सीमाबद्ध नहीं हैं, शब्द-स्पर्शादि जो कुछ मनोबुद्धि प्रभृति द्वारा ग्रहण किये जाते हैं वे सभी आहार्य हैं। 'आह्रियते मनसा बुद्ध्या इन्द्रियैर्यः स आहारः'—अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रियादि द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह सभी आहार है, यह व्याख्या समझ कर अपने सब तत्त्वों को शुद्ध कर सकने से हमारी आत्मा के सम्बन्ध में—भगवान के सम्बन्ध में—स्मृति जाग उठेगी। इसके बाद निम्नलिखित प्रणाली द्वारा मंत्रपाठ और भावना करनी चाहिए।

(क) मूलाधार में मन स्थिर करके—ॐ अन्नमयाय स्वाहा इदमन्नम्। हे भगवान, तुम इस देह की पुष्टि के लिए अन्नरूप में समागत हो, तुमको नमस्कार।

(ख) मणिपुर में चित्त स्थिर करके—ॐ प्राणमयाय स्वाहा एष प्राणः। यह अन्न रुधिर में परिणत होकर प्राण की पुष्टि साधन करे।

(ग) अनाहत में चित्त स्थिर करके—ॐ मनोमयाय स्वाहा एतन्मनः। यह रुधिर वीर्य में परिणत होकर मन के देवता की पुष्टि विधान करे।

(घ) विशुद्धाख्य में मन स्थिर करके—ॐ विज्ञानमयाय स्वाहा एतद् विज्ञानम्। यह वीर्य ओजस् में परिणत होकर विज्ञानमय कोश की तृप्ति विधान करे।

(ङ) आज्ञाचक्र में मन स्थिर करके—ॐ आनन्दमयाय स्वाहा एष आनन्दः। यह ओजस् सुधा में परिणत होकर आत्मा और परमात्मा की तृप्ति विधान करे।

यहाँ देहस्थ पंचकुण्ड में आहुति प्रदान कर प्रकृत पंच महायज्ञ का ध्यान करना विधेय है। देह में किस प्रकार एक परिणति साधित हो रही है (Process of Rectification) यह तत्त्व आस्वादनीय है।

[क] एतदन्नादिकं सर्वं ॐ परब्रह्मणे स्वाहा। यह अन्न हमारे देह की पुष्टि विधान करे।

[ख] एतदन्नादिकं सर्वं परमात्मने स्वाहा। इस अन्न का सारांश हमारी बुद्धयादि की पुष्टि विधान करे, देहयंत्र को भगवत्-कार्य साधन की योग्यता दान करे।

[ग] एतदन्नादिकं सर्वं ॐ नमो भगवते वासुदेवाय स्वाहा। इस अन्न का सारांश अमृत में परिणत होकर हमको भगवल्लीला आस्वादन की योग्यता प्रदान करे।

कोई कोई यह तीन मंत्र पृथक् पृथक् उच्चारण न करके केवल 'एतदन्नादिकं सर्वं ॐ ब्रह्मार्पणमस्तु' यह मंत्र उच्चारण करते हैं। 'हे भगवान, तुम्हीं अन्नादि रूप में हमारी देह रक्षा के लिए, हमारे शान्ति विधान के लिए, हमारे परम कल्याण के लिए उपस्थित होकर पुनः इन अन्नादि को हमारी इन्द्रियों के द्वारा अपने निकट ले जाकर हमारी अन्नादि-ग्रहण क्रिया को यज्ञ में परिणत करते हो। वस्तुतः तुम्हारा ही प्रदत्त अन्न तुम्हीं को

प्रदान करने से अमृत में परिणत हो जाता है मुझको यह तत्त्व समझने की बुद्धि दो'।

'सहयज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा' (गीता ३ अ० १० श्लोक) इत्यादि मंत्रों का सूक्ष्म भाव से विचार करने पर हम भगवान के सृष्टि रहस्य और जीवजगत् के परिपालन-रहस्य को एवं वे किस प्रकार सब की पूर्णता-प्राप्ति, भगवत्-प्राप्ति, में सहायक हैं इसको उपलब्ध करने का सुयोग पाते हैं। हम उनकी इस शुभेच्छा व शुभकार्य में बाधा देकर नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। हम अपने सभी कार्यों द्वारा भगवदिच्छा में बाधा न देकर उनकी इच्छा पूर्ण सफल करने में सचेष्ट हों, यही जीवयज्ञ अर्थात् नरमेधयज्ञ का प्रधान उद्देश्य है।

भगवान को निवेदन करने के बाद सब जीवों के लिए प्रसादरूप में कुछ अन्न रखकर अवशिष्ट अन्न स्वयं भोजन करने की व्यवस्था देखी जाती है।

ॐ आब्रह्मभुवनाल्लोका देवर्षिपितृमानवाः।
मया दत्तेन अन्नेन तृप्यन्तु भुवनत्रयम्॥

अर्थात् मेरा प्रदत्त अन्न समस्त देवताओं और समस्त जीवों का तृप्ति-विधान करे। यहाँ बलि-रहस्य-तत्त्व चिन्तनीय है!

स्वयं प्रसाद पाने के समय प्रथम पाँच ग्रास पंच प्राण में आहुति प्रदान करने के पाँच मंत्रों का पाठ करना विधेय है।

[क] ॐ प्राणाय स्वाहा। हे प्राण इस अन्न को रक्त में परिणत करो।

[ख] ॐ अपानाय स्वाहा। हे अपान, तुम अपक्व अन्न को मल-रूप में बाहर निकाल दो।

[ग] ॐ व्यानाय स्वाहा। हे व्यान, तुम रक्त को सब शरीर में चालित करो।

[घ] ॐ समानाय स्वाहा। हे समान, तुम जहाँ जितने रक्तादि की आवश्यकता है वहाँ उतना रक्तादि दान करो।

[ङ] ॐ उदानाय स्वाहा। हे उदान, तुम मेरे देहादि की परिणति व ऊर्ध्वगति में सहाय हो।

इसके बाद नमस्कार—

योऽयं देवोऽन्तरे तिष्ठन् पचत्यन्नं चतुर्विधम्।
येन दत्तमिदं सर्वं तस्मै परात्मने नमः॥
ॐ आविरावीर्म्मे एधि॥

हे ब्रह्मज्योति, तुम मेरे सब तत्त्वों को अपनी शक्ति से शक्तिमान् कर, अपने भाव से परिभावित कर, अपने प्रिय कार्य के अनुष्ठान में नियुक्त करो।

कार्यक्षेत्र में पूजा—हमारी देह के सब यंत्र भगवान ने बनाये हैं, सब यंत्रों में भगवत्-प्राप्ति के अनुकूल शक्ति निहित है। वे ही यंत्रीरूप में इन यंत्रों को चला रहे हैं। मैं निमित्तमात्र हूँ। हमें उचित है कि हम उदासीन भाव से स्वरूप में अवस्थित रहकर भगवल्लीला दर्शन करें। किन्तु अहंकार हमारे और भगवान के बीच में आकर हमें भगवान को देखने नहीं देता, भगवान को लीलोपलब्धि करने नहीं देता। इसलिए कोई भी काम करने से पहले मन ही मन यह प्रार्थना करना चाहिए।

यद् यत् कृतं हृषीकेश तत् सर्वञ्च त्वया कृतम्।
निमित्तमात्रं लोकोऽयम् इति मे निश्चला मतिः॥

जिस प्रकार अपने भीतर भगवत्-कर्तृत्व की उपलब्धि करनी होगी उसी प्रकार सब के द्वारा जो भगवान मेरे कल्याण के लिए मुझको सहायता करने में तत्पर हैं यह तत्त्व भी उपलब्ध करना होगा।

रात्रि की पूजा—प्राकृतिक नियमानुसार दिन कार्य का व ज्ञानचर्चा का समय है और रात्रि विश्राम का, मिलन का, प्रेमास्वादन का समय है। जब हम संसार के काम से क्लान्त व अवसन्न हो जाते हैं तब प्रकृति देवी

हमको विश्राम की ओर ले जाने के लिए व्यस्त होती हैं। उनके आवाहन से जीवजगत् के सभी प्राणी मानों माँ के निकट लौटने के लिए व्यस्त हो जाते हैं। वैष्णवगण उत्तरगोष्ठलीला द्वारा यह तत्त्व आस्वाद करते हैं।

साधकमात्र को सायंकाल होते ही भगवान का आवाहन (माँ की पुकार, कृष्ण की वंशीध्वनि) श्रवण करने की चेष्टा करनी चाहिए। भक्त (जीव) भगवान का कितना अपना है, जीव के लिए वे कितने व्याकुल हैं, भक्त के बिना जैसे भगवान रह ही नहीं सकते। साधकगण संसार का काम शेष कर भगवान के निकट भगवद्धाम लौट जाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं—उन्मादिनी राधा का भाव, गौरांगदेव की सायंकाल की व्याकुलता, आस्वाद करने की चेष्टा करते हैं। शाक्तगण शिशु-सन्तान के लिए माँ की व्याकुलता का तत्त्व चिन्तन करते हैं। इसके बाद शुद्धितत्त्व चिन्तनीय है। माँ मानो लड़के को स्नान कराके, शुद्ध कराके, लड़के का अवसाद व ग्लानि दूर करके तथा अपने भाव से परिभावित करके उसको अपनी गोद में बुला लेने के लिए व्यस्त हैं।

भगवान के निकट जाने के लिए सुमार्जित होना पड़ेगा। स्नान के द्वारा सब मलीनता, वासना-कामना, निजसुखस्पृहा, प्रतिष्ठामोह त्यागकर चित्त को कृष्ण-सुखैक-तत्पर करना पड़ेगा। अपने चित्त को भगवान का आवाहन करने के, भगवान को आनन्द देने के, उपयुक्त करना पड़ेगा। चित्त से सब कामना और संस्कार दूरकर चित्त को भगवद्-भाव से परिभावित करने की चेष्टा कर अन्याभिलाषिताशून्य करना पड़ेगा। भगवान हमारे हृदय में आविर्भूत होने के लिए एवं अवस्थान करने के लिए लुब्ध हों इस तरफ़ दृष्टि रखनी होगी। गायत्रीजप अथवा षट्चक्र-भेद इत्यादि की सहायता से चित्त को सहस्रार के तरफ़, भगवद्धाम के तरफ़, ले जाना होगा। सखियों के संग श्रीराधा का अभिसार एवं संकेत स्थान में जाने का तत्त्व यहां आस्वादनीय है। अपने स्वरूपतत्त्व ('अहं देवो न चान्योऽस्मि' एवं 'सत्यपि भेदापगमे नाथ' इत्यादि

श्लोक) की सहायता से भगवत्-स्वरूपतत्त्व (सखीतत्त्व, राधातत्त्व, कृष्ण-तत्त्व) एवं कुंजलीलारहस्य अथवा शाक्तों के लिए माँ की करुणावनत दृष्टि एवं सन्तान के लिए माँ की व्याकुलता का भाव हृदयंगम करने की चेष्टा करनी होगी।

इसके बाद वैष्णव साधकगण भगवान के रूप व गुण से लुब्ध होकर श्रीभगवान के वरणीय व लोभनीय स्वरूप की उपलब्धि करने की चेष्टा करते हैं। शाक्त साधकगण माँ के ऐश्वर्य, सौन्दर्य और माधुर्य का रहस्य चिन्तनकर आनन्द में विभोर हो जाते हैं। भगवान का रूप 'इतर-राग-विस्मरणम्' है; लोभ ही भगवत्-प्राप्ति में प्रधानतः सहायक है, स्वार्थ और सुखस्पृहा भगवत्प्राप्ति में कितनी बाधा डालते हैं एवं भगवान के बिना किसी तरह से काम चल ही नहीं सकता—यह तत्त्व आस्वाद करने की चेष्टा करनी होगी। यहाँ भगवत्-स्वरूप चिन्तन, भगवान का ध्यान, इत्यादि तत्त्व चिन्तनीय हैं।

तत्पश्चात् साधक न्यासतत्त्व की सहायता से यह तत्त्व आस्वाद करने की चेष्टा करता है कि भगवान ही सब कुछ हैं, वे ही सब कर रहे हैं, वे ही सब रूपों में और सब तत्त्वों में विराजमान हैं, उनको छोड़कर और कुछ भी नहीं है।

इसके बाद उपचारसमर्पण करते समय साधक देखता है कि भगवान ही तो वास्तव में मेरी सेवा कर रहे हैं, वे ही मुझको सब कुछ दे रहे हैं। उनको अर्पण करने के उपयुक्त मेरे पास कुछ भी नही है; यहाँ तक कि मेरी आत्मा भी उन्हीं का दान है। अपनी आत्मा को उनसे पृथक् समझने के कारण ही तो मेरा सब दुःखकष्ट है। तब साधक अपने व्यष्टि तत्त्वों की भगवान के समष्टि तत्त्व में आहुति देकर, समष्टिभावापन्न होकर, राधातत्त्व आस्वाद करने की चेष्टा करता है। तब साधक के निकट 'पर' कहकर कुछ नहीं रह जाता। सब के सुख में सुखी होने की चेष्टा के फलस्वरूप साधक भगवद्-भाव से परिभावित होने लगता है।

अब साधक गुरु-निर्दिष्ट विशिष्ट भाव (दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर) का चिन्तन करते करते, अपने इष्ट भाव से परिभावित होकर, उनसे तन्मयता लाभ करने की चेष्टा करता है। इष्ट के अतिरिक्त अन्य कोई भावना फिर उसके मन में नहीं आती। इष्ट की सेवा व तृप्ति-विधान के अतिरिक्त और कोई प्रार्थना उसके मन में नहीं उठती। तभी साधक के चित्त में अन्याभिलाषिताशून्या कृष्ण-सुखैकतत्परा भक्ति का स्फुरण आरम्भ होता है। याद रखना होगा कि साधना द्वैत भाव से आरम्भ होती है। साधक अनुभव करता है कि उसके और भगवत्तत्त्व के अतिरिक्त और सब तत्त्व लुप्त हो गये, केवल ध्याता और ध्येय रह गये और ध्यान अबाधितरूप में हो रहा है।

इसके फलस्वरूप विशिष्टाद्वैत भाव उत्पन्न होता है—मैं देह हूँ वे आत्मा हैं, मैं यंत्र हूँ वे यंत्री हैं। क्रमशः अनुभव में आता है कि वे ही मेरे सब कुछ हैं, मेरे अन्तर्यामी चालक हैं वे जिस ताल और जिस सुर में इस देह यंत्र को चलाना चाहते हैं उसी ताल और उसी सुर में चलना इसकी चरम सार्थकता है। पहले बताया गया है कि रात्रि लययोग एवं दिन राजयोग आस्वाद करने का समय है। शाक्त साधकगण इस स्थान में समस्त कल्पित भेदभाव दूरकर माँ को पूर्णतः आत्मनिवेदन कर, माँ की अभय गोद में पूर्णरूप से विश्राम लाभ करने की चेष्टा करते हैं। अष्टकालीय लीला की सहायता से, राधाकृष्ण की निकुंजलीला तत्त्व द्वारा, यह लययोग पूर्ण परिणति लाभ करता है। यह तत्त्व केवल उन्नत साधकगण महानिशा की साधना द्वारा आस्वाद कर सकते हैं। राधाकृष्ण की लीला का तत्त्व आस्वाद करना ही साधक के ध्यान का विषय है। राधातत्त्व समष्टिभावापन्न है—सखियाँ उसकी कायव्यूहमात्र हैं। निकुंज लीला में प्रवेश करने के समय राधारानी अपने समस्त कायव्यूह को अपने भीतर संहतकर ह्लादिनी शक्ति के पूर्ण विकाशरूप में आत्मप्रकाश करती हैं। तब अवशिष्ट रह जाता है कृष्णतत्त्व और उसका स्फुरणमात्र राधा-

तत्त्व। राधा एकबार कृष्ण में लीन हो जाती हैं और फिर कृष्ण से अलग हो जाती हैं। इस लीला के परिणामस्वरूप राधा सम्पूर्णतः कृष्णमय होकर कृष्ण में लीन हो जाती हैं। यह तत्त्व आस्वाद करने के लिए साधक को पहले सखीभाव से परिभावित होकर, अपने सब तत्त्वों को प्रथमतः सखीतत्त्व में तत्पश्चात् राधातत्त्व में आहुति देकर, फिर समष्टि भाव (राधाभाव) में स्थिर होकर, राधातत्त्व का ध्यान कर उसमें तन्मयता लाभ करनी होगी। राधाभाव में तन्मयता लाभ किये बिना रात्रि की पूजा (निकुंजलीला का रहस्य) आस्वाद करने की योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती। कोई कोई साधक हवन-तत्त्व की सहायता से समष्टिभावापन्न होकर अर्थात् अपने व्यष्टि अन्नमयादि पंचकोश को समष्टिगत अन्नमयादि पंचकोश में आहुति देकर, विशिष्टाद्वैत तत्त्व आस्वाद करने की चेष्टा करते हैं। इसके बाद नीचे के तत्त्वों को एक एक करके ऊपर के तत्त्वों में आहुति देकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तत्त्व उपलब्धकर पूर्ण अखंड अद्वय तत्त्व में प्रतिष्ठा लाभ करते हैं। अर्थात् अपने समष्टिगत अन्नमयादि कोश को क्रमानुकूल ऊपर के समष्टिगत तत्त्वों में आहुति देकर, सर्वव्यापी आत्ममय होकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तत्त्व आस्वाद करने की योग्यता लाभ करते हैं। इसके फलस्वरूप राधारानी किस प्रकार अपने को सम्पूर्णतः कृष्ण में आहुति देकर कृष्णमय हो जाती हैं, यह तत्त्व 'विश्वं जुहोमि वसुधादि-शिवावसानम्' द्वारा आस्वाद करने की चेष्टा करते हैं। रात्रि की पूजा (महानिशा की पूजा) निकुंजलीलास्वादन का नामान्तरमात्र है। याद रखना होगा कि स्वयं राधाभाव से परिभावित हुए बिना साधक के लिए निकुंजलीला आस्वाद करना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है।

पहले ही बता दिया गया है कि हमारी यह पूजा किसी सम्प्रदाय में सीमाबद्ध नहीं है। राधाकृष्णतत्त्व सर्वत्र सब सम्प्रदायों के इष्ट तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
(१०)	१०	सुतरा	सुतरां
१	१०	भावोंके	भावोंका
८	३	सभर्थ	समर्थ
१४	६	मनः	नमः
२१	१६	नाचे	नीचे
२१	२६	निदिष्ट	निर्दिष्ट
२२	२५	ववियों	कवियों
२७	६	क्कवन	क्कचन
३१	१२	इद्रियों	इन्द्रियों
३१	२०	सर्वभूर्त	सर्वभूत
४८	१५	बुद्धि	शक्ति
५६	४	वजितः	वर्जितः
५८	१४	मातृमर्वस्व	मातृसर्वस्व
५९	३	(Principle)	(Principle का)
७१	१३	कर्त्त त्व	कर्तृत्व
७५	१	तत्त्ववित्त	तत्त्ववित्तु
७८	१७	सका	इसका
८६	१३	पूणता	पूर्णता
८९	२२	कुमरी	कुमारी
९०	१७	वृतन्तु	कृतन्तु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१००	२	दशितं	दर्शितं
१००	२	तस्म	तस्मै
१०५	२	सव	सर्वं
११८	२	मजु	मंजु
१२१	१५	थले	स्थले

परिशिष्ट

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
14	4	उनका	उनकी
18	19	करत	करती
32	21	अतन्द्रिय	अतीन्द्रिय
36	1	व्याष्ट	व्यष्टि
40	24	नरस	नीरस
48	15	जावन	जीवन
72	15	तत्र	यत्र
72	17	ब्रह्मदर्शॆन	ब्रह्मदर्शन
82	23	अन्तरग	अन्तरंग
86	24	निवाण	निर्वाण
97	17	सर्वाचस्तर	सर्वोच्चस्तर
100	1	भगवत्काय	भगवत्कार्य
102	2	से	में
124	2	सधना	साधना
132	18	घम	धर्मों